॥ श्री ॥

सूर-पंचरत्न

(सटिप्पण तथा सचित्र)

—: ❀ :—

संकलयिता

स्वर्गीय ला० भगवानदीन 'दीन'

पं० मोहनवल्लभ पन्त, बी० ए०

—: ❀ :—

प्रकाशक

रामनारायण लाल

प्रकाशक तथा पुस्तक-विक्रेता

इलाहाबाद

समर्पण

लखिये सूर ढिठाई मेरी ।
तुम्हरिय वस्तु तुमहिं अरपत हौं, लेहु करहु जनि देरी ॥
निज जन जानि चूक छमिये प्रभु करिय न आँख करेरी ।
ऐसो करौ कि मो मति-नटिनी बनी रहै पद चेरी ॥
है आसा निज दास मानि तुम करिहौ कृपा घनेरी ।
तुम समान कोमल चित प्रभु तजि तकौं पौंरि केहि केरी ॥
या करतूति करी या कारन फिरि बाजै जस-भेरी ।
काव्य कौमुदी मंद परी कछु चमकै तासु उजेरी ॥
तुम अपनायो तबहि जानिहौं, कहे देत हौं टेरी ।
'दीन' हिये घनस्याम-भगति को घटा रहै नित घेरी ॥

'दीन'

महात्मा सूरदास जी

(काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा के चित्र-संग्रह से)

पुस्तक-सूची

कवि-परिचय

महात्मा सूरदासजी सारस्वत ब्राह्मण थे। इनके पिता श्रीरामदासजी आगरा-मथुरा की सड़क पर स्थित 'रुनकता' नामक ग्राम के निवासी थे। उसी ग्राम में संवत् १५४० के लगभग इनका जन्म हुआ प्रतीत होता है। सूरदास (सूर्यदास या सूरजदास) जन्म से ही अंधे न थे, यह बात उनकी कविता से प्रमाणित हो सकती है। पढ़-लिख कर कवि हो जाने के बाद इनका अंधा होना मानने में कोई हर्ज नहीं। अंधे हो जाने पर जब कोई काम करने योग्य न रहे तब ये गऊघाट में (जो मथुरा और आगरे के बीच में है) रहने लगे। ईश्वर संबंधी भजन गाकर पथिकों को सुनाते और जो कुछ उनसे मिल जाता उसी पर मस्त रहते। इनका विवाह हुआ और इनके कोई संतान थी वा नहीं, इन बातों का कोई पुष्ट प्रमाण हमें अब तक नहीं मिला। एक बार श्री वल्लभाचार्यजी वहाँ गए थे और जब भेंट होने पर इनके पद सुनकर बहुत प्रसन्न हुए तब इन्हें अपने साथ व्रज में लाए। सूरदास जी उनके चेला हुये और उनकी आज्ञा के अनुसार उनके ठाकुरजी के सामने होने वाले नित्यसंकीर्तन में प्रधान गायक समझे जाने लगे। श्रीवल्लभाचार्य के पुत्र श्री स्वामी विट्ठलनाथ जी ने इन्हें 'अष्टछाप' के कवियों में प्रधानता दी। इन्हीं दोनों आचार्यों की शरण में रह कर 'सूर' ने वह काव्यरस बरसाया कि रसिकों को आप्लावित कर दिया, अपना नाम अमर और व्रजभाषा का सिर सदा के लिये ऊँचा कर गए। 'साहित्य-लहरी' और 'सूरसागर' ये दो ग्रंथ प्रामाणित मानने योग्य हैं। सं० १६२०. के लगभग 'पारासोली' नामक ग्राम में इनका शरीर छूटा। मरते समय स्वामी विट्ठलनाथ जी भी वहीं मौजूद थे ऐसा कहा जाता है।

वक्तव्य

इस संग्रह को यूनीवर्सिटियों ने पसंद किया, अत: इसका यह दूसरा संस्करण निकला। इसके हेतु हम कृष्ण भगवान को धन्यवाद देते हैं और कद्रदानों के आभारी हैं।

इस संग्रह में ऐसे ही अंशों से मनमाने पद संग्रह किये गये हैं जिन अंशों को हमने नवयुवकों के सामने रखने योग्य समझा है। इसे युवक और युवती दोनों पढ़ सकते हैं। न तो इसमें शृंगार रस का अभाव ही है और न घोर शृंगार की भरमार ही। कोई पढ़े, किसी को पढ़ावे कोई संकोच नहीं हो सकेगा। हमने अपनी शक्ति भर ऐसा उद्योग किया है जिससे हमारे प्रिय विद्यार्थिगण यह समझ सकें कि सूरदासजी क्या थे, और उन्होंने क्या किया है।

इस संग्रह के कार्य में हमें अपने दो शिष्यों—मोहनवल्लभ पंत और विश्वनाथ प्रसाद मिश्र—से बहुत अधिक सहायता मिली है। इन दोनों शिष्यों को हमारे दोनों हाथ व दोनों नेत्र ही समझना चाहिये, अत: हम गुरु के नाते, आशिष देते हैं कि कृष्ण भगवान इन पर ऐसी कृपा करें कि ये संसार में उत्तम साहित्य-सेवा करते हुए अमर कीर्ति और उच्च प्रतिष्ठा प्राप्त करें।

सूरसागर के कई एक संग्रह मौजूद रहते भी हमने यह संग्रह क्यों प्रस्तुत किया, इसमें हमने कौनसी विशेषता की है, य

अच्छा हुआ है या नहीं इत्यादि बातें, कहने का हमें कोई अधिकार नहीं, यह तो समालोचकों का काम है, कुछ दिनों में ये बातें मालूम होंगी, पर इतना अवश्य निवेदन कर देना चाहते हैं कि यदि इस प्रकार के संग्रह पाठकों को रुचे तो हमारा मार्ग निर्द्धारित हो जायगा और हम 'केसव-पंचरत्न' 'पद्माकर-पंचरत्न' इत्यादि लिखने का उद्योग करेंगे। और यदि न रुचा वा समालोचकों ने कुछ त्रुटियाँ बतलाईं तो उससे लाभ उठाकर हम पुनः अपना नया मार्ग निर्द्धारित करेंगे।

कृष्णाष्टमी
सं० १९८४
काशी

विनीत
भगवानदीन
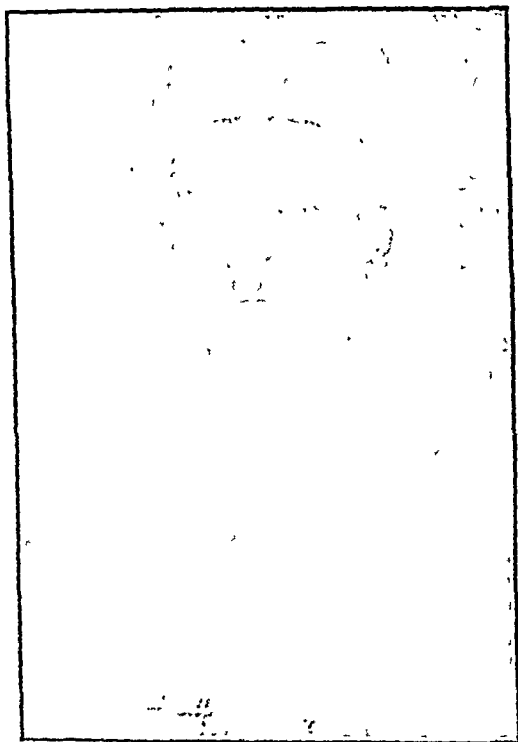
लाला भगवानदीन

कविवर लाला भगवानदीन

का

परिचय

लाला भगवानदीनजी का जन्म बड़ी तपस्या के उपरान्त हुआ था। इनकी माता ने इनके ऐसे पुत्र-रत्न की प्राप्ति के लिये भगवान् भुवन-भास्कर का बड़ा कठोर व्रत किया था। अधिक अवस्था हो जाने पर भी कोई संतति न होने से इनके पिता मुंशी कालिकाप्रसादजी बड़े चिंतित रहा करते थे, पर एक साधु के आदेशानुसार उन्होंने अपनी पत्नी को रविवार के दिन उपवास करने और सूर्य को अखंड दीप-ज्योति दिखलाने की आज्ञा दी। ज्येष्ठ मास की कड़ी धूप में वे उदयोन्मुख सूर्य की ओर प्रज्वलित घृत-दीप लेकर खड़ी हो जाया करतीं, और ज्यों-ज्यों सूर्य भगवान् आकाश में पूर्व से पश्चिम की ओर बढ़ते जाते वे भी उनका ही अनुगमन करके उनके सम्मुख दीप-ज्योति दिखाती रहतीं। संध्या समय पूजनोपचार के पश्चात् वे उसी स्थान पर रात्रि में शयन भी करतीं। दो रविवारों तक तो उन्होंने यह घोर व्रत बड़ी सहिष्णुता के साथ किया, पर तीसरे रविवार को वे चक्कर आ जाने से गिर पड़ीं।

इस कठिन तपोव्रत का फल यह हुआ कि संवत् १९२३ विक्रमीय की श्रावण शुक्ला छठ को उन्होंने पुत्र-रत्न प्रसव किया। भगवान् (सूर्य) का दिया हुआ समझ कर पुत्र का नाम "भगवानदीन" रखा गया। आप अपने माँ बाप की एकलौती संतान थे, और बड़े लाड़ प्यार से पले थे।

'दीन' जी के पूर्वपुरुष श्रीवास्तव दूसरे कायस्थ थे और उन्हें नवाबी के जमाने में 'बख्शी' की उपाधि मिली थी। वे लोग पहले रायबरेली में रहा करते थे किन्तु सन् सत्तावन वाले विद्रोह के समय उन लोगों ने अपना निवास स्थान छोड़ दिया और रामपुर में जा बसे। वहाँ से वे फतेहपुर शहर में कोई दस कोस की दूरी बहुवा नामक कस्बे के पास "बरवट" नाम के एक छोटे से गाँव में बस गए। इसी गाँव में 'दीन' जी का जन्म हुआ था।

'दीन' जी के पिता साधारण स्थिति के मनुष्य थे इस कारण उन्होंने घर पर ही लड़के को पढ़ाना आरम्भ किया। कायस्थ होने के कारण 'बिस्मिल्लाह' उर्दू और फारसी से ही हुआ। ग्यारह वर्ष की अवस्था में इनकी स्नेहमयी माता का गोलोकवास हो गया। जीविकावश इनके पिता बुन्देलखण्ड में रहा करते थे। इसलिए वे पुत्र को भी अपने साथ लेते गए। ये अपने फूफा के यहाँ फारसी पढ़ने लगे, पर चार वर्ष पश्चात् ये फिर घर भेज दिये गए। वहाँ दो वर्ष तक मदरसे में पढ़ते रहे और घर पर अपने दादा से हिन्दी भी सीखते रहे। सत्रह वर्ष की अवस्था में ये फतेहपुर के हाईस्कूल में भरती किए गए। मिडिल पास करने के बाद इनका विवाह भी कर दिया गया था। सात वर्ष में एंट्रेंस पास कर लेने पर ये प्रयाग की कायस्थ-पाठशाला में कालेज की शिक्षा प्राप्त करने के लिये भेजे गए। इनके पिता ने इनकी देख-रेख का भार अपने घनिष्ठ मित्र "पुत्तू सुनार" को सौंप दिया था, जो बड़ी सावधानी और विश्वास-पात्रता के साथ 'दीन' जी को शिक्षा दिलाते थे। इनका पहला विवाह तक 'पुत्तू बाबू' ने ही कराया था, पिताजी दूर रहने के कारण शीघ्रता में वहाँ पहुँच ही नहीं पाए।

'पुत्तू बाबू' ने 'दीन' जी को अपनी गृहस्थी का भार सँभालने की आज्ञा दी। तदनुसार ये पढ़ते भी थे और

गृहस्थी सभालने का प्रयत्न भी करते रहते थे इसीसे एफ० ए०
के आगे 'दीन' जी की पढ़ाई न चल सकी। अंत में ये कायस्थ-
पाठशाला में अध्यापक हो गये। डेढ़ साल के अनंतर ये
प्रयाग के ही 'गर्ल्स हाईस्कूल' में फ़ारसी की शिक्षा देने लगे।
चित्त न लगने के कारण छः मास पश्चात् ये छतरपुर (बुन्देल-
खण्ड) में 'महाराजा हाईस्कूल' में सेकेंड मास्टर होकर चले
गए। वहाँ जाने पर इनकी स्त्री का देहान्त हो गया। इनका
दूसरा विवाह कसबा शादियाबाद (गाजीपुर) मुन्शी परमेश्वर
दयाल साहब की पुत्री से हुआ और इन्हें अपनी दुसरी स्त्री को
साथ ही रखना पड़ा। इनकी दूसरी पत्नी प्रसिद्ध कवियित्री
'बुन्देलाबाला' थीं। 'दीन' जी ने स्वयं इन्हें कई ग्रन्थ पढ़ाये थे,
जिनमें 'बिहारी-सतसई' मुख्य थी।

लालाजी के दादा बड़े राम-भक्त और रामायण-प्रेमी थे। वे
इनसे नित्य रामायण का पाठ सुना करते थे। 'दीन' जी का
रामायण के प्रति तभी से अनुराग हो गया था। इन्होंने रामायण
के सुन्दरकाण्ड की शिक्षा अपने पूज्य पिताजी से ही पाई थी। वे
भी परम भगत थे। यद्यपि हिन्दी का ज्ञान इन्हें पर्याप्त हो गया
था, पर अभी पूरी विद्वत्ता प्रस्फुटित न हुई थी। इनका अनुराग
कविता की ओर लड़कपन से ही था पर उसका परिमार्जन
आवश्यक था। छतरपुर में इन्होंने अपने मित्रों के अनुरोध से
कविता सम्बन्धी दो सभायें स्थापित कीं—पहली 'कवि-समाज'
और दूसरी 'काव्य-लता'। साथ ही 'भारती-भवन' नामक
एक पुस्तकालय भी स्थापित किया। ये तीनों स्थान काव्य चर्चा
के अड्डे थे। उक्त दोनों सभाओं में नौसिखुए कवि कविता करके
सुनाया करते थे और पं० गंगाधर व्यास उनका संस्कार कर
दिया करते थे। प्रायः समस्या-पूर्तियाँ पढ़ी जाती थीं। व्यासजी
से इन्होंने रामायण और अलंकारों का भी अध्ययन किया था।
उर्दू में 'दीन' जी पहले से ही कविता किया करते थे। और

अपना उपनाम 'रोशन' रखते थे। अब हिन्दी में भी इनकी काव्य-प्रतिभा चमक उठी। इन्होंने कई छोटी-मोटी काव्य-पुस्तकें लिख डाली जिनमें से 'भक्ति-भवानी' और 'रामचरणांक माला' विशेष उल्लेखनीय हैं। पहली पुस्तक पर इन्हें कलकत्ते की 'बड़ाबाजार लाइब्रेरी' ने एक-स्वर्ण-पदक प्रदान किया था। जो अब तक उनकी स्त्री के पास मौजूद है।

कुछ दिनों बाद छतरपुर से भी 'दीन' जी का मन उचट गया। वस्तुतः ये एक विस्तृत साहित्य-क्षेत्र में कार्य करने के अभिलाषी थे, अतः ये काशी चले आए। यहाँ के सेंट्रल हिन्दू कालेज में फ़ारसी के शिक्षक हो गये और नागरी प्रचारिणी सभा में प्राचीन-काव्य-ग्रन्थों का संपादन भी करने लगे। इस समय इन्होंने प्रसिद्ध वीर-काव्य 'वीर-पंचरत्न' के लिखने में हाथ लगाया था, जिसके लिखने का अनुरोध बुन्देलावाला ने किया था। कुछ दिनों के पश्चात् जब नागरी-प्रचारिणी सभा 'हिन्दी-शब्द-सागर' बनवाने लगी, तब ये भी उसके उपसंपादक चुने गए। बहुत कुछ काम हो चुकने पर इन्होंने अपनी स्पष्टवादिता के कारण संपादन से हाथ खींच लिया। जब हिन्दी-शब्द-सागर छप कर पूरा हो गया तब सभा की ओर से इन्हें इनाम मिला है। इस कार्य से छूटने पर ये हिन्दू-विश्वविद्यालय में हिन्दी के लेकचरर हो गए, जहाँ ये अन्त तक रहे।

काशी में इन्होंने हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन की परीक्षाओं को प्रोत्साहन देने के लिये 'हिन्दी-साहित्य-विद्यालय' की स्थापना की। कुछ दिनों के लिये गया भी गए थे और वहाँ की प्रसिद्ध पत्रिका 'लक्ष्मी' का संपादन भी किया था। अन्त में ये काशी में स्थायी रूप से रहने लगे और यहीं आपका 'काशी-वास' भी हो गया। अन्तिम दिनों में ये अपने गाँव "बर-वट" गए हुए थे। वहीं से आपके बाएँ अंग में एक प्रकार का जहरबाद (Erysipelas) हो गया था। बाईस दिनों की विकट

वेदना के बाद ता० २८ जुलाई सन् १९३० ई० सं० १९८७ के श्रावण मास की शुक्ल तृतीया को आपने अपने 'हिन्दी-साहित्य-विद्यालय' में शरीर छोड़ा। अब इस विद्यालय के कार्यकर्ताओं ने आप ही के नाम पर इस विद्यालय का नाम "भगवान दीन साहित्य विद्यालय" रखा है।

लालाजी हिन्दी के बड़े भारी काव्य-मर्मज्ञ थे। इनकी प्रतिभा सर्वतोन्मुखी थी। ये कवि, लेखक, समालोचक, संपादक, अध्यापक और व्याख्याता भी थे। इन्होंने कितने ही ग्रन्थ रचे हैं। केशवदास के दुर्बोध ग्रन्थों की सरल टीकाएँ लिखी हैं और रीति ग्रन्थ बनाये हैं। इनके ग्रन्थ में से प्रसिद्ध पुस्तकों के नाम ये हैं, 'वीर-पंचरत्न', 'नवीन बीन', 'केशव-कौमुदी', 'प्रिया-प्रकाश', 'विहारी-बोधिनी', 'तुलसीदास के ग्रन्थों की टीका', 'सूक्ति-सरोवर', 'सूरपंचरत्न', 'केशवपंचरत्न', 'अलंकार-मंजूषा', 'व्यंगार्थ मंजूषा' आदि इनके संपादित ग्रन्थ तो बीसियों हैं। फुटकर कविताएँ इन्होंने बहुत लिखी हैं, जिनमें से थोड़ी-बहुत समय समय पर पत्रिकाओं में प्रकाशित हुआ करती थीं। इधर ये 'मित्रादर्श' और 'महाराष्ट्र देश की वीरांगनाएँ' नामक दो बड़े काव्य लिख रहे थे, पर वे अब अधूरे पड़े हैं।

लालाजी बड़े सीधे सादे; उद्योगशील, सत्यवादी, निष्कपट, स्पष्टवादी, सच्चरित्र और स्वस्थ शरीर के पुरुष थे। वृद्धावस्था में भी 'दीन' जी जो इतना अधिक साहित्यिक कार्य कर रहे थे, इसका मुख्य कारण इनका स्वास्थ्य था। अपने जीवन-भर में लम्बी बीमारी इन्हें दो ही बार भोगनी पड़ी। एक बार इन्हें क्षय-रोग हो गया था, जो बहुत दिनों में अच्छा हुआ और दूसरी बार जहरबाद हुआ, जो शरीर के साथ ही गया। लालाजी के कोई सन्तान नहीं है। काशी आने पर बुंदेला बालाजी के शरीरांत हो जाने पर लालाजी ने उन्हीं की बहन से तीसरी शादी की, जिन्हें ये

विधवा करके छोड़ गए हैं। लालाजी के एक पुत्र हुआ था जो दस मास के बाद मर गया। पहली शादी जो केसवाह जि० हमीरपुर में हुई थी, उससे एक लड़की भी थी जो ब्याही जाने के कुछ दिनों बाद मर गई। उससे दो संतानें थीं वह भी अब नहीं रहीं।

काशी
गुरु पूर्णिमा, सं० १९८९

चन्द्रिका प्रसाद
मैनेजर
साहित्यभूषण कार्यालय

श्रीकृष्णायनमः

अन्तर्दर्शन

१—भक्ति-काव्य

संसार जटिल समस्याओं का आगार है, दुःखमय कारागार है। इस जड़ जगत में सुख का नाम नहीं। धन, जन, सहाय्य, संपत्ति, पद-मर्याद, विद्या, यश, सब झूठे। इस संसार-मरूस्थल में समस्त प्राणी सुखप्राप्तरूपी मृगतृष्णा की खोज में भटकते फिरते हैं। सभी यथासाध्य सुखोपार्जन के प्रयास में लगे रहते हैं, लेकिन सब प्रयत्नों का, सब साधनाओं का परिणाम होता क्या है, केवल हाहाकार! विधाता की सृष्टि द्वन्द्वमय है। एक ओर सुख है तो दूसरी ओर दुःख, एक ओर पुण्य है तो दूसरी ओर पाप, एक ओर स्वर्ग है तो दूसरी ओर नरक। इसी प्रकार आदि-अन्त निन्दा-स्तुति, संपति-विपत्ति, उन्नति-अवनति, सत्य-असत्य, धर्म अधर्म, आदि विरोधी भावों में ही इस संसार की स्थिति है अथवा यों कहिये कि संसार इन दो विरोधी भावों की समष्टि है। दिन और रात की तरह पर्याय से इनका यातायात लगा ही रहता है। इनमें से एक भाव मानव हृदय को प्रिय होता है तो दूसरा अप्रिय। परमात्मा ने यदि सब शुभ ही शुभ बनाया होता तो अशुभ का अस्तित्व कहाँ। बिना सुख का अनुभव किये दुःख, अथवा दुःख का अनुभव किये बिना सुख कैसा! ईख का रस कितना मीठा होता है, इस बात का ज्ञान किंवा अनुभव किसी व्यक्ति को तब तक अच्छी तरह नहीं हो सकता जब तक उसने नीम की कटुता का अनुभव न किया हो। इस अपार संसार सागर में गोता लगाने से सुख-

दुःख का अनुभव प्रत्येक प्राणी को होता है। अब प्रश्न यह उठता है कि सुख और दुःख वास्तव में है क्या ? अथवा संसार में जितने रोगों, शोकों, दुःखों, पापों आदि का अस्तित्व है उनका मूलस्रोत क्या है ? वे कहाँ से उत्पन्न तथा कहाँ विलीन होते हैं ?

पहिले प्रश्न का सीधा-सादा उत्तर तो यही है कि एक का अभाव ही दूसरे का भाव है। अर्थात् दुःख का अभाव होना ही सुख है और सुख की हानि ही दुःख है। दोनों एक साथ रह नहीं सकते। इसी प्रकार हम अन्य परस्पर भावों के विषय में भी कहते हैं कि "एक का अभाव ही दूसरे का भाव है"। असार संसार ! वास्तव में तेरे पदार्थों में कुछ सार नहीं होता, कुछ गुणागुण नहीं होते, तो भी मनुष्य अपनी भावना से जो चाहता है समझ लेता है। जिस वस्तु पर अनुराग हुआ जी ललचाया, कहने लगे कि यही अनोखी है, यही सरल है; इससे बढ़कर संसार में सुखप्रद और कोई वस्तु नहीं। जिसपर अभिरुचि न हुई, जिस ओर मन आकृष्ट न हुआ, बस वही नीरस, दुःखद और मनोवेधक हो गई। पर सच पूछो तो दुःख वा सुख कुछ है नहीं। केवल मनुष्य की कल्पना मात्र है।

मनुष्य-जीवन बड़ी ही दुःखमय वस्तु है, उसपर से वासना, कामना आदि जीवन को और भी दुःखमय बना देती हैं। हमारी वासनाओं का अन्त नहीं। हमारे विचार-सागर में एक के बाद दूसरी, दूसरी के बाद तीसरी कामना की तरंगे उठती और विलीन होती रहती हैं। ज्योंही एक इच्छा पूर्ण होती है, दूसरी इच्छा झट हमारे ऊपर अपना अधिकार जमा लेती है। इस प्रकार वासनाओं के बोझ से हम इतने दबे रहते हैं कि किसी अभिलषित वासना की पूर्ति हो जाने पर भी हम पूर्णतया उसका सुख भोग नहीं सकते। क्योंकि हमारी आँखों के सामने एक दूसरी कामना नाचने लगती है जो हमको प्राप्त पदार्थ के उपभोग से संतुष्ट नहीं होने देती। उस समय भी हमको अपना सुख अपूर्ण जान पड़ता है। प्रथम अभिलषित पदार्थ को पाने के लिये हमने जो सिरतोड़ परिश्रम किया था वह भी आगामी अभिलाषा के अभाव में व्यर्थ जँचता है। दुःखों का

मूल स्रोत—आदि कारण—वासना ही है। वासना और तृष्णा शब्द प्रायः समानार्थवाची से हैं। इस तृष्णा के कारण मनुष्य का चित्त किसी एक ठिकाने पर नहीं रहता। ज्यों-ज्यों एक वासना की पूर्ति होती जाती है दूसरी वस्तु की तृष्णा उसको विकल कर देती।* यह तृष्णा मनुष्य को उन्मत्त बना देती है, इसी से कविकुलगुरु श्रीगोस्वामी तुलसीदास जी कहते हैं—

'तृसना केहि न कीन्ह बौराहा।'

सच है, इस डाकिनी ने किसी भी मनुष्य को अपने चंगुल से नहीं छोड़ा। इसी से हम संसार में इधर भी दुःख उधर भी दुःख जिधर देखो उधर दुःख ही दुःख देख पाते हैं। सर्वत्र दुःख का ही साम्राज्य है, दुःख का ही बोलबाला है।

तो क्या इन दुःखों से छुटकारा पाने का कोई उपाय भी है या नहीं? है, अवश्य है, और वह उपाय हमने कोई नया आविष्कृत नहीं किया। हमारे पूज्यपाद ऋषि-महर्षियों ने संसार के दुःखों से उन्मुक्त होने का एक मात्र उपाय यही बताया है कि दुःखों के हेतुभूत वासनाओं का ही मूलोच्छेद कर देना चाहिए। कैसा अमोघ उपाय है? जड़ ही नष्ट हो गई तो अंकुर कैसा? स्रोत ही सुखा दिया जाय तो प्रवाह कैसा? हमारे मन में वासनाएँ ही न रहेंगी तो दुःख, क्लेश आदि पैदा ही कहाँ से होंगे? वासना निवृत्ति के साथ ही उनकी प्राप्ति के लिये जो उद्योग हमको करने पड़ते थे, जो विकलता हमको उठानी पड़ती थी उन सबका भी अन्त हो जायगा, उसके बाद किसी भी चीज़ की अभिलाषा न रह जायगी। प्रकृति में बहुतेरी खोई हुई वस्तुओं की पुनः प्राप्ति हो सकती है, लेकिन सबकी नहीं। जड़ जगत की वस्तुओं का सर्ग-स्थिति संहार का ताँता तो लगा ही रहता है, परन्तु अन्तर्जगत की वासनाएँ मिटी सो मिट ही गईं, फिर उनकी उत्पत्ति नहीं होती और सर्वदा के लिये स्वप्नमात्र होती हैं, तथा जन्म भर के लिये चली जाती हैं।

---

*कबीर दास जी कहते हैं—की तृस्ना है डाकिनी, की जीवन काल।
और और निसदिन चहै, जीवन करै बिहाल।

पर वासनाओं से अपने मन को हटाना कोई हँसी खेल नहीं है। मौखिक उपदेश देना अथवा पुस्तकों में वासनाओं से मन को हटाने की सलाह देना जितना सरल है उतना इस उपदेश को व्यवहार में लाना नहीं। दुःखों की निवृत्ति का यह उपाय जितना ही अमोघ है उतना ही दुरूह भी है। पर यह उपाय दुस्साध्य हो चाहे असम्भव, इसके बिना संसार दुःखों से छुटकारा पा नहीं सकता। वासनाओं के प्रति विरक्ति होने से ही संसार में शान्ति का साम्राज्य हो सकता है। हमारे अनुभवी महर्षियों ने इसी से तो सांसारिक विषय वासनाओं से मन को निर्लिप्त रखना ही सुख और शान्ति-उपार्जन का एक मात्र साधन बतलाया है। प्राचीन सभ्यता और आधुनिक सभ्यता में यही तो एक अन्तर है। प्राचीन काल में जितना ही अधिक वासनाओं से दूर रहने का उपदेश दिया जाता था उतना ही अधिक आजकल वासनाओं में आसक्त होने का उपदेश दिया जाता है. इसी से तो हम देखते हैं कि आज दिन संसार में कहीं भी सुख और शान्ति नाम को भी नहीं है, और जब तक वासना का इस संसार में आधिपत्य रहेगा तब तक सुख और शान्ति की आशा करना आकाश-कुसुम है, मरीचिका से प्यास बुझाना है, और है वन्ध्या से पुत्र प्रसव की आशा रखना।

हमारे जिन शास्त्रकारों ने वासना निवृत्ति होने का उपदेश दिय है वे उसके लिये एक सुगमतर साधन भी बतला गये हैं। वासना मन का विषय है। इसलिये वासना से विरक्ति पाने के पहले मन को वश में करना जरूरी है। मन का काम है ‘मनन करना’। प्रायः संसार में यह देखा जाता है कि जो व्यक्ति अपने काम में दत्तचित्त रहता है अपने कर्तव्य-पालन के अतिरिक्त अपना समय किसी फालतू काम य बातचीत के लिये नहीं दे सकता, उसका किसी भी अन्य व्यक्ति से कल या वैमनस्य नहीं होता। हो भी कहाँ से? जब अपने कर्त्तव्य पालन उसे फुर्सत मिले तब न? जो आदमी निठल्ले बैठे रहते हैं उनको ही प्राय उपद्रव और दूसरे की बुराई करने की सूझा करती है। यह एक मा हुई बात है कि निष्कर्मण्य मनुष्य ही अपने उपद्रवों से संसार

अशान्ति के कारण होते हैं। इसलिए जो व्यक्ति अपने को सब दुर्गुणों से दूर रखना चाहता है उसको चाहिये कि वह अपने समय को अपने कर्त्तव्यपालन करने के लिये इस प्रकार सुविभक्त कर ले कि उसको कुसंग में जाने, निरर्थक वार्तालाप करने, एवं कुविचारों को अपने मन में लाने तक की फ़ुर्सत न मिले। इसी प्रकार यदि मन को वासनाओं से हटाना चाहो तो सब से अच्छा तरीका यह है कि उसे किसी ऐसे पदार्थ में लगाओ जो वासनाओं से अधिक रुचिर एवं स्थायी हो, और जो साथ ही मन का विषय भी हो। जब हम छोटे बालक के हाथ में कोई चीज़ छुड़ाना चाहते हैं तो उसके सामने एक दूसरा पदार्थ ऐसा रखते हैं जो उसको प्रथम वस्तु से अधिक प्रिय होता है। प्रियतर वस्तु के लोभ से बालक प्रियवस्तु को अनायास ही छोड़ देता है। इसी प्रकार मन भी अपने अभीष्ट पदार्थ-वासना को छोड़ते हुए भी कष्ट का अनुभव न करेगा, यदि उससे भी अभीष्टतर पदार्थ उसके सामने लाया जाय। ऐसा स्थायी एवं मन का अभीष्ट पदार्थ है 'ईश्वर'। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि मन का कर्त्तव्य है 'मनन करना'। यदि अपने मन को परमात्मा के रूप के ध्यान में, परमात्मा के गुणों के गान में, उसकी सामर्थ्य एवं व्यापकता की चिन्तना में, तथा तद्विषयक प्रेम में लगा दें तो उसको अपने कर्त्तव्य पालन के अतिरिक्त अन्य वासनाओं के निकट भ्रमण करने का मौक़ा ही न मिलेगा। वह एक प्रकार से ईश्वर के प्रेम में फँस जायगा। ईश्वर सम्बन्धी विचारों के मनन करने में ही उसका समय बीतेगा। बस, यही तो सुख और शान्ति है। इससे अधिक सुख एवं शान्ति और हो ही क्या सकती है!

ईश्वर से प्रेम करना या ईश्वर में अपने को लगाना ही 'भक्ति' है। हम पहिले कह चुके हैं कि संसार अशान्ति का साम्राज्य है, दुःखों का पारावार है, इसलिए निसर्गतः मनुष्य शान्ति और सुख की खोज में लगा रहता है। मानव-हृदय किसी ऐसी महान् शक्ति का अन्वेषण किया करता है जो उसके सुख में तो सहयोग दे और दुःख से उसको निवृत्त करने के लिये तत्पर रहे। ऐसी महान् शक्ति केवल ईश्वर है।

इसीलिये महात्माओं ने ईश्वर-भक्ति पर ज़ोर दिया है। भगवद्भक्ति से मन का अन्धकार दूर होता है। मानव हृदय ईश्वरीय ध्यान में प्रवृत्त होकर उतने समय के लिये संसार-यातना को विस्मृत कर देता है, मन में सहृदयता उत्पन्न होती है, अपवित्रता का नाश होता है, असत् प्रवृत्ति संकुचित होती है, मन का मालिन्य दूर होता है, और चित्त में एक अपूर्व आनन्द का अनुभव होता है। भगवान् के स्मरण मात्र से हृत्तन्त्री का तार आनन्द से झनझना उठता है, भाव हिल्लोल बहने लगते हैं, यहाँ तक कि भक्त उस समस्त विश्व रचना को भूल जाता है। भगवद्भक्ति की यही महिमा है ; यही प्रभाव है।

ऐसी भगवद्भक्ति का उपदेश करने वाले महात्माओं में से हमारे प्रस्तुत लेख के विषय, भक्तिशिरोमणि सूरदास जी भी हैं। जिस काल में इन महात्मा का प्रादुर्भाव हुआ, उस समय—सोलहवीं शताब्दी विक्रमीय—हिन्दू साम्राज्य का गौरव स्मृतिमात्र अवशिष्ट रह गया था। हिन्दू जाति ने अपनी स्वतन्त्रता देवी को विसर्जित कर मुग़लों का आधिपत्य स्वीकार कर लिया था, हम लोगों में से स्वाधीनता का भाव नष्टप्राय हो गया था, यद्यपि हम परतन्त्रता की बेड़ियों से जकड़ गये थे सही, किन्तु तब भी मुग़लों के समय में हमारा देश धन-धान्य से परिपूर्ण था। हमारा वैभव-विलास अक्षुण्ण था। और हमारे ऐश्वर्य और संपत्ति पर हमारा ही अधिकार था। किन्तु मुसलमानों के राज्यकाल में हिन्दुओं का सौभाग्य-सूर्य अस्त हो गया था। सर्वत्र धार्मिक अशान्ति व्याप रही थी। प्रजापालक की उपाधि से विभूषित मुग़ल सम्राट् धार्मिक विद्वेष एवं धर्मान्धता के कारण अपनी असहाय हिन्दू प्रजा पर नाना प्रकार के अत्याचार करने लगे थे। जिधर देखो उधर ही हिन्दुओं में हाहाकार और करुणाक्रन्दन सुनाई पड़ता था। धर्मप्राण हिन्दुओं को जब अपने राजा के न्याय प्राप्ति की कोई आशा न रही तब वे परमात्मा की शरण जाने के अतिरिक्त और कर ही क्या सकते थे। अतएव ऐसे समय में भक्तिवाद का आविर्भाव अवश्यंभावी था। इन्हीं धार्मिक भावों की प्रेरणा से तत्कालीन साहित्य भरा पड़ा है। यदि यह कहें कि

'भक्तिकाव्य' का आरंभकाल ही हिन्दी साहित्य का उन्नतिकाल' था तो इसमें कोई अनौचित्य न होगा।

भक्ति-मार्ग से अनुयायियों की दो मुख्य शाखायें होती हैं। एक निर्गुण अर्थात् निराकार परब्रह्म की उपासना करती है, और दूसरी शाखा के लोग ईश्वर के सगुण अर्थात् साकार स्वरूप—शिव, विष्णु, राम, कृष्ण आदि—की उपासना करते हैं। कबीर साहब उस समय के निर्गुणोपासकों में मुख्य गिने जाते हैं। पर उनको और उनके अनुयायियों को तत्कालीन धार्मिक आन्दोलन के चलाने में सफलता प्राप्त न हुई। देश की स्थिति ज्यों की त्यों बनी रही। यद्यपि निर्गुण और सगुण ईश्वर की विवेचना प्रस्तुत विषय से बाहर है, तब भी निर्गुणोपासक अपने उद्देश्य में असफल क्यों हुए इस बात को स्पष्ट करने के लिये प्रसंगवशात् इस सबन्ध में दो बातें लिखना अयुक्त न होगा। निर्गुण और सगुण दोनों ही ईश्वर के रूप हैं। दोनों ही की उपासना से परब्रह्म तक पहुँचा जा सकता है। किन्तु संसार के दुःखजाल में फँसा हुआ मानव हृदय निर्गुण ईश्वर को हृदयंगम नहीं कर सकता। आकारहीन, रूपहीन, नामहीन और अलक्ष्य ईश्वर का चिन्तन या मनन ऐसे मनुष्यों की बुद्धि से परे है। इसके विपरीत जो ईश्वर भक्तभयहारी है, भक्तों की पुकार सुनते ही स्वयं उनकी रक्षा के लिये दौड़ पड़ता है, जो ईश्वर सज्जनों की रक्षा एवं दुष्कर्मों का विनाश करके धर्मसंस्थापन के लिये बार बार अवतार लेता है, उसकी पूजा के लिये मानव हृदय निसर्गतः प्रवृत्त हो जाता है, उसी के ध्यान और भजन को मनुष्य बड़े उत्साह और प्रेम से करता है। साथ ही एक बात है कि निर्गुण से—जिसका कोई स्वरूप ही नहीं है—हम प्रेम नहीं कर सकते। प्रेम करें किससे जब कोई पदार्थ या व्यक्ति हो तब न? एक साधारण पत्थर से भी प्रेम हो सकता है, और यदि उसमें कोई सुन्दर आकार या रूप हो तो कहना ही क्या? परन्तु जिस पदार्थ को हम कल्पना ही नहीं कर सकते उससे प्रेम करें कैसे? परन्तु जिसका रूप है, विशेषतः जो हमारे ही समान नररूपधारी है; हमारे ही समान सांसारिक व्यवहारों में लिप्त

रहता है, हमारे दुःखों को दूर कर सुख देनेवाला है, हमारे कार्यों का सहायक है उसकी भक्ति करना, उससे प्रेम करना, स्वाभाविक है। हमारा प्रयोजन यहाँ निर्गुणोपासना का खंडन करने से नहीं है। कहने का अभिप्राय यह है कि सगुणोपासना निर्गुण ब्रह्म का ज्ञान कराने का साधन है। विना सगुणोपासना के निर्गुण का ज्ञान दुरूह है। सगुणोपासना द्वारा सांसारिक मनुष्य भी क्रमशः ईश्वर की उपासना कर सकता है। सांसारिक व्यापारों में फँसा हुआ मनुष्य निगुण की उपासना कर नहीं सकता। विशेषतः जिस समय का हम वर्णन कर रहे हैं ऐसी अशान्ति में निर्गुण ब्रह्म द्वारा शान्ति स्थापन करना असंभव था। यही कारण है कि कबीर और उनके अनुयायी अपने उद्देश्य में असफल रहे।

किन्तु प्रवाह बहुत दिनों तक रुक नहीं सकता। एक के बाद एक महात्मा पैदा होते रहे। प्रथम प्रकार की उपासना के विफल होने के कारण लोगों की आँखें खुल गईं। सगुणोपासना ही की ओर लोगों का ध्यान गया। सगुणोपासना में 'श्रीराम' और 'श्रीकृष्ण' की उपासना की ही प्रधानता प्रबल रही, श्रीराम और श्रीकृष्ण हिन्दुओं का आदर्श चरित्र हैं पूज्य हैं, मान्य हैं, प्राण हैं. परमेश्वर हैं। उस समय के प्रायः सभी महात्माओं ने राम-कृष्ण का यशोगान करने के लिये पद लिखे हैं। इन्हीं पदों के द्वारा उन्होंने प्रेम और भक्ति का प्रचार किया। इसी समय एक ओर बंगाल में चैतन्य महाप्रभु ने और संयुक्तप्रदेश में महाप्रभु वल्लभाचार्य (संवत् १५३५) ने कृष्णभक्ति के अनुपम उपदेशों से हिन्दी-साहित्य में अमृत-वर्षा की। यहीं से वैष्णव-साहित्य या 'भक्ति-काव्य' की नीव पड़ी। वैष्णव-साहित्य का भक्ति-काव्य ईश्वर के स्वरूप को मनुष्यों में उपलब्ध करना सिखाता है, ईश्वर के विराट् एवं अचिन्त्य रूप की चिन्तना के पीछे नहीं पड़ता, यही इस साहित्य की एक विशेषता है। इस साहित्य का मूल सिद्धान्त यही है कि 'ईश्वर से प्रेम करो'। इसलिये वैष्णव कवियों ने लीलामय परमेश्वर को अपने माता, पिता, स्वामी, सखा, पुत्र आदि के स्वरूप में ही देखा। पार्थिव प्रलोभनों से विरत

रहते हुए भी वे पारिवारिक स्नेह में ही ईश्वर की लीला का वैचित्र्य देखते थे, परिवार के बीच में रहते हुए भी भगवद्भक्ति में संलग्न रहते थे। महाप्रभु वल्लभाचार्य एवं उनके अनुयायी कवि सूरदास आदि 'अष्टछाप' के महाकवि, श्रीगोस्वामि तुलसीदास, मीराबाई प्रभृतियों की गणना वैष्णव कवियों में की जाती है। वैष्णव साहित्य या भक्ति काव्य अपनी सरसता उदारता एवं सुगमता के कारण खूब ही लोकप्रिय हुआ। भक्तिकाव्य की नीव स्वामी रामानन्द के समय (सन् १४५६ वि०) में ही पड़ चुकी थी। श्रीचैतन्य महाप्रभु एवं महाप्रभु बल्लभाचार्य और उनके अनुयायी महात्माओं के समय (सोलहवीं शताब्दी विक्रमीय) में इसका विकास हुआ। उनके पीछे बल्लभाचार्य के सुपुत्र स्वामी विट्ठलनाथजी तथा बल्लभ सम्प्रदाय के सर्वोत्कृष्ट कवि सूरदास आदि 'अष्टछाप' के कवियों ने भी स्वनिर्मित सुललित पदों को अपने कोकिल-कंठ से गा गाकर कृष्णभक्ति और कविता का अपूर्व स्रोत बहा दिया। चारों ओर आनन्द का सागर उमड़ पड़ा और भक्ति तथा कविता की तरंगों में देश का देश आप्लावित हो गया। इस भक्तिकाव्य का देश पर क्या प्रभाव पड़ा इस बात के लिखने के पूर्व भक्ति कितनी तरह से की जाती है इसका भी किञ्चिन्मात्र दिग्दर्शन कर देना युक्तिसङ्गत होगा।

प्रधानतया भक्ति पाँच भावों से की जाती है। हम पहले कह चुके हैं कि वैष्णव कवियों ने पारिवारिक स्नेह के बीच ही लीलामय परमेश्वर की लीला का विकास देखा है। अतएव परिवार में हमारे जितने प्रकार के मुख्य नाते होते हैं उन्हीं में से किसी एक प्रकार का सम्बन्ध परमात्मा से जोड़ कर भक्ति की जा सकती है। ये सम्बन्ध यों तो बहुत हैं, किन्तु मुख्यतः पाँच प्रकार के नातों का विशेष प्राबल्य है (१) अन्य भाव वा पूज्यभाव। (२) जन्य-जनक भाव। (३) दम्पति भाव। (४) सेव्य-सेवक भाव और (५) सखा भाव। (१) इनमें से प्रथम प्रकार का सम्बन्ध स्थापित कर परमात्मा की जो भक्ति की जाती है। उसे 'शान्त भाव' की भक्ति कहते हैं। प्रह्लाद एवं ध्रुव की भक्ति इसी प्रकार की थी। वे अपना, पिता, माता, स्वामी, सखा सब कुछ परमात्मा को ही

मानते थे। ईश्वर ही उनका सर्वस्व था ; (२) जन्य-जनक भाव से अर्थात् परमात्मा को बालस्वरूप समझ कर जो प्रेम किया जाता है उसे 'वात्सल्य भाव' की भक्ति कहते हैं। दशरथ-कौशल्या नन्द-यशोदा आदि की भक्ति इसी भाव की थी (३) दम्पति भाव अर्थात् परमात्मा को अपना पति समझ कर अथवा अपने को राधा की सखी समझ कर जो भक्ति की जाती है उसे 'शृङ्गार भाव' की भक्ति कहते हैं। गोपियों और मीराबाई की भक्ति इसी श्रेणी के अन्तर्गत आती है। (४) अपने को परमात्मा का एक मात्र सेवक मान कर जो भक्ति की जाती है उसे 'दास भाव' की भक्ति कहते हैं। हनुमान जी की भक्ति इसी 'भृत्य-भाव' की थी। अब रह गया 'सखा भाव' सखा भाव वाले परमात्मा को अपना सखा समझते हैं, अर्जुन, विभीषण, सुग्रीव, निषाद आदि सखा भाव की भक्ति करने वालों में प्रधान हैं। वैष्णव सम्प्रदाय वालों में से रामानन्द, तुलसीदास आदि की भक्ति 'दास भाव' की थी। तुलसीदासजी कहते हैं—"सेवक सेव्य भाव बिनु भव न तरिय उरगारि"। ये अपने को परमात्मा का सेवक समझते हैं। श्रीचैतन्य महाप्रभु, श्रीहरिदासजी एवं श्रीहितहरिवंशजी की भक्ति शृङ्गारभाव या 'सखी-भाव' की प्रसिद्ध है। इन लोगों के मत से केवल ईश्वर ही एक पुरुष है और उसके आश्रित सभी भक्तों में स्त्री भाव है। वल्लभ सम्प्रदाय वाले वात्सल्य भाव की भक्ति करते हैं।

जैसा ऊपर कहा जा चुका है वैष्णव सम्प्रदाय के महात्माओं को ही भक्तिकाव्य के उद्भव और विकास का श्रेय है। इस सम्प्रदाय के बहुत से महात्माओं ने सङ्गीत और काव्य का अपूर्व सम्मिश्रण कर जनसमाज को भक्ति रस से लबालब भरे हुए समुद्र में निमग्न कर दिया। हमारे साहित्य पर इनका बहुत प्रभाव पड़ा, विशेषतः रामानन्दी शाखावालों का, जिनमें तुलसीदास मुख्य हैं, और वल्लभीय सम्प्रदायवालों का वल्लभसम्प्रदाय के सूरदास, कृष्णदास, परमानन्ददास, कुंभनदास, गोविन्ददास, चतुर्भुजदास, छीतस्वामी और नन्ददास—ये आठ, अष्टछाप, के कवि सर्वप्रधान माने गये हैं। रामानन्दी शाखावालों में रामभक्ति

प्रधान है। गो० तुलसीदासजी इसी सम्प्रदाय के थे। महात्मा सूरदास जी वल्लभसम्प्रदाय के थे। इस सम्प्रदाय में कृष्णभक्ति का प्राधान्य है। सूरदासजी की कविता भक्ति और प्रेम से परिपूर्ण है। इनकी भक्ति सखा भाव की थी। बस इस स्थल पर इनकी भक्ति आदि के विषय में कुछ अधिक न कह कर, इस 'भक्तिकाव्य' का हमारे देश पर क्या प्रभाव पड़ा, इस बात को लिख कर हम इस स्तम्भ की पूर्ति करेंगे।

(प्रभाव)

धार्मिक अशान्ति के समय इस साहित्य ने बड़ा काम किया। हिन्दुओं के विचार समय के फेर से उन दिनों बड़े संकुचित हो गये थे। अनजानते भी कोई कुछ भूल कर बैठता था तो वह एकदम पतित समझ लिया जाता था। हिन्दू अपनी आँखों से अपने भाइयों को मुसलमान होते देख सकते थे, किन्तु उनकी भूल का प्रायश्चित कराके अपने में ले लेना उनको स्वीकार न था। धर्म केवल पाखण्ड और आडम्बरमात्र रह गया था। किन्तु इस साहित्य ने हिन्दुओं की आँखें खोल दीं, उनके हृदय को उदारभावों से परिपूर्ण कर दिया; इसी ने हिन्दुओं को नीचों और अधमों से भी प्रेम करना सिखलाया, उनको भगवद्भक्ति का अधिकारी ठहराया उस काल तक ऊँच-नीच का बहुत विचार रक्खा जाता था। जातिभेद की तो हद हो चुकी थी। मुसलमानों के कारण इस जाति भेद में रही सही जो कुछ कसर थी सो भी पूरी हो गई थी। केवल उच्चवर्ण वालों—विशेषतया ब्राह्मणों—को ही धर्मानुष्ठान का अधिकार था। किन्तु रामानन्दजी ने डोम, चमार, जोलाहे आदि के लिये भी धर्म मार्ग का फाटक खोल दिया। रामानन्दजी के शिष्य भक्त रैदास चमार थे, और कबीर साहब जोलाहे थे, इससे रामानन्द जी के धर्म की उदारता लक्षित होती है। हिन्दू मुसलमानों को एकता के सूत्र में ग्रथित करने का पहिला श्रेय इसी धार्मिक साहित्य को है। इसमें इसको सफलता भी कम न रही। अकबर ऐसे गुणग्राही मुसलमान बादशाहों ने भी इस साहित्य की कोमल कान्त पदावली से मुग्ध होकर इसे अपनाया था।

तत्कालीन वैष्णव सम्प्रदाय के आचार्यों ने तो संकीर्णता का सर्वतोभाव से परित्याग कर धार्मिक विरोध को हटाने की भी चेष्टा की थी। इस भक्तिमार्ग का सबसे अपूर्व प्रभाव यह पड़ा कि कई मुसलमान श्रीराधा-कृष्ण के प्रेम में तल्लीन हो गये और हिन्दू धर्म के सिद्धान्तों को ही मानने लगे। अनेक विधर्मी कृष्ण की उपासना करने लग गये। बहुत से तो इन विषयों में हिन्दुओं से भी बाजी मार ले गये। रुस्तमखाँ नामक एक मुसलमान अपनी अपूर्व भक्ति के कारण श्रीकृष्णजी के मन्दिर में प्रविष्ट होने का अधिकारी हो गया। यही नहीं कृष्णभक्ति का अनुपम रसास्वादन करने के कारण एक मुसलमान 'रसखान' नाम से प्रख्यात होकर वल्लभाचार्य के पट्टशिष्यों में गिना जाने लगा। रसखान ने हिन्दी साहित्य में भक्ति-रस की धारा बहा दी। रसखान का एक उदाहरण सुनिये—

सेस महेस गनेस दिनेस सुरेस हु जाहि निरंतर गावैं।
जाहि अनादि अनन्त अखंड अछेद अभेद सुवेद बतावैं॥
नारद से सुक, व्यास रटैं पचि हारे तऊ पुनि पार न पावैं।
ताहि अहीर की छोहरियाँ छछिया भार छाछ पै नाच नचावैं॥

—सुजान रसखान

और भी कई मुसलमान कवियों ने इसी प्रेम के प्रवाह में बह कर श्रीकृष्ण का गुणगान किया है। इनमें अकबर के मन्त्री मिरज़ा अब्दुल रहीम खानखाना उर्फ 'रहीम' और 'ताज' नामक श्रीकृष्ण भक्त मुसलमान खाँ का नाम विशेष उल्लेख्य है। रहीम के अनेक दोहे उनकी राम-कृष्ण पर प्रगाढ़ भक्ति प्रकट करने के साक्षी हैं—

तैं 'रहीम' मन आपनो, कीन्हों चारु चकोर।
निसिवासर लागो रहै, कृष्ण चन्द्र की ओर॥ १॥
अच्युत-चरण-तरङ्गिणी, शिवसिर मालतिमाल।
हरि न बनायो सुरसरी, कीनो इन्दव-माल॥ २॥

अब एक उदाहरण 'ताज' की भक्ति का भी सुन लीजिये—

"छैल जो छबीला, सब रंग में रंगीला बड़ा,
चित्त का अड़ीला सभी देवतों से न्यारा है।

माल गले सोहै, नाक-मोती मन मोहै, कान
मों है मनि कुंडल, मुकुट सीस धारा है ॥
दुष्टजन 'मारे' संतजनत के रखवारे
'ताज' चित हित वारे प्रेम प्रीति वारा है।
नंदजू का प्यारा, जिन कंस को पछारा, वह
वृन्दावन वारा कृष्ण साहिब हमारा है ॥ "

इन मुसलमान कवियों के विषय में भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र जी के स्वर में स्वर मिला कर हमसे भी यही कहते बनता है—

"इन मुसलमान हरिजनन पै, कोटिन हिन्दू वारिये।"

भक्तिकाव्य का सबसे महत्वपूर्ण प्रभाव तो यह पड़ा कि धार्मिक भावों की प्रेरणा से हिन्दी साहित्य की उन्नति हुई। हिन्दू धर्म की सभी व्यवस्थाएँ श्रुति स्मृति-पुराण आदि, संस्कृत भाषा में ही लिपिबद्ध थीं। किन्तु संस्कृत अब सर्वसाधारण की भाषा नहीं रह गई थी। यह केवल पुस्तकीय भाषा रह गई थी। थोड़े से पंडितों को छोड़ कर संस्कृत जानने वाले बहुत कम लोग रह गये थे। हिन्दू अपने धार्मिक सिद्धान्तों को भूलते जा रहे थे। हिन्दू धर्म में व्यावहारिक आडम्बरपूर्ण कृत्यों की ही बहुलता मात्र रह गई थी, स्वाभाविकता और सदाचार का तो लोप ही हो गया था। संस्कृत की अनभिज्ञता से हिन्दू-धर्म के आदर्श का प्रचार न हो सका। श्रीरामकृष्ण के चरित्रों तक को लोग भूलने लगे। जन साधारण अपने धर्मशास्त्र की जटिल समस्याओं को समझ ही नहीं पाते थे। ऐसे समय में किसी ऐसे लौकिक साहित्य की ज़रूरत थी जो उनकी उक्त आवश्यकताओं को पूर्ण कर सके। वैष्णव-साहित्य की सृष्टि उन्हीं के असन्तोष को दूर करने के लिये हुई, क्योंकि यह साहित्य हिन्दी—तत्कालीन सर्वसाधारण से परिचित—भाषा में ही था। भक्तिकाव्य उस समय के हिन्दुओं को सन्तुष्ट करने में कहाँ तक सफल हुआ यह किसी से छिपा नहीं है। वैष्णव संप्रदाय के आचार्य अपने उपदेश बोलचाल की ही भाषा में दिया करते थे, और यही उचित भी था। हिन्दी में जब धार्मिक भाव प्रकट किये जाने लगे तो सर्वसाधारण ने हिन्दी को अपनाया

और भाषा के साथ ही उपदेशों पर भी अमल करने लगे, पहिले तो संस्कृत के विद्वानों ने इनका खूब विरोध किया, परन्तु समय के प्रवाह में बह कर उनको यह भी स्वीकार करना पड़ा कि जनता संस्कृत को पूज्य भाव से भले ही देख ले, परन्तु वह उन्हीं भावों को हृदयंगम कर सकती है जो उसकी ही भाषा में व्यक्त किये जायँ। जनता के हृद्गत भाव जनता की ही भाषा में स्पष्टरूपेण व्यक्त किये जा सकते हैं, सब भाषाओं में नहीं। भक्तिकाव्य का समय हिन्दी का पुनरुत्थान-काल है। हिन्दी के सभी बड़े बड़े कवि इस काल में पैदा हुए। तुलसीदास, सूरदास आदि भक्तिकाव्य के महाकवियों ने हिन्दी साहित्य की खूब ही श्रीवृद्धि की। इन लोगों ने हिन्दी साहित्य को उन्नति की पराकाष्ठा तक पहुँचा दिया। यह इन्हीं लोगों की कृपा का फल है जो हिन्दी साहित्य आज दिन अन्य साहित्यों के सामने अपना सिर सगर्व ऊँचा किये हुए है। इसी से श्रीराम और श्रीकृष्ण के भक्त इन प्रातःस्मरणीय महात्माओं का नाम हिन्दी-साहित्य के इतिहास में स्वर्णाक्षरों से अंकित है, और आकल्प रहेगा।

२—ब्रज-भाषा

आर्यों की आदि भाषा 'प्राकृत' थी या संस्कृत, इसका अभी तक ठीक ठाक निर्णय नहीं हो सकता है। विद्वानों में इस विषय में बहुत मत भेद है। आधुनिक खोज करनेवाले 'प्राकृत' को प्रारम्भिक भाषा सिद्ध करने पर तुले हैं तो 'संस्कृत' को 'देवभाषा' माननेवाले पंडितजन भी इस बात को पूर्णतया अस्वीकार करते हुए 'संस्कृत' को अनादि भाषा सिद्ध करने की हठ पकड़े हुए हैं। इसी जिद्दाजिद्दी के कारण इस विषय में मतैक्य स्थापित करने के मार्ग में बड़ी कठिनाइयाँ पड़ रही हैं जितना ही सुलझाने का प्रयत्न करो उतनाही तद्विषयक समस्याएँ जटिल होती जा रही हैं। यद्यपि यह चर्चा प्रस्तुत विषय से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं रखती, तथापि 'व्रजभाषा का इतिहास' लिखने के पूर्व समासतः इस सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट करना अप्रासंगिक न होगा।

'भाषा की उत्पत्ति कब और कैसे हुई' यह विषय हमारे लेख की सीमा के बाहर है, 'भाषा-विज्ञान' से संबद्ध है। किन्तु जिस समय से हमारा इतिहास आरंभ होता है उस समय पारस्परिक भावों को प्रकट करने के लिये किसी न किसी भाषा की सृष्टि हो अवश्य चुकी थी। यह भाषा प्राकृतिक अर्थात् स्वभावतः बोली जाने लगी। सर्वसाधारण की भाषा होने के कारण इसका नाम 'प्राकृत' पड़ा, अतएव हमारी समझ में 'प्राकृत' ही आर्यों की आदि भाषा थी 'संस्कृत' नहीं। ये शब्दद्वय ही इस कथन के प्रमाण स्वरूप हैं। 'प्राकृत' शब्द का अर्थ है 'स्वाभाविक' अर्थात् 'अकृत्रिम'। जो भाषा किसी ने बनाई न हो किन्तु स्वतः बन गई हो, वही प्राकृत' है। 'संस्कृत' का शब्दार्थ होता है 'संस्कार की हुई' 'शुद्ध की गई' इत्यादि। शुद्ध कौन चीज की जा सकती है? जिसका प्रारंभ में कोई अस्तित्व हो उसी का न? अतः यह स्वतः सिद्ध हुआ कि पहले कोई न कोई अकृत्रिम या निसर्गतः उत्पन्न भाषा 'प्राकृत' अवश्य थी, और उसी भाषा का संस्कार करके एक बनावटी भाषा बनाई गई। यही भाषा 'संस्कृत' कहलाई। सारांश यह कि हमारे निर्णय के अनुसार 'प्राकृत' प्रारम्भिक भाषा थी और वही धीरे धीरे, बाद को संस्कार या परिमार्जित होकर 'संस्कृत' नाम से प्रख्यात हुई। परन्तु यह भाषा सहसा परिमार्जित नहीं हुई। इसको शुद्ध करने में कई शताब्दियाँ लग गईं। आरम्भ में ही 'प्राकृत' के दो स्वरूप हो गये। एक तो वह जिसको शिक्षित समुदाय ने अपनाया और उसका विकास कर उसको एक नया ही स्वरूप दे दिया, और दूसरा वह रूप जिसका प्रचार सर्व साधारण की बोलचाल में बना रहा। शिक्षित समुदाय ने अपनी भाषा को अन्य भाषाओं के संपर्क से बचने के लिये उसको व्याकरणादि के नियमों से जकड़ना आरम्भ कर दिया। यह भाषा 'पुरानी संस्कृत' या वैदिक संस्कृत के नाम से प्रसिद्ध है। इस भाषा के नमूने हमको 'ऋग्वेद' के मन्त्रों में मिलते हैं। यजुर्वेद आदि की भाषा में ऋग्वेद की भाषा से बहुत अन्तर है। वह ऋग्वेद की भाषा से कहीं अधिक परिपुष्ट है। आदि कवि वाल्मीकिकृत रामायण, महामुनि व्यास रचित महाभारत तथा

कविश्रेष्ठ कालिदास, भवभूति आदि के काव्य ग्रन्थों की भाषा वैदिक काल की भाषा से बहुत पीछे की है और इसमें तथा वेदों की भाषा में आकाश-पाताल का अन्तर है। इस समय की भाषा अच्छी तरह परिमार्जित हो गई थी। देश की बोलचाल की भाषा तथा विदेशी भाषाओं के संपर्क से अपनी भाषा की रक्षा करने के लिये पाणिनीय, शाकटायन ऐसे ऐसे महा वैयाकरणों ने इसको व्याकरण के नियमों के शिकंजे में कस कर भली भाँति शुद्ध अथवा परिमार्जित कर लिया, अब इसमें बाहरी शब्दों के आ घुसने की गुंजाइश न रह गई। यद्यपि भाषा इस प्रकार नियंत्रित हो गई थी, तब भी वाल्मीकि, व्यास, कालिदास आदि ने " निरंकुशः कवयः " सिद्धान्त का अनुकरण करते हुए अपने काव्यों में ऐसे शब्दों का प्रयोग कर ही लिया जो व्याकरण के नियमों से किसी प्रकार भी सिद्ध नहीं हो सकते थे। उनकी इस अवहेलना को उनके बाद के वैयाकरणों ने 'आर्ष' प्रयोग कह कर टाल दिया। व्याकरण से नियमबद्ध हो जाने के कारण संस्कृत की गति अवरुद्ध हो गई। इसका परिणाम यह हुआ कि अपनी जटिलता के कारण संस्कृत सर्वसाधारण की बोलचाल की भाषा न रह सकी। यह केवल पुस्तकीय भाषा ही रह गई और शिक्षित एवं विद्वत् समुदाय के व्यवहार—बोलचाल—में ही उसका प्रयोग रह गया। भाषा की संजीवनी शक्ति उसका प्रवाह और उसकी परिवर्त्तन शक्ति ही है। जब तक किसी भाषा में अन्य भाषा के शब्दों को ज्यों के त्यों (तत्सम रूप में) या अपने अनुकूल (तद्भव रूप) बनाकर पचा लेने की—अपने में मिला लेने की—शक्ति विद्यमान रहती है तभी तक वह जीवित कही जा सकती है। गति या प्रवाह अवरुद्ध होने से वह भाषा 'मृत' कही जाती है। यही दशा संस्कृत की भी हुई। विद्वान आचार्यों ने यह सोच कर कि अन्य भाषाओं के सम्पर्क से कहीं संस्कृत का लोप न हो जाय उसे व्याकरण के चक्रव्यूह के अन्दर सुरक्षित रखने का प्रयत्न तो किया, पर फल इसका ठीक उलटा हुआ। संस्कृत की गति सीमाबद्ध हो गई और वह 'मृतभाषा' (Dead-Language) कहलाई जाने लगी और सर्वसाधारण की बोलचाल की भाषा से बहुत दूर हो गई।

हम आर्यावर्त्त की भाषाओं का स्रोत 'वैदिक-संस्कृत' से पहिले की 'प्राकृत' को मानते हैं। इस प्राकृत से एक प्रवाह वह बहा जो परिमार्जित होकर पहिले 'वैदिक संस्कृत' या 'पुरानी संस्कृत' कहलाया और पीछे और पुष्ट होकर 'संस्कृत' नाम से प्रख्यात हुआ। बस यह प्रवाह यहीं का यहीं थम गया, और आगे न बढ़ सका। इसी प्राकृत से, जिसे हम अपनी सुविधा के लिये 'पहिली प्राकृत' कहेंगे, एक दूसरा प्रवाह भी संस्कृत के साथ साथ बहता रहा। आर्यों ने तो अपनी भाषा 'संस्कृत' में इस प्राकृत के शब्दों को न आने दिया; परन्तु काल के प्रभाव से कहिये अथवा आर्यों और अनार्यों के सम्पर्क से संस्कृत भाषा के शब्द 'पहली प्राकृत' में घुसने लगे। इससे एक नई प्राकृत का जन्म हुआ जो 'दूसरी प्राकृत' अथवा 'पाली' के नाम से प्रख्यात है। यह 'दूसरी प्राकृत' या 'मध्यवर्त्तिनी प्राकृतिक' अपनी सहोदरा 'संस्कृत' के साथ साथ विकसित होती गई। जब व्याकरण की विकट शृङ्खलाओं में आबद्ध होने से 'संस्कृत' की वर्द्धनशीलता रुक गई तब इसने खूब ज़ोर पकड़ा। अशोक के समय में यही प्राकृत प्रचलित थी। बौद्धों के समय में 'पाली' का विकास अपनी पराकाष्ठा को पहुँच गया था। बौद्धों के धार्मिक ग्रन्थ सब इसी भाषा में लिखे गये। यही उस समय जन साधारण की बोल चाल की भाषा भी थी। अशोक के शिला-लेख सभी प्रायः इसी भाषा में लिखे पाये जाते हैं। इन सब कारणों से 'पाली' का महत्व खूब बढ़ गया। किन्तु भाषायें परिवर्तनशील एवं वर्धन-शील होती हैं। वे सदा एक रूप से स्थिर नहीं रह सकतीं। समय पाकर 'पाली' का भी विकास हुआ, और देशभेद से उसके कई विभाग हो गये। वर्तमान मथुरा के आसपास का देश 'शूरसेन' देश कहलाता था, अतएव उस प्रान्त और उसके पार्श्ववर्त्ती प्रदेश में बोली जाने वाली भाषा "शौरसेनी" नाम से प्रख्यात हुई। इसी प्रकार विहार के आस-पास का देश 'मगध' और नर्मदा के दक्षिण का प्रान्त 'महाराष्ट्र' नाम से ख्यात था, अतः एतद्देशीय भाषाओं का नाम उन्हीं देशों के नाम से क्रमशः मागधी और 'महाराष्ट्री' पड़ा। 'दूसरी प्राकृत' अर्थात् 'पाली' के

विकास के परिणाम स्वरूप 'शौरसेनी' 'मागधी' और 'महाराष्ट्री' ये तीन मुख्य विभेद हुए। देश भेद से इनके और भी कई उपभेद हुए, जैसे शौरसेनी और मागधी के बीच की भाषा 'अर्द्धमागधी' कहलाई। और सब उपभेदों से हमारा कोई विशेष संबंध नहीं है, अतः उन सबकी चर्चा चलाना अप्रासंगिक है। शौरसेनी, मागधी आदि भाषाएँ प्राकृत का तीसरा रूपान्तर है। इस हिसाब से हम इन प्राकृतों को 'तीसरी प्राकृत' कह सकते हैं। पर इनको इस नाम से कोई कहता नहीं, 'प्राकृत' शब्द से आजकल इन्हीं प्राकृतों का बोध होता है, 'प्रथम प्राकृत' अर्थात् वैदिक समय के बोलचाल की भाषा 'पुरानी प्राकृत' और 'दूसरी प्राकृत'—अर्थात् बौद्ध-कालीन बोलचाल की भाषा—'पाली' नाम से ही अधिक प्रसिद्ध है।

ये तीसरी प्राकृत—जो वस्तुतः 'प्राकृत' नाम से ही प्रसिद्ध है—समय के साथ साथ विकास को प्राप्त होती गईं धार्मिक और राजनैतिक कारणों से प्राकृत की खूब उन्नति हुई। उनके भी व्याकरण बन गये। इनमें भी धार्मिक ग्रन्थ और काव्य लिखे जाने लगे, यहाँ तक कि धीरे धीरे इनको भी साहित्यिक रूप प्राप्त हो गया। किन्तु साहित्यिक भाषा कभी बोलचाल की भाषा नहीं हो सकती, इससे बोलचाल में इनका प्रयोग सर्वसाधारण की भाषा से दब गया। ये प्राकृतें भी 'मृत' हो गईं, क्योंकि सर्वसाधारण से सम्पर्क न रहने से साहित्यिक भाषाएँ मृत हो जाती हैं। इधर सर्वसाधारण की भाषा का भी विकास होता गया और उसके फलस्वरूप प्रत्येक 'प्राकृत' से—देशभेद के अनुसार ही—'अपभ्रंश' भाषा की उत्पत्ति हुई। अपभ्रंश शब्द का अर्थ है 'बिगड़ी हुई'। पर भाषा वास्तव में 'बिगड़ती' नहीं, उसका 'विकास' होता है। 'अपभ्रंश' नामधारी भाषा वास्तव में 'प्राकृत' का विकास मात्र है, उसका बिगड़ा हुआ स्वरूप नहीं। 'अपभ्रंश' को हम प्राकृत का चौथा रूपान्तर अथवा 'चतुर्थ-प्राकृत' कह सकते हैं। असली बात यह है कि जो सर्वसाधारण के मत से 'भाषा का भ्रष्ट होना' कहा जाता है उसे भाषा तत्ववेत्ता 'भाषा का विकास' कहते हैं। आजकल के पंडित लोग

'हिन्दी' संस्कृत का 'अपभ्रंश' या बिगड़ा हुआ रूप समझ कर उसकी अवहेलना करते हैं। पर सच पूछा जाय तो 'हिन्दी' भाषा की उत्पत्ति, काल क्रम से प्राप्त 'भाषा विकार' का ही फल है।

कुछ समय के उपरान्त 'अपभ्रंश' भाषाओं ने भी साहित्यिक रूप धारण कर लिया। इनमें भी कविताएँ आदि रची जाने लगीं 'अपभ्रंश' भाषाओं का साहित्य—केवल 'नागर अपभ्रंश' को छोड़ कर—बहुत कम उपलब्ध है, अथवा नहीं के बराबर है। किन्तु छठी शताब्दी और ग्यारहवीं शताब्दी के बीच इस भाषा का खूब प्रचार था, इसके प्रमाण मिलते हैं। ग्यारहवीं शताब्दी हमारी वर्तमान भाषा 'हिन्दी' का आदि काल है। इस समय 'अपभ्रंश' भाषाओं का प्रचार प्रायः बंद हो गया था अर्थात् 'अपभ्रंश' को भी 'मृत' पदवी मिल चुकी थी। इन्हीं अपभ्रंश भाषाओं में से किसी एक या दो का विकास होकर 'हिन्दी' का आविर्भाव हुआ है।

हम पहिले कह आये हैं कि पहिली प्राकृत या 'पुरानी प्राकृत' से दो प्रवाह साथ साथ बहे। एक प्रवाह विकसित होते होते पहिले वैदिक संस्कृत और बाद को और भी परिमार्जित होकर 'संस्कृत' के रूप में परिणत हो गया; तथा उसका प्रवाह सदा के लिये स्थिर हो गया दूसरे प्रवाह में पहिले 'पाली' तदनन्तर विकसित होते होते 'शौरसेनी' आदि 'प्राकृतों' का आविर्भाव हुआ। प्राकृतों के बाद अपभ्रंश भाषाओं की उत्पत्ति हुई और अपभ्रंशों से आधुनिक संस्कृतोत्पन्न भाषाओं (हिन्दी, बंगला, गुजराती, मराठी आदि) की। हमारा प्रयोजन यहाँ केवल उन्हीं भाषाओं से है जिनका सम्बन्ध हिन्दी भाषा से है, अतः और भाषाओं का वर्णन विषय से बाहर जानकर हम अपने प्रकृत विषय अर्थात् 'ब्रजभाषा' की ओर आते हैं।

हिन्दी भाषा भाषियों का मुख्य स्थान संयुक्तप्रान्त ही माना जाता है। इसकी पश्चिमी सीमा पर पंजाबी और राजस्थानी, दक्षिणी सीमा पर मराठी, पूर्वी सीमा पर बिहारी और बंगाली, तथा उत्तर में कुमाऊंनी और नैपाली भाषाएँ बोली जाती हैं। इनमें से पंजाबी, राजस्थानी, पश्चिमी

बिहारी, कुमाऊंनी और नैपाली भाषाएँ हिन्दी से बहुत अधिक साम्य रखती हैं। हिन्दी प्रधानतया तीन भागों में विभक्त है, (१) पूर्वी (२) पश्चिमी और (३) मध्यवर्ती। पूर्वी हिन्दी अर्द्धमागधी प्राकृत के अपभ्रंश से निकली है। इसके तीन मुख्य भेद हैं, अवधी, बघेली और छत्तीसगढ़ी। इनमें से अवधी का ही साहित्य (हमारे मत से) सब से बढ़ा चढ़ा है। तुलसीदास जी ने इसी भाषा में रामचरित मानस, बरवै रामायण, जानकी मंगल, पार्वती मंगल आदि की रचना कर इसे अमर कर दिया है। मलिक मुहम्मद जायसी की पद्मावती भी इसी भाषा में रची गई है। 'रहीम' कवि के 'बरवै नायिका भेद' ने भी इसी भाषा को अलंकृत किया है। कविता की भाषाओं में सब से अधिक आदर ब्रजभाषा ने पाया है। उससे अगर किसी भाषा की समता की जा सकती है तो वह अवधी है। भोजपुरी, मगधी और मैथिली का पूर्वी हिन्दी से ही अधिक सम्बन्ध जान पड़ता है, वास्तव में वे उसकी शाखाएँ नहीं हैं। इनका उद्भव मागधी प्राकृत के अपभ्रंश से हुआ है। अतः उनका सम्बन्ध जितना बिहारी, बंगला आदि से है उतना 'हिन्दी' से नहीं।

पश्चिमी हिन्दी शौरसेनी प्राकृत के अपभ्रंश से उत्पन्न हुई है। इसके कई भेद हैं जिनमें से खड़ी बोली, ब्रजभाषा, कन्नौजी, बुंदेली आदि मुख्य हैं। खड़ी बोली हिन्दी का वह रूप है जिसमें आधुनिक साहित्य लिखा जा रहा है। यह रूप दिल्ली, मेरठ, सहारनपुर, आगरा आदि के पार्श्ववर्ती प्रदेशों में उसी समय से प्रचलित है जिस समय अपभ्रंश भाषाएं मृत हो गई थीं और उनका स्थान वर्त्तमान संस्कृतोत्पन्न भाषाओं ने लिया था। चन्द बरदाई के पृथ्वीराजरासो में—बारहवीं शताब्दी के आरम्भ में—कहीं कहीं इसका स्वरूप दृष्टिगोचर होता है। परन्तु वास्तविक रूप में इसकी रचना अमीर खुसरो (सं० १३१२ वि०) के समय से उपलब्ध है। अस्तु, इस विषय को हम, प्रसंग से संबद्ध न रहने के कारण यहीं पर छोड़ते हैं।

हम पहिले कह आये हैं कि ब्रजभाषा की उत्पत्ति शौरसेनी—शूरसेन देश की—प्राकृत से है। शूरसेन देश के एक प्रान्त का नाम 'ब्रज' था।

अतः 'ब्रज' के आसपास बोली जाने वाली भाषा का नाम देश के नाम से ही 'ब्रजभाषा' पड़ा। यह भाषा गंगा-यमुना के मध्यवर्ती प्रान्त, यमुना के दक्षिण-पश्चिम कुछ दूर तक और ग्वालियर के राज्य में बोली जाती है। कन्नौजी और बुंदेली भी ब्रज-भाषा से बहुत साम्य रखती हैं। कन्नौजी और बुंदेली का साहित्य प्रायः नहीं के बराबर है। हाँ, ब्रज-भाषा का साहित्य खूब मिलता है। इतना प्रचुर और इतना सुन्दर कि जितना हिन्दी की किसी शाखा का नहीं है। जैसा कि ऊपर कह चुके हैं, इस भाषा के साहित्य से यदि कोई साहित्य सामना करने की क्षमता रख सकता है तो केवल अवधी का। भाषा विशेष की उन्नति के कई कारण हैं जिनमें से उस भाषा को राजाश्रय प्राप्त होना, धार्मिक सिद्धान्तों के प्रचार का साधनभूत होना, तथा उस भाषा में गीतों का गाया जाना, ये मुख्य हैं। सौभाग्य वश ब्रजभाषा को एक तरह से ये तीनों कारण मिल गये। किन्तु प्रथम कारण—राजाश्रय—नाममात्र को ही मिला। अतः उसको हम इतना महत्व नहीं देते। वैष्णव सम्प्रदाय के आचार्यों ने अपने धार्मिक उपदेश इन्हीं दो भाषाओं—अवधी और ब्रजभाषा—में दिये। जिनमें रामानन्द तुलसीदास जो आदि ने अवधी को अपनाया। पर अधिकांश महात्माओं ने—वैष्णव आचार्यों ने—ब्रजभाषा को ही अपने उद्देश्य साधन का उपकरण बनाया। महाप्रभु बल्लभाचार्य, सूरदास प्रमुख 'अष्टछाप' के कवि, तथा अन्यान्य अनेक महात्माओं ने ब्रजभाषा में ही रचनाएँ कीं। इसी भाषा में उन्होंने अपने उपदेश दिये, और इसी भाषा में भगवद्‌भजन के लिये सुन्दर सुकोमल कान्त पदावली से युक्त सुललित पदों को बना कर परमात्मा का गुणगान करके लोगों के निराश मन में शान्ति और स्फूर्ति भर दी। इसका परिणाम वही हुआ जो होना अवश्यम्भावी था, अर्थात् भारत के अनेक प्रान्तों में वैष्णव-धर्म के साथ ब्रजभाषा का भी प्रचार प्रचुरता से हो गया। वैष्णव साहित्य का काल ब्रजभाषा के साथ साथ हिन्दी साहित्य की उन्नति का काल माना जाता है। ब्रजभाषा इस समय उन्नति की चरम सीमा पर पहुँच गई थी। यही ब्रजभाषा की उत्पत्ति का संक्षिप्त इतिहास है।

* (व्रजभाषा की पहिचान)

किसी भाषा की पहिचान उसके उच्चारण, उसकी क्रियाओं, उसके सर्व-नामों के रूपों तथा उसकी विभक्तियों (कारक चिन्हों) से हो सकती है। अतः हम इन्हीं विषयों पर यहाँ कुछ लिख कर पाठकों को व्रजभाषा की पहचान करा देने का उद्योग करेंगे। सूरदास के समय में व्रजमंडल के कवियों ने परंपरागत काव्य भाषा में व्रज के शब्दों की भरमार करके उसे 'व्रजभाषा' का नाम दिया। व्रज में शब्दों का उच्चारण एक विशेष प्रकार से होता है। पहले उसे समझ लेना चाहिये।

१—'इ' के बाद 'अ' का उच्चारण व्रज को नहीं भाता, अतएव सन्धि करके 'य' कर देते हैं, यथा—

सिआर	से	स्यार
किआरी	से	क्यारी
विआरी	से	ब्यारी
विआज	से	ब्याज
विआह	से	ब्याह
पिआर	से	प्यार

२—'उ' के बाद 'अ' का उच्चारण व्रज को प्रिय नहीं, अतः सन्धि करके 'व' कर दिया जाता है, यथा—

कुँआर	से	क्वार
दुआर	से	द्वार

३—व्रजजन 'इ' से 'य' को और 'उ' से 'व' अधिक पसन्द करते हैं, यथा—

इह	से	यह
इहाँ	से	यहाँ

---

*इस अंश के लिखने में हमने अपने मित्र पं० रामचन्द्र शुक्ल कृत 'बुद्ध चरित' की भूमिका से बड़ी सहायता पाई है, अतः हम उनके आभारी हैं।

हियाँ से स्याँ
उह से वह
ऊ से वा
उहाँ से वहाँ
जाइहै से जायहै
पाइहै से पायहै
अइहै से अयहै (ऐहै)
जइहै से जयहै (जैहै)

४—'ऐ' और 'औ' का संस्कृत उच्चारण ('अइ' और 'अउ' के समानवाला) अब केवल 'य' और 'व' के पहले ही रह गया है, क्योंकि यहाँ दूसरे 'य' और 'व' की खपत नहीं हो सकती, जैसे गैया, कन्हैया, जुन्हैया, भैया और कौवा, हौवा, इत्यादि में।

५—व्रज के उच्चारण में कर्म के चिह्न 'को' का उच्चारण 'कौं' के समान अधिकरण के चिह्न 'में' का उच्चारण 'मैं' के समान हो जाता है।

६—माहिं, नाहिं, याहि, वाहि, इत्यादि शब्दों के उच्चारण में 'ह' के स्थान में 'य' बोलते हैं, जैसे—

माहिं से मायं
नाहिं से नायं
याहि से याय
वाहि से वाय
काहि से काय इत्यादि

७—'वै' का उच्चारण 'मैं' सा जान पड़ता है,

आवैंगे से आमैंगे
जावैंगे से जामैंगे

(विशेषताएँ)

(१) व्रज में साधारण क्रिया के तीन रूप होते हैं :—

(क) 'नो' से अंत होने वाला, जैसे—करनो, लेनो, देनो।

(ख) 'न' से अंत होने वाला, जैसे—आवन, जान लेन देन ।

(ग) 'बो' से अंत होने वाला, जैसे—करिबो, लैबो, दैवो, इत्यादि।

(२) सकर्मक क्रिया के भूतकाल के कर्ता में 'ने चिह्न' लगता है, जैसे "स्याम तुम्हारी मदन मुरलिका नेक सी 'ने' जग मोह्यो"।
सूरदास ने इसका प्रयोग कम ही किया है, पर किया जरूर है।

(३) सकर्मक भूतकालिक क्रिया का लिंग और वचन भी कर्म के अनुसार होते हैं, जैसे—हौं सखि नई चाह यक पाई। मैया री! मैं नाहीं दधि खायो।

(४) सब प्रकार की क्रियाओं में लिंग-भेद पाया जाता है।

(५) साधारण क्रियाओं के रूप तथा भूतकालिक कृदंत भी 'ओकारान्त' होते हैं, जैसे (साधारण क्रिया)—करनो, दैबो, देनों, दीबो, आवनो। (भूतकालिक कृदंत)—आयो, गयौ, खायो, चल्यो।

(६) क्रियाओं और सर्वनामों में कभी कभी पुराने और नये दोनों रूप पाये जाते हैं—जैसे—

	(पुराने)	(नये)
(क्रिया)	करहिं, करहु	करैं, करौ
	आवहिं, जाहिं	आवैं, जायँ
(सर्वनाम)	जिनहिं	जिन्हें
	तिनहि	तिन्हें
	जाहि	जाको
	ताहि	ताको

(७) 'जाना' और 'होना' क्रिया के भूतकालिक दो दो रूप होते हैं जैसे—

जाना	से	गया और गो, (बहुवचन) में गे।
होना	से	भया और भो, (बहुवचन में) भे।

(८) कभी कभी वर्तमान कृदंत दीर्घान्त भी होते हैं, जैसे—
आवतो, जातो, भावतो, सोवतो इत्यादि।

(९) (क) अवधी क्रियाओं के 'ब' में 'इ' मिला देने से विधि क्रिया हो जाती है, जैसे—आयबी, करबी, जानिबी इत्यादि।

(ख) खड़ी बोली की क्रिया के 'धातु' रूप में 'इयो' लगाने से भी विधिक्रिया बनती है जैसे—आना से आइयो, करना से करियो।

(१०) सर्वनाम उत्तम पुरुष कर्त्ता कारक—मैं, हौं (बहु० व० हम)
,, ,, सम्बन्ध कारक—मो, (,, ,, हमारो)
,, ,, कर्म कारक—मोकौ—हमको, हमहिं
,, मध्यम पुरुष कर्त्ता कारक—तू, तैं (बहुवचन तुम)
,, ,, सम्बन्ध कारक—तेरो (" तुम्हारो)
,, ,, कर्म कारक—तोकों, तुमकौं
सर्वनाम अन्य पुरुष कर्ताकारक—वह याको (बहुवचन वै, ते)
,, ,, सम्बन्ध कारक—ताको
,, ,, कर्मकारक—वाको, वाहि, ताको, ताहि।

(११) कारक चिन्ह लगाने के पहिले नीचे लिखे सर्वनाम यों बदलते हैं—
यह=या। वह=वा। सो=ता। को, कौन=का। जो, वौन=जा।

(१२) व्रजभाषा के कुछ विशेष कारक चिन्ह ये हैं
कर्ता का—ने करण का, सों तें
कर्म का—कौं सम्प्रदान का—कौं
अपादान का—तें संबन्ध का—को
अधिकरण का—मैं, मों, पै (कभी, पर भी)

(१३) संज्ञाएँ विशेषण और संबन्धकारक सर्वनाम प्रायः ओकारान्त होते हैं। जैसे (संज्ञा) घोरो, झगरो, ओसारो, किनारो।
(विशेषण) छोटा, बड़ो, ऊँचो, नीचो।
(सर्वनाम) अपनो, मेरो। तुम्हारो, तेरो।

(१४) सर्वनाम में कारक चिन्ह लगने के पहिले, अवधी भाषा की तरह, 'हि' नहीं लगता—जैसे,

अवधी में	व्रज में
काहि को	काको
जाहि को	जाको

अवधी में	ब्रज में
ताहि को	ताको
वाहि को	वाको

परन्तु सूरदास जी ने कहीं 'हि' लगाकर भी काम चलाया है। अस्तु, हैं तो और भी अनेक बारीकियाँ, पर चतुर पाठक इतनी बातें जान लेने से ब्रजभाषा को पहचान सकेंगे। अतः अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं जान पड़ती है।

ब्रजभाषा में परम्परागत पुरानी काव्यभाषा के प्रयोग अब तक भी थोड़े बहुत मिलते हैं, जैसे, लोयन, सायर, करहि, स्यामहि, दीह, छीन, हो, हौं, हुतो, स्यों, हि इत्यादि। प्राकृत, संस्कृत तथा अपभ्रंश प्राकृत की क्रियाओं के रूप अलग ही पहिचाने जा सकते हैं, जैसे—जीजै, उपजंत, करंत, पठंत इत्यादि।

खड़ी बोली और अवधी से तो ब्रजभाषा का चोली-दामन का सा साथ है। विदेशी भाषाओं (फारसी, अरबी, पंजाबी, गुजराती इत्यादि) से शब्द लेकर मनमाने ढंग से नया रूप दे देना तो इस भाषा की एक खास विषेषता हैं। इसी शक्ति से पुष्ट होकर यह भाषा भरपूर, मस्त और चुस्त हो गई है। इसके उदाहरण सूर की कृतियों में सर्वत्र पाये जाते हैं।

(उपयोगिता)

कविता के लिये ब्रजभाषा क्यों विशेष उपयोगी समझी जाती है, इस बात को स्पष्ट करने के पूर्व 'कविता क्या है'? इसका विवेचन करना परमावश्यक जान पड़ता है। कविता किसे कहते हैं इस विषय में आचार्यों के भिन्न भिन्न मत हैं। अपने अपने रुचिवैचित्र्य के अनुसार लोगों ने '' कविता ' की अनेक परिभाषाएँ की हैं। यदि पण्डितराज जगन्नाथ "' रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम् " कह कर काव्य की व्याख्या करते हैं, तो साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ कविराज ' शब्द ' की चमत्कृति को काव्य न मान कर कह बैठते हैं " वाक्यं रसात्मकम् "। परन्तु अम्बिकादत्त व्यासजी इन दोनों लक्षणों से सन्तुष्ट नहीं होते

वे कहते हैं कि केवल 'शब्द' और 'वाक्य' तक ही 'काव्य' को सीमित क्यों किया जाय। अतः उनकी सम्मति के अनुसार 'लोकोत्तरानन्ददाता प्रबंधः काव्यामभाक्' अर्थात् लोकोत्तर आनन्द देनेवाली 'रचना' ही 'काव्य' है। परिभाषा कोई चाहे किसी प्रकार क्यों न करे पर तात्पर्य सबका एक ही है. 'काव्य' उस भावपूर्ण रमणीय रचना को कहते हैं जो अन्तस्थल को स्पर्श कर चित्त में एक अभूतपूर्व लोकोत्तर आनन्द का संचार करती है। मानव-हृदय का एक स्वाभाविक गुण है कि वह कोमलता, मधुरता, सुन्दरता एवं सरलता को ही अधिक पसन्द करता है। अतः जिस रचना में इन गुणों के साथ-साथ हृदय को हिला देनेवाले भव्य भाव भरे हों वही 'कविता' है। उन भावों को व्यक्त करने के लिये शब्दावली की आवश्यकता है। 'शब्द' दो प्रकार के होते हैं—निरर्थक और सार्थक। निरर्थक शब्दों से हमारा कोई प्रयोजन नहीं। सार्थक शब्दों के पुनः दो भेद होते हैं—'रमणीय' और 'अरमणीय'। काव्य में अरमणीय शब्दों के लिये स्थान ही नहीं है। 'काव्य' बिना रमणीय शब्दो के 'काव्य' कहा नहीं जा सकता। अतः कोमल कान्त पदावली का होना काव्य में अत्यावश्यक है। कोई भाव कितना ही सुन्दर क्यों न हो अगर उसके लिये श्रुतिकटु शब्दों का प्रयोग किया जायगा तो वह मन को रुचेगा नहीं। इसके विपरीत 'कोमलकान्तपदावली' द्वारा साधारण बोलचाल की भाषा में भी रौनक आजाती है, शुष्क और कर्कश विषयों में भी नई जान सी आजाती है। 'कादम्बरी' के रचयिता 'कवि बाणभट्ट' के विषय में एक किम्बदन्ती प्रसिद्ध है। जब वे कादम्बरी का पूर्वार्द्ध मात्र समाप्त कर चुके थे और नायक को नायिका के पास पहुँचाया ही था, तब कराल काल ने कादम्बरी-कथाकार कवि के नाम स्वर्ग का 'समन' जारी कर दिया। अपनी इस अपूर्व कृति को अपूर्ण देख कर कवि के मन में महती ग्लानि हुई। तुरन्त अपने सुयोग्य सुत-युगल का स्मरण आते ही चित्त में ढाढ़स बँधा। तुरन्त अपने आज्ञाकारी विद्वान् पुत्रों को बुला भेजा। उनके आते ही उन्होंने सामने के एक सूखे पेड़ की ओर इशारा करते हुए जिज्ञासा की कि वह कौन सा पदार्थ है। ज्येष्ठ पुत्र ने,

जो विद्वत्ता में किसी से कम न था यह समझ कर कि एक सूखे पेड़ के लिये 'शुष्क शब्दावली' का ही प्रयोग करना समुचित है, झट से उत्तर दिया—'शुष्कोवृक्षस्तिष्ठत्यग्रे।' 'क्या ही विद्वत्तापूर्ण उत्तर था, एक सूखे पेड़ की शुष्कता का चित्र ही अपनी शब्दावली में खींच दिया। परुषावृत्ति के प्रयोग से उन्होंने पेड़ की शुष्कता का भान पूरी तरह से करा दिया। किन्तु कवि का चित्त इससे सन्तुष्ट न हुआ। पुनः उन्होंने अपनी जिज्ञासापूर्ण दृष्टि अपने लघु तनय की ओर फेरी। सुकवि का सुयोग्य पुत्र 'पुलिन्द' कहता है "नीरस तरुरिह विलसित पुरतः"। कमाल कर दिया। अपनी कोमल कान्त पदावली से सूखे पेड़ को भी हरा भरा कर दिया, नीरस तरु को सरस कर दिया। मरणासन्न पिता के मुख पर आनन्द की अपूर्व झलक दिखाई दी, पुलिन्द परीक्षा पास हो गया। कवि ने अपना कार्य-भार सुपुत्र को सौंप शान्ति की श्वास ली। कहने का तात्पर्य यह है कि कवि रूखे—मानव हृदय को न रुचने वाले—विषयों को भी अपनी कोमल कान्त पदावली से सरस कर देती है। व्याकरण, वेदान्त ऐसे ऐसे उबा डालने वाले विषयों को भी कवि-श्रेष्ठ कालिदास, गोस्वामी तुलसीदास, म० सूरदास आदि कवि पुङ्गवों ने बहुत ही सरस बना दिया है। ताड़का राम के बाणों से घायल हो खून से लदफद होकर मर जाती है। पर कालिदास अपने पाठकों के सामने वह अरुचिकारक बीभत्स दृश्य रखना पसन्द नहीं करते, वे कहते हैं—

> "राममन्मथशरेण ताडिता दुःसहेन हृदये निशाचरी।
> गन्धवद्रुधिरचन्दनोक्षिता जीवितेश वसतिं जगाम सा॥"

रघु० सर्ग ११ श्लोक २०।

इसी प्रकार तुलसीदास जी को भी देखिये। रणभूमि में रामचन्द्र जी विजय प्राप्त करके खड़े हैं। उनका शरीर राक्षसों के रुधिर के छींटों से भरापुरा है। पर कवि को इसमें भी बीभत्सता के बदले चमतकार ही नजर आता है, सौन्दर्य ही दृष्टिगोचर होता है। क्या सुन्दर कल्पना है, देखिये—

'भुजदंड सरकोदंड फेरति रुधिर कन तन अति बने।
जनु रायमुनी तमाल पर बैठी बिपुल सुख आपने ॥'
—लंका कांड

कवि-कौशल इसे कहते हैं। कवि अपनी प्रतिभा से अरुचि पूर्ण विषयों को भी रुचिपूर्ण दृष्टि से ही देखता है। कुरूप वस्तुओं को भी अपनी ललित पदावली का आवरण देकर सुन्दर बना देता है। ललित पदावली से एक ग्रामीण भी प्रसन्न हो जाता है। बालकों की तोतली बोली में गाली भी प्रिय जान पड़ती है। यही कारण है कि कविता के लिये हमको भाषा विशेष की आवश्यकता होती है। कुछ लोगों का कहना है कि कवि भाषा को आवश्कतानुसार कोमल बना सकता है। ठीक है, परन्तु कहाँ नैसर्गिक कोमलता कहाँ बनावटी कोमलता। आप मराठी भाषा को कितनी ही कोमल क्यों न बनावें वह बँगला की स्वाभाविक मधुरता को नहीं पा सकती। बँगला के पद बड़े कोमल होते हैं, और जो माधुर्य उनके गीतों में जान पड़ता है वह और भाषाओं में नहीं। ब्रजभाषा में भी ये उपर्युक्त सभी गुण वर्तमान हैं, वरन् मधुरता में बँगला से बढ़ कर है। हिन्दी के अन्तर्गत गिनी जाने वाली भाषाओं में से जो लालित्य, जो माधुर्य, जो मनमोहकता ब्रजभाषा में है वह और किसी भाषा में है ही नहीं। ब्रजभाषा में काव्य के उपयोगी रमणीय शब्दों की भरमार है। कर्णकटुता है ही नहीं। ब्रजभाषा में एक विशेष सिफत यह भी है कि इसमें हम शब्दों को स्वेच्छानुकूल बना सकते हैं। 'कृष्ण' से 'कान्ह' 'कन्हैया' कँधैया, कन्हुवा इत्यादि जैसे कोमल नाम दे देना तो इस भाषा के बायें हाथ का खेल है। 'हृदय' शब्द का 'हृकार' हृदय में काँटे सा गड़ता है, पर वही शब्द जब ब्रजभाषा में आकर 'हिय' हो जाता है तो कितना श्रुतिप्रिय मालूम पड़ता है। खड़ी बोली के कवियों को भी ब्रजभाषा के इन मधुर शब्दों का प्रयोग झख मार कर करना ही पड़ता है। अपनी कविता में लालित्य लाने के लिये कवियों ने इनका प्रयोग किया भी है। पर जो दुराग्रह वश इस सिद्धान्त को नहीं मानते उनकी कविता में खड़ी बोली का 'खड़ापन' कान फाड़े

डालता है। 'पर क्या न विषयोत्कृष्टता करती विचारोत्कृष्टता' में 'उत्कृष्टता' शब्द की कठोरता से और भी 'क्लिष्टता' आगई है। 'उत्कृष्टता' के स्थानपर यदि किसी समानार्थवाची कोमल शब्द का प्रयोग किया गया होता तो क्या ही सुन्दर होता। हमारे इस कथन से यह अभिप्राय कदापि नहीं है कि खड़ी बोली में कविता नहीं करनी चाहिये, अथवा खड़ी बोली की कविता में लालित्य आ ही नहीं सकता है। कवि की प्रतिभा के सामने कोई कार्य कठिन नहीं। खड़ी बोली में भी सुन्दर कविता हुई है, हो सकती है और होगी, पर ब्रजभाषा की नैसर्गिक मृदुलता कुछ और ही चीज है। खड़ी बोली का 'घोड़ा' शब्द लीजिये 'ब्रजभाषा' में आकर इसका रूप 'घोरो' हो गया है। 'ड़कार' का 'रकार' तो हो ही गया है, पर साथ ही 'आकार' का 'ओकार' भी हो गया है, 'आकार' के उच्चारण में हमें मुँह बनाना पड़ता है, 'ओकार' का उच्चारण करने में 'आकार' से कहीं अधिक सुगमता है।

ब्रजभाषा में वीर रस के अनुकूल ओज की भी कमी नहीं है। हम पहिले कह चुके हैं कि कविता के लिये 'रमणीय' शब्दों का ही प्रयोग किया जाता है। 'रमणीय' का अर्थ है जो जहाँ पर फब सके। भाव विशेष को व्यक्त करने के लिये शब्द विशेष की आवश्यकता होती है। इसलिये कविता के आचार्यों ने 'रमणीय' शब्दों के तीन विभाग किये हैं। जिनको वृत्तियाँ कहते हैं। वे वृत्तियाँ उपनागरिका, परुषा, और कोमला हैं। रस के अनुसार ही इन वृत्तियों का उपयोग किया जाता है। ब्रजभाषा में रसानुकूल भाषा का प्रयोग करने का नियम है। वीररस की कविता में 'टवर्गादि' परुषा वृत्ति के प्रयोग से ओज उत्पन्न किया जा सकता है। कुछ लोग ब्रजभाषा को जनानी भाषा बतलाते हैं। उनके अनुसार ब्रजभाषा में वीररस की कविता हो ही नहीं सकती, किन्तु यह भ्रम है। ब्रजभाषा में 'वीररस' की कविता की गई है। और उसमें पूर्ण सफलता भी प्राप्त हुई। गोस्वामी तुलसीदास जी ने रामचरित मानस प्रभृति अवधी भाषा के ग्रन्थों में 'वीर रस' का वर्णन एक तो किया ही बहुत कम है। दूसरे जहाँ कहीं थोड़ा बहुत किया भी है वहाँ वह ओज भी नहीं

टपकता है। 'वीररस' की कविता करने के लिये उन्होंने भी 'कवितावली' रामायण में ब्रजभाषा का ही आश्रय लिया है। कवितावली में 'वीररस' का वर्णन बड़ी ही उत्तमता और सफलता के साथ हुआ है। पढ़ते ही रग-रग में जोश आ जाता है। एक उदाहरण देखिये—

"मत्तभट-मुकुट-दसकंध-साहस-सइल,
सृंग—विद्दरिन जनु वज्र टाँकी।
दसन धरि धरनि चिक्करत दिग्गज कमठ,
सेष संकुचित संकित पिनाकी॥
चलित महि मेरु, उच्छलित सायर सकल,
विकल विधि वधिर दिसि विदिस झाँकी।
रजनिचर घरनि घर गर्भ—अर्भक स्रवत,
सुनत हनुमान की हाँक बाँकी॥"
लंकाकाण्ड छन्द, ४४।

कवि पद्माकर का भी निम्न उदाहरण देखिये तब निर्णय कीजिये कि ब्रजभाषा वास्तव में जनानी भाषा है या मर्दानी?

"बारि टारि डारौं कुंभकर्णहि विदारि डारौं,
मारौं मेघनाद आजु यों बल अनन्त हौं।
कहै 'पदमाकर' त्रिकूटहू को ढाहि डारौं,
डारत करेई जातुधानन को अंत हौं॥
अच्छहि निरच्छ कपि रुच्छ है उचारौं इमि,
तोम तिच्छ तुच्छन को कछुवै न गंत हौं।
जारि डारौं लंकहि उजारि डारौं उपवन,
फारि डारौं रावण को तो मैं हनुमंत हौं॥"

जिन महाशयों का इतने पर भी सन्तोष न होता हो, वे 'भूषण' की शिवाबावनी और छत्रसालदशक देखें। इसमें कोई छन्द ऐसा नहीं जो वीररस से लबालब न भरा हो। परन्तु उसकी भाषा 'ब्रजभाषा' ही है यद्यपि उन्होंने अरबी फारसी के शब्दों का भी प्रयोग बहुत किया है

किन्तु उसमें क्रिया, सर्वनाम और विभक्तियाँ, जो किसी भाषा की पहिचान के खास चिन्ह हैं, व्रजभाषा की ही हैं।

श्रृंगार रस के लिये तो हमें कोई भी भाषा व्रजभाषा के समकक्ष नहीं जान पड़ती। हिन्दी का साहित्य 'श्रृंगारमय' व्रजभाषा से ही भरा पड़ा है। हमारा तो विचार यह है कि व्रजभाषा में किसी भी रस की कविता उत्तमता से की जा सकती है। तीनों वृत्तियों के अनुकूल शब्दों की इसमें कमी नहीं है।

सब प्रकार के भावों को प्रकट करने के लिये व्रजभाषा में काफी शब्दावली हैं और आवश्यकतानुसार इसका शब्दकोष और भी बढ़ाया जा सकता है, किसी से उधार लेने की जरूरत नहीं पड़ती। लचीलापन व्रजभाषा का एक ऐसा गुण है जो और भाषाओं में इस परिमाण में देखने में नहीं आता। इसके लचीलेपन के कारण हम शब्दों को मनोवांछित रूप दे सकते हैं। इसी गुण के कारण कवियों ने व्रजभाषा को कविता के लिये विशेष उपयोगी समझा हैं। क्योंकि शब्दों के अभाव में जिस समय कवि को दूसरी भाषा से शब्द उधार लेने पड़ते हैं। या गढ़ने पड़ते हैं, उस समय बड़ी कठिन समस्या आ पड़ती है। अनुकूल शब्द न मिलने से भाव ही पलट जाता है। पर्यायवाची दूसरा शब्द रखने से भी भाव नष्ट हो जाता है। ऐसे स्थानों पर भाषा का लचीलापन ही उसकी कविता तरी का कर्णधार होता है। व्रजभाषा में इस गुण का प्राचुर्य है। इन्हीं सब विशेषताओं के कारण व्रजभाषा कविता के लिये सबसे उपयुक्त भाषा समझी गई है।

सूर का साहित्य

विक्रमीय सोलहवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध तथा समस्त सत्रहवीं शताब्दी हिन्दी साहित्य का बड़ा ही सौभाग्यशाली समय है। वैष्णव संप्रदाय के एक से एक अनुपम आचार्यों, महात्माओं और कवियों ने अपने जन्म से इसी समय को अलंकृत किया था। भक्तश्रेष्ठ कविरत्न महात्मा सूरदास जी का भी जन्म इसी समय हुआ था जिनके नाम से यह काल हिन्दी साहित्य के इतिहास में 'सौरकाल' (सं० १५६० से

सम्वत् १६३० विक्रमीय तक) नाम से प्रख्यात है। यह वह काल है जब व्रजभाषा का गगनाङ्गण—अथवा यों कहिये कि हिन्दी साहित्याकाश—महात्मा सूरदास ऐसे सूर्य की दिव्य प्रभा से आलोकित हो उठा था, यह वह समय है जिस समय व्रजभाषा का साहित्य-सूर्य अपने मध्याह्न काल में पहुँच चुका था ; यह वह समय है जब 'सूर' सूर-कर-विकसित कवि कुल-कमल कानन ने अपनी हरिभजन रूपी भीनी सुगन्ध से भक्तजनों के नासापुटों को आपूरित एवं परितृप्त कर उनको ब्रह्मानन्द के हिन्दोले में दोलायमान कर दिया था, यह वह समय है जब भक्तवर महात्मा सूरदास जी के काव्यामृत पान से सहृदय रसिक जन 'ब्रह्मानन्द' सहोदर काव्यानन्द का अनुभवकर आनन्द-सागर में गोते लगाते थे, और यह वह समय है जिसकी कीर्ति-कौमुदी आज तक हिन्दी साहित्य का मुख उज्ज्वल किये हुए हैं। वास्तव में यह एक अभूतपूर्व समय होगा, जब सूरदास की अमृतवर्षिणी जिह्वा से काव्यसंगीत एवं भक्ति की त्रिवेणी ने प्रवाहित होकर काव्यरसिकों, सङ्गीत प्रेमियों तथा भक्तजनों को निष्णात किया होगा। उस समय की महिमा विचारणीय ही है वर्णनीय नहीं। हमारी जड़ लेखनी इस कार्य में नितान्त असमर्थ है।

सूर-साहित्य कितना है, क्या है, कैसा है, इस विषय के निर्णय करने में अभी तक केवल कपोलकल्पित कल्पनाओं का ही आधार लेना पड़ता है। वास्तविक तथ्य का अभी तक कुछ भी पता नहीं। हिन्दी साहित्य का इतिहास भी इस विषय में मौन धारण किये हैं, करे भी तो क्या ? इसका पता चले कैसे ? हिन्दी के दुर्भाग्य से हिन्दी-साहित्य का बहुत सा अंश शासकों की शनैश्चर-दृष्टि से असमय ही अतीत की गोद में सो गया। न जाने कितने पुस्तकालय उनके कोपकृशानु में स्वाहा हो गये, इसका कोई प्रमाण नहीं। अतः ऐतिहासिक अन्वेषण के लिये सच या झूठ जो कोई आधार मिल जाता है लाचार उसे ही मान लेना पड़ता है यही दशा 'सूर साहित्य' के विषय में भी है। सूरदास जी ने क्या लिखा और कितना लिखा इसे कोई नहीं कह सकता, न इसके जानने का हमारे पास कोई साधन ही है।

सूरदासजी की कृतियों में से (१) सूर-सागर (२) सूरसारावली और (३) साहित्य लहरी—ये ही तीन ग्रन्थ विशेष प्रसिद्ध हैं। (१) व्याहलो, (२) नलदमयन्ती, (३) पदसंग्रह, (४) नागलीला आदि कई ग्रन्थ इनके और बतलाये जाते हैं, पर जैसा ऊपर कहा जा चुका है इनका कोई प्रमाण नहीं है, न ये ग्रन्थ ही उपलब्ध हैं जिनसे इस बात का यथातथ्य निर्णय किया जा सके। 'व्यासलो' किस प्रकार का ग्रन्थ होगा, उसमें किस विषय का वर्णन होगा यह किसी को ज्ञात नहीं अतः इस विषय में कुछ निर्णय करना समुचित नहीं। नलदमयन्ती के विषय में हमारी तो यह धारणा सी होती है कि यह ग्रन्थ सूरदास जी का नहीं हो सकता। इसका विषय सूरदासजी के दायरे के बाहर जान पड़ता है। ये बचपन से ही कृष्ण-भक्त थे। अतः कृष्णभक्ति को छोड़कर अन्य किसी प्रसंग का वर्णन करना इनके स्वभाव के अनुकूल नहीं जान पड़ता। 'तुलसी' और 'सूर' ने 'राम और कृष्ण' के अतिरिक्त और किसी विषय में कुछ लिखा ही नहीं होगा। वास्तव में भक्त अपने इष्टदेव के अतिरिक्त और किसी का वर्णन करना इष्टदेव के प्रति विश्वासघात करना समझता है। वह जो कुछ भी कहेगा सब किसी न किसी रूप में उसके इष्टदेव से ही संबद्ध होगा। दूसरे, सूरदास ने कोई काव्य-ग्रन्थ लिखा है इस बात का अभी तक कोई प्रमाण नहीं है। वे पद लिखा करते थे। उनके सभी पद गाने के लिये होते थे; इसलिये उन्होंने खूब सोच समझ कर ही श्रीकृष्ण को अपना आधार बनाया था। 'नल दमयन्ती' का प्रसंग गाने के लिये उपयुक्त विषय नहीं। यह काव्य का विषय, जिस पर काव्य ही नहीं 'नैषध' ऐसे महाकाव्यों की रचना हो सकती है। अस्तु जो कुछ भी हो जब तक इस ग्रन्थ की कोई प्रति प्राप्त न हो सके तब तक इस विषय में अपना मत प्रकाश करना ठीक नहीं। 'सूरदास' नाम से प्रसिद्ध हिन्दी साहित्य में तथा वैष्णव सम्प्रदाय के भक्तों में कई व्यक्ति हैं जिनमें से 'विल्वमंगल' 'मदनमोहन' एवं अष्टछाप के प्रसिद्ध कवि सूरदासजी विशेष परिचित हैं। अतः यह सम्भव हो सकता है कि ये ग्रन्थ 'अष्टछाप' के 'सूरदास' के न होकर किसी अन्य 'सूरदास' के हों। 'पदसंग्रह' आदि

के विषय में भी यही बात कही जा सकती है। अथवा 'सूरसारावली' की भाँति ये भी 'सूरसागर' से संग्रह किए गये होंगे। ये पुस्तकें अभी तक किसी के देखने में नहीं आईं। अतः इसका निर्णय भी विवाद-ग्रस्त ही है।

अब हम सूरदासजी की उन कृतियों की ओर चलते हैं जो उनके नाम से प्रसिद्ध तो हैं ही साथ ही प्राप्य भी है। अतः इनको सूरदास-कृत मानने में प्रमाण भी मिल जाते हैं। इनमें सूरदासजी के व्यक्तित्व की—उनके कवित्व की—छाप है, जिससे उसको पहिचानना किसी साहित्यमर्मज्ञ के लिये कोई कठिन कार्य नहीं है। सूरसारावली सूरसागर के पश्चात् रची हुई जान पड़ती है। यह कोई पृथक् ग्रन्थ नहीं है। किन्तु सूरसागर की सूची ही है! सुतरां सूरसागर ही एक ऐसा ग्रन्थ है जो सूरदासजी की कीर्ति कौमुदी से हिन्दी-साहित्य को उज्ज्वल किये है। और जो कुछ ग्रन्थ हैं वे या तो सूरसागर के सामने कोई मूल्य नहीं रखते या सूरसागर के सार-भाग हैं।

'सूरसागर' सूरदासजी का कोई 'प्रबन्ध काव्य' नहीं है। अतः इसकी गणना रीति बद्ध 'महाकाव्यों' में नहीं की जा सकती। सूरदास श्रीकृष्णजी की भक्ति की उमंग में आकर हरिभजन सम्बन्धी पदों की रचना करते थे और प्रेम के आवेश में विह्वल होकर अपने वीणाविनिन्दित ललित स्वर से उन्हें गाया करते थे। 'सूरसागर' 'सूर' शिष्य-संकलित उन्हीं सुकोमल पदावलियों का स्फुट संग्रह मात्र है। इस ग्रन्थ को हम उसी श्रेणी में रख सकते हैं जिसमें 'तुलसीदास' जी की 'गीतावली' है। ये दोनों 'गीत-काव्य' कहे जाते हैं। गीतावली तुलसीदास कृत रामभजन सम्बन्धी पदों का समूह है। जिन्हें वे समय समय पर बनाया करते थे। पीछे से उन्होंने ही अथवा उनके शिष्यों ने रामायण के कथा-प्रसङ्ग के अनुसार उनका क्रम बद्ध संग्रह करके 'गीतावली रामायण' बना डाला। स्वयं 'तुलसी' ने यह ग्रन्थ इस क्रम से रचा हो ऐसा नहीं जान पड़ता, क्योंकि इसके कई पदों में पुनरुक्ति है—एक ही प्रसङ्ग कई बार आ गया है। ठीक इसी प्रकार 'सूरसागर' का भी निर्माण हुआ है। सूरदासजी

के पदों का संग्रह सूरसागर में श्रीमद्भागवत के क्रम से किया गया है। श्रीमद्भागवत के अनुसार सूरसागर भी बारह स्कन्धों में बँटा है। पर दशम स्कन्ध के पूर्वार्द्ध को छोड़कर शेष सब स्कन्ध इतने छोटे हैं कि सूर-सागर को श्रीमद्भागवत का अनुवाद मानने में संकोच होता है। दूसरे इसमें कोई कथा बहुत ही संक्षेप रूप में है; और किसी का विस्तार आवश्यकता से अधिक है और साथ ही कई प्रसंगों की अनेक पुनरा-वृत्तियाँ हो गई हैं। यदि सूरदासजी ने 'सूरसागर' को श्रीमद्भागवत के ढंग से लिखा होता तो ये सब बातें उसमें न आने पातीं। वह ठीक उसी सिलसिले में लिखा गया होता जिस शैली के अनुसार श्रीमद्भागवत ग्रन्थ लिखा हुआ है। इन कारणों से हम 'सूरसागर' को श्रीमद्भागवत का अनुवाद नहीं मान सकते। यह जैसा कि हम कह चुके हैं— 'सूरदास' जी के गाये हुए पदों का श्रीमद्भागवतानुक्रम से संकलित संग्रह मात्र है। सूरदास भक्ति की उमंग एवं प्रेम के आवेश में समय समय पर अनेक पद एक साथ रच डालते थे। अतः कथा प्रसङ्गों का न्यूनाधिक होना अथवा एक ही विषय की पुनरावृत्ति का होना बहुत स्वाभाविक है। यह ग्रन्थ 'प्रबन्ध काव्य' की दृष्टि से नहीं रचा गया है। अतः इन सब दोषों की गिनती 'काव्य दूषणों' में नहीं की जा सकती। सूरसागर में एक प्रकार से समस्त भागवत की कथा आ गई है। किन्तु दशम स्कन्ध में श्रीकृष्णजी की लीला का वर्णन खूब विस्तारपूर्वक किया गया है और यही सूरदासजी का मुख्य ध्येय भी था।

यह प्रसिद्ध है कि सूरदासजी के 'सूरसागर' की पद संख्या सवालाख है। पर इतने पद अभी तक किसी ने देखे या नहीं इसमें संदेह है। 'सूरसागर' के कई एक संस्करण निकल चुके हैं जिनमें से नवलकिशोर प्रेस लखनऊ, वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई और बङ्गवासी प्रेस, कलकत्ता के संस्करण प्रसिद्ध हैं। इन संस्करणों में किसी में चार किसी में पाँच हजार से अधिक पद नहीं मिलते। इन सब प्राप्य संग्रहों का एक नूतन संस्करण निकाला जाय तो भी दस हजार पद बड़ी मुश्किल से मिलेंगे। सवालक्ष पदों की कई प्रतियों का पता ऐसे लोगों के यहाँ मिलता है जो उसको

छिपाने में ही अपना महत्व समझे बैठे हैं। सुनने में आता है कि सवा-लाख पदों का एक संग्रह करौली राज्य के किसी वल्लभ-सम्प्रदाय के गोस्वामीजी के पास है पर किसी ने अभी तक उसे देखा नहीं, अस्तु जो कुछ भी हो, सूरदासजी के १०,००० से अधिक पद इस समय देखने में नहीं आते।

सूरदासजी का सूरसागर वास्तव में एक अपूर्व ग्रन्थ है। ग्रन्थ नहीं, किन्तु प्रेम, कविता एवं सङ्गीत रूपी सरिताओं के सलिल से सम्पूरित सचमुच सागर ही है। एक एक पद उस सागर का एक एक अमूल्य रत्न हैं। जितने पद प्राप्त हैं वे ही सूरदासजी को कविश्रेष्ठ सिद्ध करने के लिये पर्याप्त हैं। अपने विषय में सूरदासजी सबसे आगे बढ़े हैं। हरि-भक्त लोग 'सूरसागर' को मथ कर उसमें से हरि-भक्ति रूपी 'अमृत' निकाल कर 'अमरता' प्राप्त करते हैं। काव्यप्रेमी रसिक जन-समुदाय 'कवितामृत' का पान कर ब्रह्मानन्द के सहोदर 'काव्यानन्द' का मजा लूटते हैं! फिर संगीत रसिकों का तो कहना ही क्या? वे संगीत के एक एक सुर में सुरलोक को न्यौछावर कर सकते हैं। यदि सूरदासजी के सवालाख पदों का पता चल जाय तो कह नहीं सकते कि तब समालोचक समुदाय सूरदासजी को कौनसा स्थान देगा? अभी सूरदासजी अपने विषय में किसी से घट कर नहीं हैं। तब तो उनका साहित्य इतना अधिक हो जायगा जितना कि हिन्दी का सम्पूर्ण साहित्य मिलाकर भी न हो सकेगा। हमारी समझ में हिन्दी साहित्य तो दरकिनार, तब तो संस्कृत, अंग्रेज़ी ही क्या संसार के किसी भी कवि का साहित्य इतने प्रचुर परिमाण में और इतना उत्तम नहीं होगा। सवालाख पद लिख जाना कोई आसान काम नहीं है। इस समय तो यह बात गप सी जान पड़ती है, स्वप्न सी प्रतीत होती है। पर हमारे पास लोगों में यह बात सिद्ध करने के लिये कोई प्रमाण भी तो नहीं है। अस्तु, बाकी पद मिलें चाहे न मिलें, जितने पद प्राप्य हैं वे कम नहीं हैं। अतः यथालाभ सन्तुष्ट ही समीचीन है। ऐसा सुना है कि अष्टछाप के परमानन्ददास का लिखा एक 'परमानन्दसागर'

भी ऐसा ही ग्रन्थ है पर हमने उसे देखा नहीं हाँ उसके कुछ पद सुने तो ज़रूर हैं।

अन्त में हम सूर-साहित्य के विषय में दो एक बातें और भी कह देना उचित समझते हैं 'सूरसागर' में हमें पाठान्तर बहुत मिलते हैं। ऐसा केवल 'सूरसागर' में ही हो, सो नहीं, किन्तु हमारे प्राचीन सभी ग्रन्थों में एक प्रकार से पाठान्तर का रोग सा लग गया है। लिपि-प्रमादों से, प्रेस की भूलों से, श्रवण-दोष से अथवा अन्य कारणों से पाठान्तर हो जाना सम्भव है। सूरसागर के विषय में तो यह बात विशेष रूप से लागू है। उनका साहित्य गाने के लिये पहिले ही से काम में लाया जाता है। अतएव जिह्वादोष से 'खिचड़ी' का 'खचड़ी' होना बहुत आसान है। इन सब कारणों से हमें कई स्थलों पर पाठ-निर्णय करने में बड़ी कठिनता का सामना करना पड़ा है। हमें जो पाठ अच्छा जँचा वही स्वीकार किया है। लोग हमें प्रायः पाठ बदलने और पाठान्तर न देने का दोष लगाते हैं। पहिले अपराध के विषय में हमारा यह कहना है कि हम पाठ अपनी इच्छानुसार नहीं बदलते। कई पुस्तकों का पाठ मिलाकर जो उचित जान पड़ता है वही रखते हैं। दूसरे अपराध के विषय में हमें कुछ नहीं कहना है। हम पाठान्तर देने के बिलकुल विरोधी हैं। ठीक ठीक पाठ का वर्णन न कर सकना और पाठान्तर देकर पाठकों को गड़बड़ी में डालना हम उचित नहीं समझते। इससे पाठकों का उपकार तो कम होता है सन्देह की मात्रा अधिक बढ़ जाती है।

प्रस्तुत पुस्तक का नाम हमने 'सूर-पंच-रत्न' रक्खा है। 'सूरसागर' केवल नाममात्र को ही 'सागर नहीं, किन्तु 'रत्नाकर' है। इसी रत्नाकर-सागर में गोता लगाने से ही पाँच रत्न हमारे हाथ आये, और हमने इनको संग्रहीत कर लिया। सूर-सागर में एक से एक अनूठे रत्न भरे पड़े हैं। पर हमें यह संग्रहीत रत्न ही सबसे श्रेष्ठ जान पड़े। सम्भव है 'भिन्न रुचिर्हि लोकः' के अनुसार हमारा अनुमान गलत हो किन्तु ये वास्तव में रत्न हैं, इसमें सन्देह नहीं। कवि का असली रूप हमको (१) विनय, (२) बालकृष्ण (३) रूपमाधुरी, (४) मुरली-माधुरी और (५) भ्रमर

गीत में ही दृष्टि-गोचर होता है। सच पूछिये तो कवि की आत्मा इन रत्नों में प्रकट होती हैं। कवि इन्हीं रत्नों में अन्तर्हित जान पड़ता है। हमारी समझ में सूर के पदों में से यदि इन विषयों से सम्बन्ध रखने वाले पद निकाल दिये जायँ तो 'सूर' का वह स्वरूप गायब हो जाता है जो उनको जगच्चक्षु सूर की पदवी से विभूषित किये हुए हैं। इन विषयों की विशेष आलोचना समालोचना 'स्तम्भ' में की जायगी।

४—सूर की शैली

प्रत्येक कवि का एक अलग अलग मार्ग होता है। कविता करने का एक विशेष ढंग होता है। उसी ढंग या प्रकार को शैली (Style) कहते हैं। किसी कवि की कविता शैली में ही कवि का वास्तविक स्वरूप लक्षित होता है। कवि का प्रतिबिंब झलकता है। 'शैली' कवि के व्यक्तित्व की विशेष छाप है। कवि के मन की सजीव प्रतिकृति है। कवि की आन्तरिक भावनाओं को प्रकट करने के लिये मंजु मुकुर है। कवि अपनी कविता में अपना हृदय खोल कर रख देता है। अतः किसी कवि की कविता का अध्ययन करने के पूर्व उस कवि का स्वरूप जान लेना आवश्यक है। बिना कवि का अध्ययन किये उसकी कविता हृदयंगम हो नहीं सकती। कवि की शैली का ज्ञान हुए बिना उसकी कविता रूखी और चमत्कार-हीन जान पड़ती है। उसका अर्थ ही समझ में नहीं आता। प्रत्येक महा-कवि की एक निजी शैली (Style) होती है। छोटे कवियों की भाँति वे किसी की शैली का अनुकरण नहीं करते। किसी महाकवि की शैली का अध्ययन करने के उपरान्त इस बात की पहिचान करने में कोई काठिन्य नहीं बोध होता कि अमुक कविता उस कवि की है या नहीं। बहुधा लोग कहा करते हैं कि अमुक दोहा 'तुलसी' का नहीं है, अमुक दोहा 'बिहारी' का नहीं जान पड़ता। कारण यही है कि उनमें 'तुलसीत्व' या 'बिहारीत्व' का अभाव है। 'तुलसीत्व' की मुहर न रहने से ही 'रामचरित मानस' में से तिलतन्दुलन्याय से क्षेपक अलग किये जा सकते हैं। आप 'तुलसी' और 'सूर' के पदों को मिला दीजिये,

'तुलसी' और 'सूर' की शैली का जानकार खट से यह बतला देगा कि अमुक पद अमुक कवि का है। गंभीर दृष्टि से विचार करने पर यह पता आसानी से लग जायगा कि कौन किस कवि की रचना है। हाँ जब कवि हृदय से कविता नहीं करता तब उसकी कविता में कवित्व ही नहीं आता और तब उसका स्वरूप पहिचानने में भी अवश्य कठिनाई पड़ती है।

यही बात हम सूरदासजी के बारे में भी कह सकते हैं। यदि सूरदासजी का वास्तविक स्वरूप जानना है, उनकी मानसिक भावनाओं की थाह लगानी हो, उनकी शैली का अध्ययन करना हो तो उनके 'विनय' 'बालकृष्ण' और 'भ्रमर-गीत' इन तीन प्रसंगों का अध्ययन और मनन कीजिये। साफ मालूम हो जायगा कि सूर क्या थे। सूर ने और भी बहुत कुछ कहा है। और इतना अच्छा कहा है जितना वे ही कह सकते थे, पर इन तीनों प्रसंगों में तो उन्होंने अपना हृदय ही खोलकर रख दिया है। पद पद पर 'सूर' अन्तर्हित जान पड़ते हैं। विनय में हम सूर को अनन्य भगवद्भक्त के स्वरूप में पाते हैं। 'बालकृष्ण में' हम उन्हें 'नंद-यशोदा' के स्वरूप में श्रीकृष्ण को लाड़ लड़ाते हुए देखते हैं और यही 'सूर' 'भ्रमर-गीत' में साक्षात् 'गोपी' वेश में 'ऊधो' से तर्क वितर्क करते और उनको 'बनाते' दृष्टिगोचर होते हैं। 'सूर' का 'सूरत्व' इन्हीं तीन प्रसंगों में विशेष रूप से दिखाई देता है। इन प्रसंगों को सूर' की रचना में से निकाल दीजिये तो 'सूर' का स्वरूप ही छिप जायगा। बिना इन तीन प्रसंगों के 'सूर' का साहित्य सारहीन हो जायगा। ये तीन प्रकरण ही सूरसागर की जान है। इसी शैली को ध्यान में रखने से 'सूररामायण' में 'सूर' के हृद्‌योद्‌गार नहीं भासते उनमें 'सूरत्व' का अभाव सा है। उसकी रचना में हमें सूर का चित्र नहीं दिखलाई देता, सूर की प्रकृति का पता नहीं चलता। वह या तो उनकी रचना नहीं है और है भी तो हृदय से नहीं निकली है। किसी दबाव से कही गई है।

सूरदासजी गीतों में गाये जानेवाले पदों में ही कविता करते

हैं। यद्यपि दोहा चौपाई श्लोक आदि भी गाये जा सकते हैं और गाये भी जाते हैं परन्तु 'पदों' का संगीत से विशेष संबन्ध है। दूसरे प्रकार के पद्यों को गेय बनाने में बहुत खींचातानी करनी पड़ती है, किन्तु 'पदों' में राग-ताल का बन्धान बाँधना सुगम, सरल और स्वाभाविक होता है। गीतों में कविता हिन्दी-साहित्य में सूर के पहिले भी कबीरसाहब और अन्य कवि कर चुके है। पर जो स्वाभाविकता और जो लालित्य हम 'सूर' के पदों में पाते हैं वह और कहीं नहीं। वेदान्त विषयक गीत बहुतों ने बनाये हैं; पर किसी कथा-प्रसंग को लेकर गीत रचना पहिले पहल 'सूर' का ही काम है। व्यावहारिक वर्णनों और कथा प्रसंगों में ही सूर ने अधिकतर 'गीत-काव्य' की रचना की है। वेदान्त ऐसे रुक्ष विषयों, माया जीव के पचड़ों में तो बहुत कम की है। यही कारण है कि गवैये अधिकतर 'सूरदास' जी ही के पद गाते हैं। सूरदासजी के पदों का जनता में जो प्रचार और मान है वह और किसी कवि के पदों का नहीं। 'सूर' के बाद अगर किसी के पदों का प्रचार है तो वह 'मीराबाई' और 'तुलसी' के श्रीकृष्ण-प्रेम श्रीराम-भक्ति संबन्धी पदों का ही है। सूर की यह पहिली विशेषता है कि उन्होंने केवल 'पदों' में कविता लिखी।

'सूरदास' 'तुलसी' की भाँति बार बार ईश्वरीय महत्ता की आवृत्ति नहीं करते। कहीं कथा प्रसंग में भूल कर पाठक परमात्मा को विस्मृत न कर दें इस विचार से 'तुलसी' बार बार पाठक को परमात्मा की याद दिलाते जाते हैं। पर 'सूर' में यह बात नहीं है। कथा प्रसंगों के बीच में तो वे ऐसा बहुत ही कम करते हैं। हाँ, विनय की बात दूसरी है। वहाँ भी ईश्वरीय महत्ता की इतनी पुनरावृत्ति नहीं की है जितनी की तुलसी ने। वर्णन करते हुए ईश्वर को बीच में लाना 'सूर' की प्रकृति के विरुद्ध जान पड़ता है। इस पुनरावर्त्तन के कम होने से स्वाभाविकता की वृद्धि भी हुई है। एक बात यह भी है कि वे चाहे प्रत्यक्षरूप में बार बार ईश्वर का जिक्र न भी करें किन्तु उनके अधिकांश पद ध्वनि से ईश्वर की ही ओर घटते हैं। भ्रमरगीत में इस प्रकार के पदों की भरमार है। गोपियों और ऊधो की बातचीत का तत्व 'ईश्वर की साकार उपासना का मंडन' ही

है। एक एक पद प्रच्छन्न रूप से ईश्वर प्रेम की महिमा ही व्यंजित करता है; परन्तु उसके पदान्त 'तुलसी' की भाँति ईश्वर-महत्ता के कथन से वेष्टित नहीं वरन् सादे भावों से भरे मिलते हैं।

सूरदासजी की कविता में आम बोलचाल के शब्द और मुहावरे ज्यों के त्यों प्रयुक्त हुए हैं। तुकान्त के अतिरिक्त पद्य के मध्य में वे बनावटी या गढ़े शब्दों के रखने से बराबर विरत रहे हैं। उदाहरण लीजिये।

१—तुम बिन और न कोउ कृपानिधि 'पावै पीर पराई'।

२—'सूर' श्याम के नेक विलोकत भवनिधि जाय तिरानौ।

३—अजामील गनिकाहि आदि दै पैरि 'गह्यो पैलो'।

४—'सूरदास' प्रभू करत दिननि दिन ऐसी 'लरकि-सलोरी'।

५—'ख्याल परे' ये सखा सबै मिलि मेरे मुख लपटायो।

६—बहुत 'लँगरई' कीनी मोसो भुज गहि रजु ऊखल सों जारै।

७—आई 'छाक' बुलाये स्याम।

८—कत पटपर गोता मारत हौ 'निरे भूड़ के खेत'।

सूरदास शब्द गढ़ते बहुत कम हैं। जहाँ कहीं इन्हें शब्द गढ़ना भी पड़ता है, वहाँ उन्हें बहुत ज्यादे कष्ट नहीं करना पड़ता। शब्द का रूप इतना विकृत नहीं हो जाता है कि मूल सर्वथा विभिन्न जान पड़े, बल्कि अपने असली रूप से मिलता जुलता ही रहता है, जैसे:—

१—'तैलक वृष' ज्यों भ्रम्यो भ्रमहि भ्रम भज्यो न सारंगपानि।

२—'इद्री जूथ संग लिये विहरत तृसना कानन 'माहे'।

३—'सूर' प्रभू कर सेज टेकत, कबहु टेकत 'ढहरि'।

४—'लोटत पुहुमि 'सूर' सुन्दर घन-चारि पदारथ जाके हाथ'।

५—मनहुँ कमल 'दधिसुत' ममयो तकि फूलत नाहिन सर तें।

६—'फाटक' देकर हाटक माँगत भोरिय निपट सुधारी।

जहाँ कहीं 'सूर' को तुकान्त के लिये शब्दों की तोड़ मरोड़ करने की बहुत अधिक आवश्यकता पड़ती है वहाँ ये 'अपि मापं मषं कुर्यात् छन्दोभंगं न कारयेत्' के अनुसार कविस्वातन्त्र्य का परिचय दे ही तो देते हैं। किन्तु शब्द अपने मूल रूप से तो भी सर्वथा भिन्न नहीं होता। जैसे:—

१—सुनत ही सब हाँकि ल्याये गाइ करि 'इकठैन'।
हेरि दे दे ग्वाल बालक किय जमुन तट 'गैन'॥
२—आनि देहिं हम अपने करते चाहति जितक 'जसोवै'।
३—ज्यों बालक अपराध कोटि करै मान मारै 'तेय'।
४—ते वेली कैसे दहियत है जे अपने रस 'भेय'।
५—श्री शंकर वहु रतन त्यागि कै विषहिं कंठ 'लपटेय'।

'सूर' की शैली का एक गुण 'कथन की विशेषता' है। जो कुछ कहेंगे उसे इतना स्पष्ट कर देंगे कि कोई जिज्ञासा ही नहीं रहने पायेगी। प्रत्येक बात को वे साफ साफ खुलासा करके कह देते हैं। महाकवियों में कथन की विशेषता बहुत अधिक परिणाम में होती है। यह बात तुलसी में भी है, पर वे सूर को तरह सर्वत्र इस प्रणाली को काम में नहीं लाते। रावण को "कह दसकन्ध कौन तै बन्दर" का उत्तर अंगद देते हैं "मैं रघुवीर दूत दसकन्धर" यह उत्तर क्या है कोरा लट्ठ है। बन्दर, शब्द के जवाब में 'दशकंधर' शब्द खूब फबता है। पर रावण के इसी प्रकार के प्रश्न "कह लंकेश कवन तै कीसा। केहि के बलि घालेसि बन खीसा" आदि का प्रत्युत्तर हनुमानजी के मुख से भी सुन लीजिये—

"सुनु रावन ब्रह्मांड निकाया। पाइ जासु बल विरचित माया॥
जाके बल बिरंचि हरि ईसा। पालत सृजत हरत दससीसा॥
जाके बल लव लेस तें जितेहु चराचर झारि।
तासु दूत मैं जाकर हरि आनेहु प्रिय नारि॥"

इसे कहते हैं 'कथन की विशेषता' इसका उत्तर भी 'मैं रामजी का दूत हनुमान हूँ' इन्हीं सीधे शब्दों में दिया जा सकता था पर नहीं, जो प्रभाव जो आतंक इस स्पष्ट कथन का हो सकता है वह सीधे सादे उत्तर में नहीं। 'सूर' तो इस विषय में जरा भी नहीं चूकते। वह कोरा प्रत्युत्तर न देकर एक विशेष ढंग से कहेंगे, जो कुछ कहेंगे उसे स्पष्ट भी कर देंगे। यही उनका नियम है। स्पष्ट कथन के लिये उन्हें एक ही बात कई प्रकार से कहनी पड़ती है। भ्रमर-गीत का विषय कोई बहुत बड़ा नहीं है। उसे स्पष्ट करने के लिये उन्हें वही विषय प्रकारान्तर से बार बार

कहना पड़ा है। इसी स्पष्ट कथन के कारण उनके कथन में पुनरुक्ति का होना एक साधारण सी बात हो गई है। यह स्वाभाविक ही है। ऊधो गोपियों से कहते हैं कि परमात्मा 'निर्गुण' है। उसी निराकार स्वरूप की उपासना करो। गोपियों का सीधा-सादा उत्तर तो यही है कि हमें यह निर्गुण का ज्ञान नहीं रुचता, आप जाकर किसी दूसरे को सिखाइये, पर जरा उनके कहने का ढंग देखिये—

> ऊधो ब्रज में पैंठ करी
> वह निरगुन निरमूल गाँठरी अब किन करहु खरी ॥
> नफा जानि कै ह्याँ लै आये सवै वस्तु अँकरी।
> यह सौदा तुम ह्याँ लै बेचो जहाँ बड़ी नगरी ॥
> हम ग्वालिन, गोरस दधि बेचौ लेहिं अबै सबरी।
> 'सूर' यहाँ कोउ गाहक नाहीं देखियत गरे परी ॥

कहने का अभिप्राय यह है कि यह निर्गुण का ज्ञान तुम कहाँ सिखा रहे हो जहाँ कोई इसकी कदर करने वाला नहीं, वही बड़ी नगरी 'मथुरा' में जाकर इस ज्ञान का प्रचार करो—अर्थात् जिन श्रीकृष्णजी ने तुमको यह ज्ञान हमें सिखाने को भेजा है, उन्हीं को समझाओ, हमें जरूरत नहीं।

एक ही बात, चाहे वह अति साधारण ही क्यों न हो 'सूर' कई प्रकार से कहते हैं, और ज्यों का त्यों कहते हैं। श्रीकृष्णजी की केवल भुजा के वर्णन में ही 'सूर' एक सारा का सारा पद कह जाएँगे—पर केशव की भाँति पांडित्य प्रदर्शन के लिये नहीं वरन् अपने रजिस्टर्ड सादे शब्दों में—

> "स्याम भुजा की सुन्दरताई।
> चंदन खौरि अनूपम राजत सो छवि कही न जाई ॥
> बड़े विसाल जानु लौं परसत इक उपमा मन आई।
> मनो भुजंग गगन तें उतरत अधमुख रह्यो झुलाई ॥
> रतनजटित पहुँची कर राजत अँगुरी मुंदरी भारी।
> 'सूर' मनो फनि सिर मनि सोभत फन फन की छवि न्यारी ॥

मुरली के वर्णन में न जाने सूर कितने पद कह गये हैं। मुरली की ध्वनि सुनते ही गोपियाँ अपनी कुल-कानि छोड़कर श्रीकृष्ण के साथ 'रास-रचने' को चली जाती हैं इसी एक बात को कितने विस्तार से कहा है—

मुरली सुनत भई सब बौरी। मनहुँ परी सिर माँझ ठगौरी।
जो जैसे सो तैसे दौरी। तनु व्याकुल सब भई किसोरी॥

बाललीला और भ्रमरगीत-विषयों को सूर ने इतना अधिक कहा है कि इनका साहित्य इन्हीं से भर गया है। खाना, पीना, सोना, खेलना, रोजमर्रा की साधारण बातों को भी बहुत विस्तार से कहा है, पर मजाल क्या कि उनके पढ़ने से जी ऊब जाय। जितना पढ़िये उतना ही चमत्कार बोध होगा। यह विषय एक दो उदाहरणों से नहीं समझाया जा सकता। सारी पुस्तक उदाहरणों से ही भरी हैं। जो पद हाथ आ जाय वही इसका प्रमाण हो सकता है।

अद्भुत्य से सूरदासजी को बहुत प्रेम है। कोई भी पद अद्भुत रस से खाली नहीं, ये कोई भी बात 'आगे चले बहुरि रघुराई' की तरह सीधे ढंग से कहेंगे नहीं। कोई न कोई अद्भुत कल्पना इनके प्रत्येक पद में रहेगी ही। मुरली के सम्बन्ध की एक अपूर्व कल्पना तो देखिये—

मुरली तऊ गोपालहिं भावति।
सुनि री सखी जदपि नँदनंदहि नाना भाँति नचावति॥
राखत एक पाँय ठाढ़ो करि अति अधिकार जनावति।
कोमल अंग आपु आज्ञा गुरु कटि टेढ़ी ह्वै जावति॥
अति आधीन सुजान कनौड़े गिरिधर नारि नवावति;
आपुनि पौढ़ि अधर सेज्या पर कर पल्लव सन पद पलुटावति॥
भृकुटी कुटिल फरक नासा पुट हम पर कोपि कुपावति।
'सूर' प्रसन्न जानि एकौ छिन अधर सु सीस डोलावति॥

रोना-गाना भी 'सूर' बिना अपूर्व चमत्कारिक कल्पना के नहीं कहते। पर उस अद्भुतता को लाने में सूर को दिमाग खरोच खरोच कर भावों को हूँढ़ने की जरूरत नहीं पड़ती। अद्भुतता के होते हुए भी उनके

वर्णनों में कृत्रिमता की छाया भी नहीं रहती। बड़ी स्वाभाविक और मनोहर उक्तियाँ होती हैं। ऊधो गोपियों से कहते हैं कि कृष्ण के साकार रूप को अपने मन से निकाल डालो और निराकार का चिंतवन करो, एक गोपी कहती है कि कृष्ण को हम अपने मन से निकालें भी तो कैसे? वह तो हम लोगों के मन के भीतर तिरछे होकर (त्रिभंगी रूप में) अड़ गये हैं।

उर में माखनचोर गड़े।
अब कैसेहु निकसत नाहिं ऊधो, तिरछे ह्वै जु अड़े॥

कल्पना बड़ी सुन्दर है, पर साथ ही बड़ी स्वाभाविक भी है। अगर कोई लंबी चीज किसी तंग मुँहवाले बर्तन के भीतर जाते ही तिरछी हो जाय तो फिर उसका निकालना बड़ा मुशकिल हो जायगा। पारिवारिक प्रसंगों, व्यावहारिक बातों में तो सूर की कल्पना खूब ही खिल उठती है। श्रीकृष्ण दूध पीने में मचलाते हैं। यशोदा उनके फुसलाने के लिये कहती हैं—

कजरी को पय पियहु लाल तेरी चोटी बढ़ै।
सब लरिकन में सुन सुन्दर सुत तो श्री अधिक चढ़ै॥

पर जब कई दिन तक दूध पीने पर भी कृष्णजी को अपनी चोटी में वृद्धि नहीं दिखलाई पड़ती तो कहते हैं—

मैया कबहिं बढ़ैगी चोटी।
किती बार मोहिं दूध पियत भई यह अजहूँ है छोटी॥

साहित्य-लहरी के दृष्टिकूटक-पदों में तो सूरदासजी ने अद्‌भुत-रस की धारा ही बहा दी है।

सूरदासजी अलंकारों के आधार पर कम चलते हैं। अलंकारों से प्रायः बहुत कम काम लेते हैं। यद्यपि उनके प्रत्येक पद में भिन्न भिन्न अलंकार मिल ही जाते हैं, किन्तु सूरदास के मुख्य अलंकार चार ही हैं, उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक और दृष्टान्त। इन अलंकारों के लिये भी सूरदासजी को खींचातानी करने की जरूरत नहीं पड़ी। वास्तव में कोई भी महाकवि अलंकारों के पीछे-पीछे नहीं चलता किन्तु अलंकार ही स्वभावतः कवि का

अनुसरण करते हैं। उत्प्रेक्षाएँ 'सूर' की सब से अधिक प्रसिद्ध हैं। जब ये उत्प्रेक्षा करने लगते हैं तो बात बात पर उत्प्रेक्षाओं की झड़ी सी लगा देते हैं, और कुछ बातें तो बराबर कहते हैं, जैसे जहाज का पंछीवाला दृष्टान्त न जाने कितनी बार सूरसागर में आया है। रूपकातिशयोक्ति से सूर को विशेष प्रेम जान पड़ता है। सूरसागर के कई पद इसके उदाहरण स्वरूप हैं। सांगरूपक के तो बड़े ही आप सुचतुर गुरु हैं। इनके सांगरूपक बड़े विलक्षण होते हैं।

सूरदासजी केशवदास की तरह अपना पांडित्य प्रदर्शित करने का प्रयत्न नहीं करते। इनकी उक्तियाँ बड़ी स्वाभाविक, बड़ी सरल और बड़ी ही सीधी सादी हैं। दृष्टिकूटक पदों के अतिरिक्त हार्दिक भावों में श्लेष इत्यादि के द्वारा पाठकों को शब्द-जाल में फँसाना सूरदास जी को नहीं भाता। एक पद के अनेक अर्थ लगाकर अपनी विद्वता दिखलाना 'सूर' की प्रकृति के विरुद्ध जान पड़ता है। इसलिये 'सूर' ने जहाँ कहीं जो कुछ भी कहा सब वागाडम्बर विहीन सरलतम प्रसादगुणपूर्ण सरस शब्दावली में ही कहा, पर इससे यह नहीं कहा जा सकता कि सूरदास में पांडित्य था ही नहीं ऐसा, कहना उनकी विद्वत्ता में आक्षेप करना है। पाण्डित्य की भी इनमें कमी नहीं थी। इनके पदों से साफ साफ मालूम हो जाता है कि सूर का ज्ञान कितना व्यापक था और सूर का अनुभव कितना बढ़ा चढ़ा था; इनके दृष्टिकूटक पदों के सामने तो केशव का क्लिष्ट छन्द भी मात है। बड़े बड़े साहित्यमर्मज्ञ भी उनका अर्थ करने में असमर्थता प्रकट करते हैं। अतः जिनको सूरदासजी का पांडित्य देखना होवे 'साहित्य' लहरी का अध्ययन करें। साफ पता चल जायगा कि 'सूर' यदि सरल से सरल रचना कर सकते थे तो क्लिष्ट से क्लिष्ट रचना में भी कम सिद्धहस्त न थे। पर उन्हें सरल और स्वाभाविक रचना से विशेष प्रेम था।

एक बात सूरदासजी में और भी विशेष है। ये बड़े हास्यप्रिय हैं। पर इनका हास्य बड़ा गम्भीर होता है। ऊधो ब्रज में जाकर गोपियों को ज्ञान सिखाने लगे, कृष्ण को भूल जाने का उपदेश देने लगे। गोपियों को ऐसे

समय ज्ञी स्वभाव के अनुसार अपनी गाथा रोनी चाहिये थी, कृष्ण की विरहाग्नि में अपना दुःख सुनाना चाहिये था, पर गोपियाँ केवल ऐसा न करके ऊधो को बचाने लगीं। भौंरे को संबोधन करके व्यंग्य और ताने देकर ऊधो को खूब खरी खोटी सुनाने लगीं। कृष्ण का सखा जान कर ऊधो से हंसी मजाक करने में भी न चूकीं। वे कहती हैं—

काहे को रोकत मारग सूधो !
सुनहु मधुप निरगुन कंटक तें राजपंथ क्यों रूँधो ॥
कै तुम सिखै पठाये कुब्जा कही स्यामघन जू धों।
वेद पुरान सुमृत सब ढूँढ़ो जुवतिन जोग कहूँ धों ॥
ताको कहा परेखो कीजै जानत छाँछ न दूधो।
'सूर' मूर अक्रूर गये लै ब्याज निवेरत ऊधो ॥

कभी ऊधो के काले होने पर व्यंग्य छोड़ती हैं—

बिलग जनि मानहु ऊधो प्यारे।
वह मथुरा काजर की कोठरि जे आवहि ते कारे।
\+ \+ \+ \+
मानहु नील माट तें काढ़े लै जमुना जु पखारे।
तागुन स्याम भई कालिन्दी 'सूर' स्याम गुन न्यारे ॥

गोपियाँ ऊधो को बेवकूफ बनाने में भी कुछ कोर-कसर नहीं रखतीं—

निरगुन कौन देश को बासी।
मधुकर ! हँसि समुझाय सौंह दै बूझति साँच, न हाँसी ॥

ऊधो की बेवकूफी से जब वे अपनी हँसी नहीं रोक सकतीं, तो कहती हैं—

ऊधो भली करी तुम आए।
ये बातें कहि कहि या दुख में ब्रज के लोग हँसाए ॥

इससे पता चलता है कि सूरदास कोरे भक्त ही नहीं थे। उनकी प्रकृति बड़ी ही विनोद प्रिय थी।

अधिक विशेषताएँ लिखने में हम असमर्थ हैं, कहाँ तक लिखें।

हम समझते हैं कि सूर की शैली समझ लेने के लिये इतनी बातें काफी हैं। इतनी बातें स्मरण रखने से हमारे पाठक 'सूर' की पहचान कर सकेंगे ऐसा विश्वास करके हम इस स्तम्भ को समाप्ति करते हैं।

५—सूर की समालोचना (पूर्वार्द्ध)

किसी कवि के काव्यग्रन्थों का पूर्णरूप से अध्ययन एवं मनन कर उसके गुण दोषों का पक्षपात-हीन विवेचना साहित्य में " समालोचना " के नाम से प्रख्यात है। 'समालोचक' कवि और अध्येताओं के बीच का ' दुभाषिया ' है। वह कवि के आन्तरिक भावों को अध्येताओं के सम्मुख इस प्रकार खोल कर देता है कि समझने में कोई काठिन्य नहीं बोध होता, पर ' हर ऐरा गैरा नत्थू खैरा ' समालोचक नहीं हो सकता। समालोचक होने के लिये भी पूर्ण विद्वत्ता, अनुभव और प्रतिभा की उससे अधिक आवश्यकता है जितनी कि कवि को। बिना इनके पाठकों को भ्रमपूर्ण मार्ग में ले जाने की शंका रहती है। समालोचक का काम कवि के भावों को व्यक्त करना और उसके गुण-दोषों का निदर्शन करना है। इसी लिये अंग्रेजी साहित्य में कवि की अपेक्षा समालोचकों का अधिक मान है। सच पूछिये तो कवियों के सुयश-परिमल को चारों ओर फैलाने में ये सत्समालोचक ही मलय-समीर का नाम-काम करते हैं। आज दिन ' शेक्सपीयर ' (Shakespear) जो विश्व कवि (Worldpoet) करके विख्यात हैं सो समालोचकों (Critics) की बदौलत। हिन्दी में अभी तक समालोचकों का अभाव ही है। किसी की निन्दा करना गालियों की बौछार करना, अथवा एक कवि को दूसरे से बड़ा सिद्ध करने का प्रयत्न करना यही समालोचना समझी जाती है। इसका परिणाम बड़ा भयंकर हो रहा है। ऐसी कुरुचिपूर्ण समालोचनाओं के कारण समालोचना से लोगों का मन हटता जा रहा है। पर जैसा हम कह चुके हैं बिना समालोचना के साहित्य की उन्नति हो नहीं सकती। समालोचना द्वारा हम सदसत् कविता का विवेचन करने में समर्थ हो सकते हैं। प्राचीन कवियों की आलोचना से हम

यह निर्णय कर सकते हैं कि कौन कौनसी बातें संग्रहणीय हैं और कौन-कौन अग्राह्य, समाज के लिये कौनसी बातें आवश्यक हैं और कौन त्याज्य। साथ ही यह भी मालुम हो जाता है कि उनका स्थान कवियों में कौनसा है। वर्तमान कवियों की समालोचना का यह प्रयोजन है कि होनहार कवियों को तो प्रोत्साहन मिले और बाल कवि अपनी कविता की त्रुटियों को सुधार कर उचित मार्ग पर चलें। बिना समालोचना के साहित्य गंदा हो जाता है। वैसे तो समय के प्रवाह में साहित्य का कूड़ा करकट बह जाता है, किन्तु समालोचक की वजह से यह काम और भी शीघ्र हो जाता है। रद्दी 'साहित्य' जितनी ही जल्दी नष्ट हो जाय उतना ही अच्छा, अन्यथा जब तक वह वर्तमान रहेगा समाज को कुछ न कुछ प्रभावित करता ही रहेगा। समालोचना आज ही कल से चल पड़ी हो, सो बात नहीं है। हमारे साहित्य में सदा से ही समालोचना होती आई है। मल्लिनाथ 'सूरी' कालिदास की टीका के साथ साथ इनकी समालोचना भी करते गये हैं। एक टीका की समालोचना दूसरा टीकाकार, एक भाष्य की समालोचना दूसरा भाष्यकार करता आया है। यही समालोचना हमारे शास्त्रों में 'शास्त्रार्थ' के नाम से अभिहित है। अपने रीति ग्रन्थों में भी हम यही बात पाते हैं। 'साहित्यदर्पण' में ही देखिये ग्रन्थकार अपने मत का मंडन करने के साथ-साथ दूसरे आचार्य के मत का खंडन भी करते हैं। अतः किसी साहित्य का समालोचक बनने के पूर्व उस साहित्य के रीति ग्रन्थों का भी पूर्ण अनुशीलन करना आवश्यक है। बिना पूर्ण अनुभव के साहित्यक्षेत्र में उतरने से हानि की अधिक सम्भावना रहती है। हिन्दी-साहित्य में यों तो समालोचक कहलाये जाने वालों की भरमार है, पर सच्चे समालोचकों में से दो उल्लेख योग्य हैं। पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी जी विद्वान् समालोचक हैं, तो पं० रामचन्द्र शुक्ल जी गंभीर समालोचक। उक्त संख्याद्वय के बाद तो 'अनामिका सार्थवती बभूव' ही कहना पड़ता है। सच्चे, हृदय और गुणग्राही समालोचकों की हिन्दी साहित्य को इस समय बड़ी भारी आवश्यकता है? नहीं तो हम देख रहे हैं कि साहित्य में कूड़ाकरकट बढ़ता चला जा रहा है। जिसको देखो वही कवि-सम्राट् कवि—बनना चाहता है, जिसको देखो वही गंदे उपन्यासों से

साहित्य को कलंकित करता जाता है। आजकल के नाटकों ने तो क्या भाषा क्या कविता, क्या कला सब का साथ ही संहार करना आरंभ किया है। यद्यपि अब इस ओर सुधारकों की दृष्टि जाने लगी है, पर अभी तक इन सब बातों के प्रतीकार का कोई ऐसा उपयुक्त साधन नहीं मिला है जो इसके प्रवाह को रोकने में समर्थ हो। आशा है कि विद्वत्समुदाय इस बात की ओर ध्यान देगा।

किसी कवि की समालोचना करने में दो बातें जाननी आवश्यक हैं। एक तो यह कि उसका ज्ञान कितना है, दूसरे वह किस कोटि का कवि है। इनमें से पूर्व को हम 'आलोचना' और उत्तर को तुलनात्मक आलोचना से जान सकते हैं। पहिले हम 'आलोचना' स्तम्भ को लेते हैं।

आलोचना करने के पूर्व यह जान लेना उपयुक्त होगा कि 'कविता' करने के लिये—'कवि' बनने के लिये—निम्न पाँच बातों की आवश्यकता है।

> "शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात्।
> काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे॥"
>
> —काव्यप्रकाश।

अब हम पहिले इनका संक्षिप्त विवेचन करके सूरदासजी की कविता को इसी कसौटी पर कसेंगे।

१—शक्ति

शक्ति दो प्रकार की होती है एक स्वाभाविक अर्थात् 'जन्मनक्षत्र' में विधाता द्वारा प्रदत्त, दूसरी अभ्यास द्वारा अर्जित। ईश्वरप्रदत्त शक्ति लोक में 'प्रतिभा' (Genius) के नाम से प्रख्यात है पर यह शक्ति संसार में किसी विरले ही सौभाग्यवान् को मिलती है, कहा भी है—

> नरत्वं दुर्लभं लोके विद्यातत्र सुदुर्लभा।
> कवित्व दुर्लभं तत्र शक्तिस्तत्र सुदुर्लभा।

'प्रतिभा' के अन्दर 'कविता रचने की शक्ति' और 'कविता के समझने की शक्ति' दोनों का अन्तर्भाव रहता है। 'प्रतिभा' के बिना कोई वास्तविक

कवि हो नहीं सकता। यद्यपि अभ्यास और अध्ययन से भी कविता की जा सकती है, पर उसमें वह चमत्कार नहीं आ सकता जो किसी प्रतिभाशाली कवि की कविता में स्वभावतः होता है। इसी लिये अंग्रेज़ी में एक कहावत है "a poet is born, not taught" अर्थात् कविहृदय स्वयं पैदा होता है, किसी के सिखाने पढ़ाने से प्रतिभाहीन व्यक्ति कवि नहीं हो सकता। प्रतिभावान् कवि की कविता जितनी सरलता से हृदयंगम हो सकती है, और उसकी कविता का हृदय पर जितना प्रभाव पड़ता है उतना बनाये हुए कवि की कविता का नहीं। प्रतिभाशाली कवि जनता को अपनी कविता के प्रवाह में बहा देता है! जिस रस की कविता होगी पाठक या श्रोता उसी में बहने लगेंगे शृङ्गार रस के वर्णन से सहृदय व्यक्ति का हृदय प्रेम से उन्मत्त हो जायगा, करुण रस के वर्णन से आँखें अश्रुपूर्ण हो जायेंगी, वीर रस के वर्णन से शरीर उत्साह से भर जायगा और भुजाएं फड़कने लगेंगी, हास्य रस की कविता होगी तो हज़ार चेष्टा करने पर भी हँसी का वेग न रुक सकेगा, शान्त रस की कविता से एक अलौकिक आनन्द का अनुभव होगा सारांश यह कि कविता के लिये 'प्रतिभा' का होना अनिवार्य है। प्रतिभा साधारणतया थोड़ी बहुत सभी में होती है। किन्तु इसको विकसित करने की आवश्यकता पड़ती है। ' प्रतिभा का न प्रयोग करने से इसमें ' मोर्चा ' लग जाता है और तब इसका संस्कार करना मुश्किल हो जाता है। 'अर्जित शक्ति' वह है जो लोकव्यवहार, शास्त्र तथा अपने गुरु से काव्यादि के अध्ययन करने का प्रतिफल स्वरूप हो। इसी को उक्त श्लोक में निपुणता और अभ्यास कहा है। निपुणता तीन विषयों की आवश्यक है, लोक निपुणता, शास्त्र निपुणता और काव्य निपुणता।

२—लोक-निपुणता

इसी को 'अनुभव' भी कहते हैं। जिस कवि को संसार का व्यवहारिक ज्ञान नहीं, जो मानव समाज की प्रकृति से परिचित नहीं, वह ' प्रतिभा ' के होते हुए भी अच्छा कवि नहीं हो सकता। कवि बनने के पूर्व प्रकृति का एवम् निखिल मानव समाज—स्त्री, पुरुष, बाल-युवा-वृद्ध सभी—के स्वभाव

का पूर्ण अनुशीलन, यहाँ तक कि पशु-पक्षियों तक कि वृत्तियों का जानना परमावश्यक है। महाकवियों में ये सभी बातें होती हैं। इसलिये हम उनकी कविता में ऐसे ऐसे भाव पाते हैं जो बिलकुल स्वाभाविक होते हैं, और साथ ही इतने चमत्कार पूर्ण होते हैं कि मानव-हृदय उनको पढ़ने के साथ ही गद्गद एवं आह्लादपूर्ण हो जाता है। कविता में दोनों तरह का अनुभव होना चाहिये, लोक का भी परलोक का भी। परलोक के अनुभव से हमारा तात्पर्य 'दार्शनिक' सिद्धान्तों से—माया, जीव और ईश्वर संबंधी इत्यादि विषयों से—है। लौकिक ज्ञान वही है जिसको हम ऊपर कह आये हैं। जो जन साधारण की वृत्तियाँ न जान सकेगा, जो महात्माओं के हृदय के भावों को न जान सकेगा, जो रोजमर्रा की बातचीत और घटनाओं को न जानेगा वह क्या खाक कविता करेगा! अनुभव के बिना खाली प्रतिभा से ही कुछ काम नहीं चल सकता।

३—शास्त्रनिपुणता

शास्त्रनिपुणता से तात्पर्य है 'काव्य-रीति' से। काव्यरीति में भाषा, पिंगल, रस, भाव, व्यंग्य, अलंकार आदि सब काव्य के आवश्यक अंगों का समावेश हो जाता है।

(अ) भाषा—संसार की सभी भाषाओं का सौन्दर्य उनकी कविताओं में है। जिस किस्म की कविता करनी होती है उसी किस्म की भाषा का भी प्रयोग करना पड़ता है। सभी भाषाएँ सभी भावों को पूर्ण रूप से प्रकट नहीं कर सकतीं। छन्द विशेष के लिये भी भाषा विशेष ही उपयुक्त होती है। जैसा कि हम व्रज-भाषा के प्रकरण में कह चुके हैं, अवधी भाषा वीर रसात्मक कविता के लिये इतनी अच्छी नहीं होती जितनी कि व्रजभाषा। इसी प्रकार छन्दों में लीजिये। चौपाई और बरवै छन्द जैसे अवधी में बन सकते हैं वैसे अन्य भाषाओं में नहीं। सवैया कवित्त आदि जैसे व्रजभाषा में फबते हैं वैसे और किसी भाषा में नहीं। दोहा और सोरठा तो दोनों ही में खूब अच्छे बन सकते हैं। अतएव भाषा की कसौटी पर कसने में हम इन्हीं बातों का विचार करते हैं कि कवि ने उक्त नियमों का पालन करने में कहाँ

सफलता पाई है, वह काव्य की तीनों वृत्तियों—उपनागरिका, परुषा, कोमला—के अनुकूल भाषा का प्रयोग कर सका है या नहीं, उसकी कविता में भाषाज्ञान की अपूर्णता से भावों का संहार नहीं होता, व्याकरण संबन्धी भूलें उसमें कहाँ तक हैं, इत्यादि। अतः जिस भाषा में कविता करनी हो उस भाषा के इतिहास तथा व्याकरणादि का पूर्ण पण्डित होना चाहिए।

(ख) पिंगल—छन्दःशास्त्र भी काव्य का एक मुख्य अंग है। छन्दःशास्त्र के आदि प्रवर्तक शेषावतार 'पिंगलाचार्य' के नाम से इस शास्त्र का नाम ही 'पिंगल' पड़ गया है। जटिल विषय भी छन्दोबद्ध हो जाने से रमणीय हो जाते हैं। गद्य को कंठाग्र करने में भी सरलता होती है। अतः काव्य रचना के लिये पिंगल का ज्ञान होना परमावश्यक है। इसके बिना काव्य का एक अंग ही अपूर्ण रह जायगा। छन्दों के नियम जानने तथा उनमें ललित गति लाने के लिये तो इस शास्त्र का जानना आवश्यक है ही, पर इसकी विशेष उपयोगिता रसभावानुकूल छन्द चुनने में भी जान पड़ती है। पहिले तो भावानुकूल छन्द छाँटने की ज़रूरत पड़ती है। श्लोकों की जो सरलता संस्कृत में है वह व्रजभाषा या अवधी में नहीं। अन्य भाषाओं की देखादेखी आजकल हिन्दी में भी अतुकान्त कविता (Blank-verse) की प्रथा चल तो पड़ी है पर इस बात पर ध्यान प्रायः बहुत कम लोगों ने दिया है कि इसके लिये छन्द कौन उपयुक्त होंगे। यही कारण है कि उनमें कोई सरसता नहीं जान पड़ती। हमारी समझ में हिन्दी की अतुकान्त कविता में तभी मधुरता आ सकती है जब उसके लिये संस्कृत के छन्द चुने जावें। पण्डित अयोध्यासिंह उपाध्यायजी का 'प्रियप्रवास' हमारे कथन का प्रमाण-स्वरूप है। परन्तु खेद है कि आजकल के स्वयंभू कवि अपने शास्त्रों को तो ताक पर रख देते हैं और दूसरों की नकल करने में ही अपना गौरव समझ बैठते हैं, किन्तु यह ध्यान में रखना चाहिये कि बिना छन्दःशास्त्र के ज्ञान के न काव्य की गति ही समझ में आ सकती है, न शुद्ध काव्य की रचना ही हो सकती है।

(ग) रस-भाव—इनके विषय में यहाँ बहुत न लिख कर संक्षेप में इनका परिचय मात्र दे देना ही पर्याप्त होगा। 'रस्यते इति रसः' के अनु

सार ' रस ' का तात्पर्य ' स्वाद ' से है। जैसे भोजन का ' स्वाद ' अनेक प्रकार का होता है वैसे ही काव्य के पढ़ने से हमें भिन्न प्रकार के आनन्द की अनुभूति होती है। भोजन के ' स्वाद ' और काव्यानन्द की अनुभूति को विद्वानों ने ' रस ' संज्ञा दी है। भोजन के स्वाद या ' रस ' कटुतिक्ताम्लकषायक्षारमधु ' ये छः प्रकार के होते हैं, पर काव्य में ये रस नव प्रकार के हैं।

> शृङ्गार हास्य करुण रौद्र वीर भयानकाः।
> वीभत्सोऽद्भुत इत्यष्ठौ रसः शान्तस्तथामतः ॥

—साहित्यदर्पण।

रस की चार सामग्रियाँ होतीं हैं जिनके द्वारा सहृदयों के चित्त में रस का उद्रेक होता है। ये स्थायी भाव; विभाव, अनुभाव और संचारी भाव कहलाते हैं। जब विभाव, अनुभाव और संचारी-भावों के संयोग से प्रत्येक सहृदय व्यक्ति के चित्त में वर्तमान ' इत्यादि ' स्थाई भाव जाग्रत हो जाते हैं तो ' रस ' की उत्पत्ति होती है। इसी रस को ' काव्यानन्द ' कहते हैं। जिस काव्य में किसी भी प्रकार का रस नहीं वह भी भला कोई काव्य है ? विना रसज्ञान के क्या काव्य रचा जायगा ? क्या पढ़ने में चमत्कार बोध होगा ? ' भावयन्तीति (रसानि) इति भावाः ' अर्थात् जो हृदय में रसों को अभिव्यक्त करने में हेतुभूत होते हैं वही 'भाव' हैं। कविता करने में भाव ही मुख्य है। जिस कविता में उत्तमोत्तम भाव न भरे हों, नवीन एवं अनोखी कल्पनाओं को स्थान न मिला हो वह कविता कविता नहीं है। वास्तव में संसार की नाना प्रकार की परिस्थितियों के बीच में रहते हुए जिसके हृदय में नई-नई कल्पनाएँ न उठती हों, नये नये भाव न जाग्रत होते हों वह कविता नहीं कर सकता, तुकबन्दी भले ही कर ले, उसकी कविता में चमत्कार नहीं आ सकता। इस बात का भी पूरा-पूरा ध्यान रहना चाहिये कि भाव हृदय की तह से निकले हों, कृत्रिम या गढ़े न हों, पर ये बातें विना अध्ययन और अनुभव के नहीं आ सकती।

(ई) व्यंग्य—काव्य के अर्थ का ज्ञान कराने के लिये तीन शब्द-शक्तियाँ काम में लाई जाती हैं, जिनको अभिधा, लक्षणा, और व्यञ्जना कहते हैं। अभिधेयार्थ से लक्ष्यार्थ में, लक्ष्यार्थ से व्यंग्यार्थ में चमत्कार उत्तरोत्तर अधिक होता जाता है। वाक्य में अभिधा और लक्षणा द्वारा जो अर्थ प्रतिपादित होता है उसे 'वाच्यार्थ' वा 'लक्ष्यार्थ' कहते हैं। पर जब वाक्य का शब्दार्थ गौण होकर उससे एक और ही अभिप्राय प्रगट होता है उसे 'व्यंग्यार्थ' या 'ध्वनि' कहते हैं। जैसे किसी घंटे में चोट मारने से पहिली ध्वनि एक दम कठोर और फिर उत्तरोत्तर मधुरतर होती जाती है, इसी प्रकार प्रथम दो शक्तियों द्वारा प्रतिपादित शक्ति की अपेक्षा 'व्यंग्य' में चमत्कारातिशय होता है। पर ज्यों ज्यों घंटे की ध्वनि मधुर होती जाती है त्यों त्यों उसे सुनने के लिये एकाग्रता की आवश्यकता पड़ती जाती है, इसी प्रकार 'व्यंग्यार्थ' का अन्वेषण करने के लिये सहृदयता एकाग्रता और अनुशीलन की बड़ी भारी आवश्यकता है। आचार्यों ने 'व्यंग्यकाव्य' को ही सर्वश्रेष्ठ काव्य माना है, यहाँ तक कि व्यंग्य को ही काव्य की आत्मा माना है। अतः काव्य में 'व्यंग्य' की बड़ी भारी आवश्यकता है। भ्रमर-गीत के पदों में व्यंग्य ही व्यंग्य भरे हैं।

(उ) अलंकार का अर्थ 'आभूषण' या 'गहना' है। प्रश्न हो सकता है कि कविता में अलंकारों का क्या उपयोग है ? इसका उत्तर जानने पहिले यह जान लेना आवश्यक है कि कविता में 'अलंकार' का अर्थ क्या है ? किसी बात को सीधे-सादे शब्दों में न कह कर इस ढंग से कहना कि सुननेवाले को एक अपूर्व रोचकता या चमत्कार बोध हो, उसे काव्य में 'अलंकार' कहते हैं। जिस प्रकार कोई सुन्दर व्यक्ति गहनों से सजने पर और भी सुन्दर दिखलाई देता है, इसी प्रकार 'कविता-कामिनी' का कलित कलेवर—शब्द और अर्थ—भी इन अलंकारों ने विशेष सुन्दर जान पड़ता है। जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं 'भाव' ही कविता की जान है। अतः अलंकारों का इतना अधिक प्रयोग न होना चाहिये कि भावों की स्वाभाविकता ही नष्ट हो जाय। जैसे गहनों का बोझ किसी सुन्दर व्यक्ति के स्वाभाविक सौन्दर्य को तिरोहित कर उसकी गति में भी

बाधक हो बैठता है उसी प्रकार अलंकार-प्राचुर्य से कविता के वास्तविक भाव छिप जाते हैं और अनुपासादिक अलंकारों के आडम्बर के कारण उनमें स्वाभाविकता आ जाती है। कविता में खींचकर, माथा खरोच कर अपना पाण्डित्य प्रदर्शन करते हुए अलंकारों को घुसेड़ना 'कविता-कामिनी' की हत्या करना है। 'केशव' में यह दोष विशेष पाया जाता है। अनुभव अध्ययन तथा अभ्यास के बाद सच पूछिये तो अलंकारों के खोजने की ज़रूरत ही नहीं पड़ती, वे कवि की प्रतिभा के वशीभूत होकर स्वभावतः आते जाते हैं और कवि को यह ज्ञान भी नहीं होता है कि वह अमुक अलकार लिख रहा है। तभी महाकवियों की कविताओं में सच्चा सौन्दर्य झलकता है, और तभी स्वाभाविकता की पूर्णरूप से रक्षा भी हो सकती है। यही 'कविता' के लिये 'अलंकारों' की उपयोगिता है। सूरदास जी के सांगरूपक, रूपकातिशयोक्ति, उत्प्रेक्षा, दृष्टान्त और उपमालंकार बड़े सुन्दर हैं। सांगरूपक के तो ये महात्मा जी अद्वितीय उस्ताद हैं। दृष्टिकूटक अलंकार में तो, साहित्य-लहरी' ग्रन्थ ही रच डाला है।

४—काव्य-निपुणता

अब हम काव्य-निपुणता की ओर आते हैं। काव्यशास्त्र के अध्ययन के अतिरिक्त किसी कवि को और भी 'साहित्य' जानना पड़ता है। 'साहित्य' से हम संकुचित अर्थ नहीं लेते जो आजकल लिया जाता है। आजकल 'साहित्य' शब्द नाटकों, उपन्यासों, कविताओं, कतिपय गद्यात्मक पुस्तकों आदि तक ही सीमित है पर वास्तव में साहित्य का अर्थ बहुत व्यापक है। काव्य, रीति-ग्रन्थ, व्याकरण, निरुक्त, भाषा-विज्ञान, मनोविज्ञान, मानव-विज्ञान, दर्शनशास्त्र, पुराण, इतिहास आदि सभी का 'साहित्य' शब्द में अन्तर्भाव हो जाता है। अपने से पूर्व के महाकवियों के काव्यो का अनुशीलन करना तो किसी कवि के लिए अत्यावश्यक है। प्रत्येक महाकवि के काव्य से उसका 'साहित्य-ज्ञान' साफ़ झलकता है। जो कवि साहित्य का जितना ही अधिक अनुशीलन करेगा उसका काव्य उतना ही श्रेष्ठ होगा।

भावनाएँ करने की, अनोखी कल्पना करने की उसे फुरसत कहाँ, किन्तु हमारे महाकवि सूरदासजी—और तुलसीदासजी भी—के मार्ग में ये बाधाएँ नहीं थीं। वे निश्चिन्त थे, निर्द्वंद्व थे, भगवान ही उनके सब कुछ थे, भय उनको किसी का भी नहीं था। वही कारण है कि हम उनकी कविता में वह संजीवनी शक्ति पाते हैं जिसका मानव जाति पर प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सकता। उनकी कविता के पढ़ते ही, कोई भी भावुक गद्गद हुए बिना नहीं रह सकता। सूरदास की कविता का पढ़ने वाला भी उसी प्रवाह में बह जाता है जिस प्रवाह में सूरदास जी बहे थे। उनकी कविता उनके अन्तस्तल से निकलती है उनकी प्रतिभा की उपज होती है यही कारण है, कि पढ़ने वाला अपनी सुधबुध भूल जाता है और उसी में तन्मय हो जाता है। एक दो उदाहरण लीजिये—

देखि सखी अधरन की लाली।
मनि मरकत मय सुभग कलेवर ऐसे हैं वनमाली॥
मनो प्रात की घटा साँवरी तापर अरुन प्रकाश।
ज्यों दामिनि बिच चमकि रहत है फहरत पीत सुबास॥
किधौं तरुन तमाल बेलि चढ़ि जुग फल बिम्बा पाके।
नासा कीर आय मनो बैठो लेत बनत नहिं ताके॥
हँसत दसन एक सोभा उपजति उपमा जात लजाई।
मनो नीलमनि पुट मुकुतागन वंदन भेरि बगराई॥
किधौं वज्रकन लाल नगन खचि, तापर विद्रुम पाँति।
किधौं सुभग बधूक सुमन पर झलकत जलकन काँति॥
किधौं अरुन अंबुज बिच बैठो सुन्दरताई आइ।
'सूर' अरुन अधरन की सोभा बरनति बरनि न जाइ॥

और भी देखिये—

लखियत कालिंदी अति कारी।
कहियो पथिक जाय हरि सों ज्यों भई बिरह-जुर-जारी॥
मनु पलिका पै परी धरनि धँसि तरंग तलफ तनु भारी।
तट बारू उपचार चूर मनों स्वेद प्रवाह प्रनारी॥

विगलित कच कुच कास पुलिन मनों पंकज कज्जल सारी।
भ्रमर मनो मति भ्रमति चहुँ दिसि फिरति है अंग दुखारी॥
निसिदिन चकई ब्याज वकत मुख किन मानस अनुहारी।
'सूरदास' प्रभु जो जमुना गति सो गति भई हमारी॥

सूरदासजी को मानव-समाज की प्रत्येक वृत्ति का पूर्ण अनुभव था, मानव-हृदय के सूक्ष्म से सूक्ष्म भावों का विश्लेषण इनके प्रत्येक पद में बड़ी खूबी से किया गया है। 'सूरदास' जी को 'प्रेम' का सच्चा अनुभव था, क्योंकि वे प्रेमोपासक थे प्रेम के तीनों स्वरूपों—भगवद्भक्ति तथा वात्सल्य और दाम्पत्य प्रेम—के वर्णन में सूर ने कमाल किया है। इनमें भी 'वात्सल्य प्रेम' का जो अद्भुत चित्रण किया है वह पढ़ने से ही अनुभूत हो सकता है। बालचरित्र के चित्रण में 'सूर' को 'तुलसी' से कहीं अधिक सफलता प्राप्त हुई है। इसका कारण यही है कि 'तुलसी' के 'राम' मर्यादा पुरुषोत्तम हैं, उनको श्री रामचन्द्रजी का सारा चरित्र अंकित करना था, इसके विपरीत 'सूर' के 'कृष्ण' लीलावतार हैं उनके लिये श्री कृष्ण जी की लीला—विशेषतः बाललीला—ही वर्णन करने का क्षेत्र था। इसलिये 'सूर' ने श्रीकृष्ण जी की बाललीला, उनका मचलना, उनका खीझना, उनका रोना, उनकी भीरु प्रकृति आदि सब का ऐसा जीता जागता चित्र खींच दिया है कि बिना पूर्ण अनुभव के इन बातों का जानना ही असंभव है। उदाहरण लीजिये—

(१) बालविनोद खरो जिय भावत।
मुख प्रतिबिंब पकरिबे कारन हुलसि घुटरुवनि धावत॥

(२) मेरो माई ऐसो हठी बाल-गोबिन्दा।
अपने कर गहि गगन बतावत खेलन को माँगै चन्दा॥

(३) मोहन मान मनायो मेरो।
मैं बलिहारी नंदनँदन की नेक इतै हँसि हेरो॥
कारो कहि कहि मोहि खिझावत वरजत खरो अनेरो।
वदन विमल ससि तें, तनु सुन्दर, कहा कहै बल चेरो॥

(४) खेलन दूरि जात कित कान्हा।
आजु सुन्यो बन हाऊ आयो तुम नहिं जानत नान्हा॥
(५) देखो माई कान्ह हिचकियन रोवै।
तनक मुखहिं माखन लपटायो डरनि ते अँसुवनि धोवै॥

जिस किसी भी सौभाग्यशाली व्यक्ति को अपने छोटे छोटे भाई बहनों और बाल बच्चों का बालविनोद देखने का सुअवसर मिला होगा उससे ये बातें छिपी न होंगी। कितना स्वाभाविक और अनुभव-पूर्ण वर्णन है। सूरदासजी को 'बालप्रकृति' का कितना ज्ञान था, इसका विशेष वर्णन इसी स्तम्भ में उचित स्थान पर किया जायगा। इनका अनुभव मनुष्यों तक ही परिमित था सो बात नहीं, किन्तु पशु-पक्षियों की प्रवृत्ति का भी इन्हें अच्छा ज्ञान था। यथा—

ज्यों षटपद अंबुज के दल में बसत निसा रति मानि।
दिनकर उये अनत उड़ि बैठत फिरि न करत पहिचानि॥
भवन भुजंग परारे पाल्यो ज्यों जननी जनि तात।
कुल करतूति जाति नहीं कबहूँ सहज सो डसि भजि जात॥

पशुओं की दो प्रवृतियाँ प्रसिद्ध हैं प्रकाश और सौन्दर्य को देख कर उनकी टकटकी लग जाती है। श्रीकृष्णजी के अपूर्व सौन्दर्य को देख कर गायें आत्म विस्मृत हो जाती थीं। इसी प्रकार संगीत की सुरीली तानों में तो गायें इतनी मुग्ध हो जाती थीं कि खाना-पानी तक भूल जाती थीं।

मुरली अधर सजी बलबीर।
धेनु तृन तजि, रहे ठाढ़े बच्छ तजि मुख छीर॥

पशुओं की इसी प्रकृति का लाभ उठा कर बधिक लोग अपने सुरीले राग के स्वरों में मुग्ध होकर मृगों का शिकार करते हैं। 'सूर' कहते हैं—

प्रथम वेनु वन हरत हरिन मन राग रागिनी ठानि।
जैसे बधिक बिसास बिवस करि बधत विषम सर तानि॥

यह अनुभव इनको 'सतसंग' की वजह से हुआ था। वृन्दावन में वैष्णव महात्माओं में 'नानापुराण-निगमागम' की चर्चा सतत होती

रहती थी, उनके सत्संग में रहने से सूरदासजी को बहुत लाभ हुआ। परन्तु सूरदासजी का अनुभव 'तुलसीदास' जी का सा सर्वव्यापी नहीं था। जहाँ 'तुलसीदास' जी को मानव-समाज की सभी परिस्थितियों का, देश के सभी भागों का अनुभव था, वहाँ 'सूर' को केवल वृन्दावन का, जमुना का, वहाँ के करील कुञ्जों का, और मानव-समाज की प्रेमविषयक प्रवृत्तियों का ही परिचय था। पर जिस क्षेत्र को इन्होंने अपनाया था उसमें ये अद्वितीय थे—

(१) ऊधो मन नाहीं दस बीस।
एक हुतो सो गयो स्याम सग को आराधै ईस ?

(२) निसि दिन बरसत नैन हमारे।
सदा रहत पावस ऋतु हम पै जबतें स्याम सिधारे ॥

(३) ग्वालन करतें कौर छुड़ावत।
जूठो लेत सबन के मुख को अपने मुख लै नावत ॥

सूरदासजी में हम प्रकृति-पर्यवेक्षण का अभाव सा पाते हैं जहाँ कहीं इन्होंने प्रकृति का चित्र खींचने का उद्योग भी किया है वहाँ इन्हें उतनी सफलता भी नहीं हुई। सच पूछा जाय तो इनको 'नेचर' निरीक्षण का विशेष अनुभव न था यमुना तट का कदंब वृक्ष, करील की कुञ्जों के सिवाय उन्होंने कुछ कहा ही नहीं है।

अब इनकी 'शास्त्रनिपुणता' का विवेचन किया जाता है।

(अ)—भाषा

इनकी भाषा 'व्रजभाषा' है। पर हम 'सूरदास' जी की भाषा को शुद्ध व्रजभाषा नहीं कह सकते। शुद्ध व्रजभाषा में कविता लिखने वालों में घनानन्द और रसखान का नम्बर सबसे पहिले आता है। सूरदास के पद गाने के काम में आते हैं। अतः उनमें मधुर भाषा का होना आवश्यक है। दूसरे उनकी कविता में श्रीकृष्णजी की लीला गाई है। अतः कृष्णजी की विहार-भूमि की भाषा होने से और लालित्य होने के कारण भी व्रजभाषा इस काम के लिये सर्वथा उपयुक्त है। छन्द और गाथा के अनुकूल ही भाषा को अपनाने के कारण सूरदासजी की शास्त्रनिपुणता

की जितनी प्रशंसा की जाय सो थोड़ी है। भाषा के तीन गुण हैं—ओज, माधुर्य और प्रसाद। ओज गुण वीररस की कविता के लिये आवश्यक होता है। अतः इनके कविता-क्षेत्र में ओजगुण का समावेश नहीं हो सका। शेष दो गुण इनकी कविता में पूर्णमात्रा में आए हैं। इनकी कविता का विषय ही ऐसा है जिसके लिये 'माधुर्य' गुण अनिवार्य है। 'प्रसाद' गुण के बिना तो कोई कविता अच्छी हो नहीं सकती। जिस कविता में अर्थ लगाने के लिये 'दिमागी कसरत' दरकार हो वह भी क्या कोई कविता में कविता है ? महाकवि की कविता में भाषा सरल और प्रसाद गुण-संयुक्त होती ही है। सूरदासजी की भाषा में हम इन दोनों गुणों की कमी नहीं पाते। उन्होंने ब्रजभाषा का आधार लिया इससे इनको और भी सुविधा हुई। क्योंकि ब्रजभाषा की एक बड़ी विशेषता यह है कि उसमें आवश्यकतानुसार बड़ी आसानी से शब्दों की कटुता को दूर करने की शक्ति है। जैसे 'स्त्री' का 'तिय' और 'प्रिय' का 'पिय' इत्यादि।

जैसा हम कह चुके हैं सूरदासजी सर्व प्रचलित शब्दों एवं मुहावरों आदि का प्रयोग प्रचुरता से करते हैं। कविता में स्वाभाविकता लाने के लिये यह आवश्यक है कि ठेठ शब्द प्रयुक्त किये जायँ। हमारे इस कथन का तात्यपर्य यह नहीं है कि ग्राम्य और सभ्य समाज में न कहे जाने वाले ठेठ शब्दों का प्रयोग करके भाषा दूषित कर दी जाय, वरन् शब्दों को गढ़ने के स्थान पर हम अच्छा समझते हैं कि ठेठ शब्द प्रयुक्त हों। हम 'ज्योत्स्ना' न लिख कर 'जुन्हैया' लिखना उचित समझते हैं, क्योंकि इसमें प्रसाद के साथ ही माधुर्य भी है। कुछ संस्कृत के पण्डित जो संस्कृत शब्दों को ही जबर्दस्ती ठूँसना कविता का सौन्दर्य समझते हैं और जिन्हें सरलता और प्रसाद गुण-पूर्ण प्रचलित शब्दों की अभिज्ञता नहीं है, वे अपनी कविता को जटिल बना कर कविता के मूल गुण से दूर हटते जा रहे हैं। एक विद्वान ने 'कपोल' के लिये प्रसाद गुण पूर्ण 'गाल' शब्द का प्रयोग ग्राम्य माना है पर यह हमें भ्रम जान पड़ता है। 'गाल' शब्द क ग्राम्य मानना तो वैसा ही है जैसे किसी गाय को गाय मानते हुए उस

बछड़े को 'बकरा' कहना। अस्तु, यह सिद्ध है कि कविता की उत्कृष्टता आम बोल-चाल के मधुर शब्दों के ही प्रयोग में है। सूरदास जी ने ऐसा ही किया है। यथा—

१—जाग्यो मोह 'मैर' मति छूटी सुजस गीत के गाए।

२—'कौरेन' 'सथिया' 'चीतत' नवनिधि।

३—चितै चितै हरि चारु विलोकनि मानहुँ माँगत हैं 'मन ओल'।

४—'सूर' परसपर कहत गोपिका यह उपजी 'उदभौति'।

५—जीवन 'मुँह चाही' को नीको।

सूरदासजी तुकान्त के लिये शब्दों को विकृत कर लेते हैं। कवियों के लिए यह दोष क्षम्य माना गया है। पर सूरदासजी शब्द उतना ही विकृत करते हैं जिससे वह अपना मूल रूप बता सके। 'जायसी' की भाँति 'क्रीड़ा' को 'करारी' करने के ढंग के प्रयोग इनकी कविता में नहीं मिलते। देखिये—

१—'सूरदास' कछु कहत न आवै गिरा भई गति 'पंग'।

२—नैन नहीं, मुख नहीं, चोरि दधि कौने 'खाँधौं'।

३—'सूरदास' तीनों नहिं उपजत धनिया, धान' 'कुम्हाड़े'।

४—तुम कारे, सुफलकसुत कारे, कारे मधुप 'भँवारे'।

५—ठानी कथा प्रबोध बोलि सब गुरू 'समोख्यो'।

तुकान्त के अतिरिक्त आवश्यकता पड़ने पर पद के मध्य में भी शब्द के विकृत रूप इनकी कविता में पाये जाते हैं। किन्तु सूर का 'सूरत्व' वहाँ भी छिपा रहता है, अर्थात् वे शब्द अधिक तोड़े मरोड़े नहीं होते अथवा 'देव' की भाँति कुछ का कुछ नहीं कर डालते। जैसे—

१—राम प्रताप सत्य सीता को यहै नाउ 'कंधार'।

यहाँ 'कंधार' शब्द 'कर्णधार' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। और भी ऐसे उदाहरण देखिये—

२—अँचवत पय तातो जब लाग्यो रोवत जीभ 'गढ़ै'।

३—कबहुँ चितै प्रतिबिम्ब खंभ में 'लवनी' लिये खवावत।

४—कनक खंभ प्रतिबिम्बत सिसु इक 'लौनी' ताहि खवावहु।

५—ब्रज 'परगन' सरदार महर, तू ताकी करत 'नन्हाई'।

६—रच्यो यज्ञ रस रास 'राजसू' वृन्दा विपिन निकेत।

७—हमरी गति पति कमल नयन लौं जोग सिखैं ते 'राँड़े'।

इन्होंने कुछ विचित्र शब्दों का भी प्रयोग किया है वैसे प्रयोग और कवियों के यहाँ नहीं मिलता। कुछ शब्दों का ऐसा रूप लिखा है जो 'अपना' अर्थ रखते हुए भी विचार पूर्वक ध्यान देने पर अपना अर्थ बताते हैं। जैसे 'करमभोग'। यह शब्द सूरदासजी ने 'क्रमशः' के अर्थ में प्रयुक्त किया है, और उक्त शब्द का अर्थ 'क्रमभोग' होकर 'क्रमशः' हो भी जाता है, पर विचार सहसा 'करम-भोग' के कर्मफल' अर्थ पर ही जाता है। क्योंकि 'करम-भोग' का प्रयोग और लोगों ने इसी प्रसिद्ध अर्थ में किया है। इस साम्य का कारण यह है कि 'क्रम' और 'कर्म' दोनों का 'करम' रूप विहित है। इसी प्रकार एक और प्रयोग लीजिये 'कंस खेद'। इस पद का अर्थ 'कंस का दुःख' अर्थात् 'कंस के हृदय में जो दुःख हुआ' यही जान पड़ता है। पर सूर ने इसे 'कंसकृत खेद' अर्थ में प्रयुक्त किया है जिसका अर्थ है 'कंस का दिया हुआ दुःख'। इसे भी विचित्र प्रयोग ही कहना चाहिये। और देखिये—

१—लोचन आँजि स्याम ससि दरसति तबहीं ये 'वृतात'।

२—जो जो 'वुनिये' सो सो लुनिये और नहीं त्रिभुवन भटभेरे।

३—पत्रावलि हरिवेष सुमन 'सरि' मिल्यो मनहु उड़ हार।

'सूर' ने पूर्वी बोली के 'इहवाँ', 'उहवाँ' का भी प्रयोग कर दिया है और अन्तर्वेद के भी कई शब्द प्रयुक्त हुए हैं, जैसे 'भोहन', 'चूरा' आदि।

कवियों में एक खास बात होती है कि वे अन्य भाषा के शब्दों को लेकर अपनी भाषा के ढाँचे में ढाल लेते हैं। यों तो सूर की कविता में पंजाबी (प्यारी) गुजराती (वियो) आदि के प्रयोग मिलते हैं तथा राजपूताना और बैसवाड़े के शब्दों से भी उनके पद अछूते नहीं रहे हैं, पर इन देशों के शब्दों में कोई विशेष परिवर्तन करने की आवश्यकता नहीं पड़ी है, क्योंकि इनकी 'खपत' यों ही हो जाती है। तथा इनके

क्रियापद लेने या इनके शब्दों द्वारा क्रियापद बनाने की भी आवश्यकता नहीं पड़ी। पर इन्होंने अरबी-फ़ारसी के शब्दों को भी लिया है और उनसे क्रिया पद तक बनाये हैं। 'तुलसी' भी इस कला में निपुण हैं पर 'सूर' 'तुलसी' की भाँति अरबी-फ़ारसी के शब्दों में संस्कृत के प्रत्ययादि कम लगाते हैं, पर उन्हें ब्रजभाषा के ढाँचे में ढाल कर मुलायम करने से चूकते भी नहीं। 'मशक्कत' फारसी शब्द है, पर सूर ने इसको 'मसकत' करके ब्रजभाषा का सुकोमल आवरण दे ही दिया। और भी उदाहरण देखिये—

१—'सूर' पाप को गढ़ दृढ़ कीना 'मुहकम' लाइ किवार।

२—निसिवासर विषयारस रुचित कबहुँ न 'आयो बाज'।

३—'कुलहि' लसत सिर रकम सुभग अति बहुविधि सुरंग बनाई।

४—कछू 'हवस' राखै जिन मेरी जोइ जोइ मोहि रुचै री।

५—सफरी, सेव, छुहारे, पिस्ता, जे 'तरबूजा' नाम।

६—घूँघट पट कवच कहो, छूटे मान 'ताजी'।

७—सुनौ जोग को का लै कीजे जहाँ 'ज्यान है' जी को।

क्रियापद बनाना तो इन्होंने भी नहीं छोड़ा। पर उसमें भी सूरत्व की छाप लगी है। जो शब्द प्रचलित हैं उन्हीं के क्रियापद बनाए हैं अप्रचलित या सोच कर अर्थ लगनेवाले पदों के नहीं, तुलसी तो 'गुजरना' का 'गुदरना' करके—

१—भा भिनुसार गुदारा लागा।

२—मिलि न जाइ नहिं गुदरत बनई।

लिख मारते हैं; पर ये ऐसा नहीं करते, वरन् जहाँ तक हो सका है विदेशी शब्दों को लाने से बचे हैं। देखिये—

'सूर' कृपालु भये करुनामय आपुन हाथ सो दूर रिहाये'।

द्राविड़ प्राणायाम करके शब्द लिखना 'सूर' को भी पसन्द था। अवशता हो जाने पर तुलसीदास जी जैसे 'पाथ-नाथ-नंदिनीपति' का प्रयोग करते हैं उसी प्रकार समुद्र के लिए सूरदासजी भी 'पिता संपति को' लिखते ही हैं—

कहती तु लंक उखारि डारि-देउँ जहाँ 'पिता संपति को'। इस प्रकार के और भी कितने ही प्रयोग हैं जो यथास्थान टिप्पणी में मिलेंगे।

प्राकृत के नियमों का प्रयोग भी सूर ने खूब किया है। प्राकृत के नियमानुसार 'ट' का 'र' हो जाता है। 'सूर' ने इसी आधार पर बेचारे 'कीट' को 'कीर' कर ही दिया। और भी उदाहरण देखिये—

१—समता घटा, मोह की बूँदें, 'सलिता' मैन अपारो।

२—कागज धरनि करै द्रुमलेखनि जल 'सायर' मसि घोर।

कहीं कहीं व्याकरण की अशुद्धियाँ भी मिलती हैं और वे भी खटकने वाली। सूर ने इसका कोई निवारण नहीं किया, तुलसी की भाँति इनकी भाषा में चुस्ती नहीं है। उदाहरण लीजिये—

१—जनक धनुषव्रत देखि जानकी त्रिभुवन के सब नृपति 'हँकारि'।

२—राजपुत्र दोउ ऋषि लै आए सुनि व्रत जनक तहाँ 'पगुधारी'।

३—चित्रकूट गये भरत मिलन जब 'पग-पाँवरि' दै करी 'कृपा री'।

इनमें 'पग-पाँवरि' शब्द का प्रयोग एक विशेष कारण से सदोष है, 'पग' शब्द यहाँ पर निरर्थक है, 'पाँवरी' कहने से ही अभिप्राय पूरा पूरा प्रकट हो जाता है। अतः यहाँ पर 'अधिकपद दोष' हुआ।

इसके पहिले उदाहरण में 'पगुधारी' शब्द है जिसका प्रयोग तुलसी ने भी किया है—

रंगभूमि जब सिय पगुधारी, देखि रूप मोहे नर-नारी।

इसमें मूल शब्द है पगुधार, जो हमारे ऊपर कहे अनुसार 'पैर धरती है' (प्रवेश करती है) अर्थ देगा और 'ई' 'नारी' का तुकान्त मिलाने के लिये लगाया है। पर सूर के 'पगुधारी' में यह बात नहीं है। यदि इसे अवधी के प्रकार का प्रयोग समझ लें तो परिहार हो सकता है। व्रज में ऐसा प्रयोग नहीं होता।

सूरदासजी की कविता में 'सु' 'जु' का प्रयोग भी कम नहीं है, इसका कारण यह है कि वे नित्य बहुत से पद बनाया करते थे। दो चार में 'सु' 'जु' की भरती किये बिना काम नहीं चलता था। इन्हीं के समकक्ष तुलसी के पद इनके प्रयोग से हीन हैं। उदाहरण—

इह सुनि ग्लानि जगत के बोहित पतित 'सु' पावन नाम।

सूर ने कुछ नये प्रयोग भी किये हैं। इन्हें हम विचित्र प्रयोगों से भिन्न मानते हैं, क्योंकि ऐसा प्रयोग नई परिपाटी चलाना है। हिन्दी साहित्य में 'सचु' शब्द जिसका अर्थ 'सुख', 'आनन्द', 'संतोष', आदि होता है 'पाना' क्रिया के साथ ही प्रयुक्त हुआ है। सभी कवियों ने इसका प्रयोग इसी क्रिया के साथ किया है और स्वयं सूर ने भी इसका प्रयोग 'पाना' क्रिया के साथ ही अनेक स्थलों पर किया है। पर इन्होंने इस शब्द का प्रयोग एक स्थान पर स्वतन्त्र भी किया है। देखिये—

"किंगरी सुर कैसे 'सचु मानत' सुनि मुरली को गान।"

यहाँ पर 'सचु का प्रयोग 'मानत' के साथ हुआ है, पर सूर तुलसी आदि सभी इसका प्रयोग 'पाना' क्रिया के साथ करते हैं :—

१—तबते बन सबहिन 'सचु पायो'।

२—सरसरिता जल होम किये ते, कहा अगिनि 'सचु पायो'।

३—माधव जू मैं उत अति 'सचु पायो'। 'सूर'

४—भोजन करहि सुर अति बिलम्ब विनोद सुनि सचु पावहीं।

तुलसी।

'सचु' कोई संज्ञा है इसमें तो सन्देह नहीं, फिर इसका प्रयोग अन्य क्रियाओं के साथ होना कोई अनुचित नहीं है। हमारे विचार से 'पाना' क्रिया के साथ इसका प्रयोग अत्यधिक सुन्दर है; पर अन्य क्रियाओं के साथ भी इसका प्रयोग किया जाता है।

सुतराम् सूर की भाषा प्रसादगुण पूर्ण और स्वाभाविक तथा मर्यादित प्रयोगों से युक्त है, किन्तु फिर भी इन गुणों के समस्त बंधान (चुस्ती) कुछ कम है। पर यह दोष क्षम्य है। रही व्याकरण की बात सो कवियों ने व्याकरण की परवाह की ही नहीं, पर सूर का व्याकरणविरोध भी मर्यादित ही है।

(आ)—पिंगल

सूरदासजी ने कविता गाने के लिये बनाई थी। अतः और किसी प्रकार के छन्दों को रागानुकूल बनाना, लय के अनुसार खींचना,

तथा उनमें तालमात्रा की नाप-जोख करना उतना स्वाभाविक नहीं होता जितना की पदों में होता है। गाने के लिये इन्हीं गीतों का प्रचार पहले से रहा है। तुलसीदासजी ने भी अपने 'गेय' काव्य के लिये इन्हीं पदों का प्रयोग किया है, इसी कारण सूरदासजी की संपूर्ण गेय-कविता इन्हीं पदों में हैं, पदों के लिये छन्दःशास्त्र में कोई विशेष नियम नहीं लिखा गया है। पदों की पहिली पंक्ति और पंक्तियों की अपेक्षा छोटी होती है और प्रत्येक दो चरणों के बाद इसकी आवृत्ति की जाती है। इसको 'स्थाई' पद या 'टेक' कहते हैं। इसमें एक प्रकार से सारे पद का निचोड़ सा रहता है! अन्य सब चरणों में मात्राएँ बराबर रहती हैं, और प्रवाह भी एक सा रहता है, नहीं तो उसमें राग-तालानुकूल बंधान बाँधने में बड़ी दिक़्क़त पड़ती है। सूरदासजी के पदों में ये सभी लक्षण वर्तमान हैं। इनके सभी पदों में (कतिपय पदों को छोड़कर) धारा प्रावाहिक गति बड़ी सुन्दर है। उन कतिपय पदों की गति बिगाड़ने का दोष हम 'सूरदास' जी को नहीं दे सकते। गेय कविता में श्रुति-दोष से इन बातों का होना असंभव नहीं है, पर इससे इनके पदों के गाने में कोई कठिनता नहीं होती। यह दोष गवैये पर निर्भर रहता है। सफल गायक इन दोषों को आसानी से छिपा सकता है। तुकान्त के सम्बन्ध में पदों का नियम तो यही है कि 'स्थायी' पद के अनुसार सभी पदों का एक सा तुक होना चाहिये। यही सर्वोत्तम सिद्धान्त है, क्योंकि स्थायी पद बार बार कहना पड़ता है। इस प्रकार के एक नहीं अनेक पद उदाहरण स्वरूप ग्रंथ में वर्तमान हैं। एक तुकान्त न होने से कुछ खटकता सा है। इससे कुछ घट कर नियम यह है कि पद सम विषम तुकान्त हो सकते हैं, किन्तु इनमें भी यह ख्याल रखना चाहिये कि तुकान्त में वर्णों का क्रम एक सा हो। जैसे—

मुरली सुनत उपजी 'बाइ'
स्याम सों अति भाव बाढ़ो चलीं सब 'अकुलाई'॥
गुरु जनन सो भेद काहू कह्यो नाहिं 'उघारि'।
अर्ध रैनि चलीं घरन तें जूथ जूथन 'नारि'॥

नंदनंदन तरुनि बोलीं सरद निसि के 'हेत'।
रुचि सहित बन को चलीं वै 'सूर' भई 'अचेत'॥

सूरदासजी के तुकान्तों में 'पद व्यतिक्रम' बहुत पाया जाता है। पहिले बहुत चरणों के यदि दो गुरु (SS) हैं तो अन्तिम पद में झट से दो लघु (॥) हो जायँगे। (SI) के स्थान पर (IS) हो जायगा।

गोविंद आहँ मन के 'मीत'।
गज अरु व्रज प्रहलाद द्रौपदी सुमिरन ही 'निश्चीत'॥
लाखागृह पांडवन उबारे शाक पत्र मुख 'खाये'॥
अंबरीष हित स्राप निवारे व्याकुल चले 'पराये'॥

\+ \+ \+

गुरु बांधव हित मिले सुदामहिं तंदुल रुचि सो 'जाँचत'।
प्रेम विकलता लखि गोपिन की बिबिध रूप धरि 'नाचत'॥

पर यह दोष नायक की कुशलता पर निर्भर है। वह यदि संगीत-शास्त्र में निपुण हो तो यह दोष ध्यान में आते ही नहीं। सारांश यह कि 'सूरदास' एक बड़े भारी संगीतज्ञ थे, और उन्होंने रागतालों के अनुकूल ही पदों की रचना की थी, उनको मात्रा गिन गिन कर शब्द रखने की और तुकान्त खोजने की ज़रूरत नहीं पड़ती थी स्वभावतः मँजे हुए कंठ से जो गाते जाते थे वह स्वयं एक पद के रूप में ही नजर आता था। इसलिये इनके पदों में ऐसा हो जाना अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता।

सूरदासजी ने शृंगार, शान्त, अद्भुत और हास्य—इन्हीं चार रसों का वर्णन किया है, पर बड़ी उत्तमता के साथ। शेष पाँच रसों का वर्णन इनके काव्यक्षेत्र की सीमा के बाहर है। पर कहीं कहीं और रसों का वर्णन भी थोड़ा बहुत किया गया है, और पूर्ण सफलता मिली है। शृंगार रस—वात्सल्य और दाम्पत्य प्रेम—के तो सूरदासजी उस्ताद हैं। वात्सल्य-रस के एक दो उदाहरण लीजिये—

(१) खेलत कान्ह नंद इक ठौरे।
कछुक खात लपटात दुहूँ कर बालक हैं अति भोरे॥

(२) बलि बलि जाउँ मधुर सुर गावहु ।

अबकी बार मेरे कुंवर कन्हैया नंदहि नाचि दिखावहु ॥

(३) आँगन में हरि सोइ गए री ।

दोउ जननी मिलि कै हरुये करि सेज सहित तब भवन लए री ॥

(४) बल मोहन दोउ करत बियारी ।

प्रेम सहित दोउ सुतनि जिमावति रोहिनि अरु जसुमति महतारी ॥

\+ \+ \+

दोउ मैया निरखत आलस स्यों छबि पर तन मन डारति वारी ।

बार बार जमुहात 'सूर' प्रभु इह उपमा कवि कहै कहा री ॥

कैसे सच्चे मित्र हैं ! वात्सल्य प्रेम ही मानों सदेह इन पदों में भरा हुआ है ।

शृंगार रस के 'संयोग' और 'विप्रलंभ' दोनों पक्षों का वर्णन सूरदासजी ने बड़ा सुन्दर किया है, और इतना अधिक किया है कि और कोई भी कवि इनकी समता नहीं कर सका । वृन्दावन में यमुनातट पर चाँदनी रात्रि में कदंब के वृक्ष के नीचे बड़े रमणीक स्थलों पर कृष्ण-गोपियों की रासलीला, विशेषतः राधा-कृष्ण का क्रीड़ा-कथन संयोग पक्ष है । कृष्ण गोपियों के प्रेम—रति स्थायी भाव—को विभाव, अनुभाव और संचारी भावों से पुष्ट किया है । ग्रन्थ-विस्तार की आशंका से यहाँ पर उनका खुलासा नहीं किया गया है । रस का परिपाक सूरदासजी ने बड़ा ही अच्छा किया है । इनका एक ग्रन्थ 'साहित्य-लहरी' ऐसा है कि उसमें इन्होंने नायक-नायिका भेद लिख डाला है, अतः विशेष उदाहरण न देकर प्रस्तुत पुस्तक में से ही दो एक पद उदाहरण स्वरूप उपस्थित किये जाते हैं । प्रेम-गर्विता नायिका की भाँति मुरली घमंड के मारे किसी से बोलती तक नहीं—

मुरली अति गर्व काहु बदति नाहिं आजु ।

हरि को मुख कमल देखि पायो सुख राजु ॥

\+ \+ \+

वंसी बस सकल 'सूर' सुर नर मुनि नागा।
श्रीपतिहु श्री बिसारि एही अनुरागा॥

गोपियाँ अपने प्रेम के आलंबन विभाव में स्थित श्रीकृष्णजी के रूप का वर्णन करती हैं—

(१) देखु सखी मोहन मन चोरतु।
नैन कटाच्छ बिलोकनि मधुरी सुभग भृकुटि बिबि मोरत॥

(२) स्याम हृदय वर मोतिन माला, विथकित भई निरखि ब्रजबाला॥
स्रवन थके सुनि बचन रसाला, नैन थके दरसन नँदलाला॥

प्रस्तुत संग्रह में बालकृष्ण, रूपमाधुरी, और मुरली माधुरी के पद 'संयोग श्रृंगार' में समझने चाहिये।

सूरदास जी का वियोग-श्रृंगार संयोग श्रृंगार से भी कहीं अधिक है। सच पूछा जाय तो श्रृंगार रस का वास्तविक स्वरूप 'वियोग पक्ष' में ही देखा जाता है 'संयोग-पक्ष' में नहीं। वास्तविक प्रेम का पता संयोग में नहीं चलता। जब तक दो प्रेमी एक साथ रहेंगे—उनका विछोह न होगा—तब तक उनको इस बात का ठीक ठीक ज्ञान नहीं हो सकता कि हम परस्पर एक दूसरे को कितना प्यार करते हैं। न उस समय आमोद-प्रमोद के कारण किसी को यह जानने की उतनी उत्कंठा ही रहती है। पर वियोग होते ही जब एक दूसरे का अभाव खटकने लगता है, अपने संयोग के दिनों की याद रह रह कर चित्त को व्याकुल कर देती है तब अपने प्रिय के सच्चे प्रेम का पता चलता है। माता पुत्र का प्रेम अतुलनीय है पर जब तक दोनों का विछोह नहीं हो जाता तब तक किसी को भी यह नहीं जान पड़ता कि हमारा परस्पर कितना प्रेम है, न यह जानने की चेष्टा ही की जाती है। माता पुत्र को डाँटती फटकारती भी है, पुचकारती भी है। पुत्र भी मचलने रूठने से बाज नहीं आता। पर ज्यों ही पुत्र कहीं विदेश जाता है तो माँ अपने लाडिले के मचलने और रूठने को हो तरसती है। जो मचलना और रूठना संयोगावस्था में दुःखद प्रतीत होता था इस समय उसकी याद ही सुखद जान पड़ती है, पुत्र को भी माँ के वास्तविक प्रेम का सच्चा अनुभव माता से बिछुड़ने पर ही जान

पड़ता है । माता का अभाव जब उसे खटकने लगता है तब वह जानता है कि मातृ-प्रेम का महत्व क्या है । एक ओर पुत्र के बिना माता को अपना हृदय सूना सा जान पड़ता है, पुत्र के अभाव में आनन्द उसके पास तक नहीं फटकता ; दूसरी ओर पुत्र को मुहुर्मुहुः माता की स्नेहपूर्ण फटकार की याद आने से कल नहीं पड़ती । एक ओर माता को यह चिन्ता लगी रहती है, मेरा लाल कहीं भूखा न हो, मेरे हृदय के टुकड़े को हठ करके कौन खिलाएगा इत्यादि, दूसरी ओर पुत्र को स्नेहमयी जननी के 'मेरे लाल, जरा और खालो,' इत्यादिक वात्सल्य पूर्ण अनुरोध के अभाव में स्वादिष्ट भोजन भी नहीं रुचता । हम लोग जब तक घर में रहते हैं तब तक अपने भाई-बहनों, अपने बालसखाओं से न जाने कितनी बार लड़ते झगड़ते हैं । पर घर से बाहर पैर रखते ही रह रह कर भाई बहनों की याद हमें चैन नहीं लेने देती । इसीलिए हम कहते हैं कि 'वियोग प्रेम की कसौटी है' । जिसका प्रेम विरहाग्नि में तप कर भी खरे सोने की तरह दमकता रहता है, विरह रूपी शाणशिला में घिसने पर भी जिसका प्रेम हीरे की भाँति और भी अधिक चमकने लगता है वही सच्चा प्रेमी है । एक बात और भी है । संयोग में प्रेम का निर्वाह करना कुछ कठिन नहीं है, बात तो तभी सराहनीय है जब वियोग में हम प्रेम का निर्वाह पूर्ण रूप से कर सकें । संयोग में कपट प्रेम भी हो सकता है, पर वियोग में तो कपट प्रेम को ठौर ही नहीं । संयोग में कभी-कभी वासना भी छिपी रहती है, पर वियोग में यह बात भी नहीं । इसी कारण आचार्यों ने 'संयोग-शृंगार' से 'विप्रलंभ शृंगार' को ऊँचा स्थान दिया है ।

वियोग होने पर वियोगी की जो दशा होती है उसका अनुभव प्रत्येक व्यक्ति को हो नहीं सकता भुक्तभोगी ही जानता है, प्रेमी अपने प्रिय के ध्यान में निमग्न होकर खाना पीना भी भूल जाता है । लाख प्रयत्न कीजिये पर प्रेमी को चैन नहीं मिलता, उसे कुछ नहीं सुहाता । उसकी आँखें केवल प्रिय के दर्शन की ही भूखी रहती हैं, जैसे—

> अँखिया हरि दरसन की भूखी ।
> कैसे रहैं रूप रस राँची ये बतियाँ सुनि रूखी ॥

अवधि गनत, इकटक मग जोवत तब एती नहिं झूँखी।
अब इन जोग संदेसन ऊधो अति अकुलानी दूखी॥
बारक वह मुख फेरि दिखाओ दुहि पय पिवत पतूखी।
'सूर' सिकत हठि नाव चलाओ ये सरिता है सूखी॥

प्रेमी को प्रिय की गुण चर्चा सुनने के अतिरिक्त और बातें कुछ भी नहीं रुचतीं।

हमको हरि की कथा सुनाव।
अपनी ज्ञान कथा हो ऊधो मथुरा ही लै गाव॥

\+ \+ \+

हरि मुख अति आरत इन नयननि बारक बहुरि दिखाव॥

जब यह नृशंस वियोग दो प्रेमियों के बीच में पहाड़ की तरह खड़ा हो जाता है तब उनकी सारी अभिलाषाओं पर पानी फिर जाता है, इच्छाओं का खून हो जाता है। यही निघृण वियोग प्रेमियों को खाना पीना तक भुला कर उन्मत्त कर देता है, प्रेमी इसी वियोग की कठोरता से अपने सब सुखों को तिलांजलि दे देता है।

अब या तनहिं राखि का कीजे।
सुनु री सखी! स्यामसुन्दर बिनु बाँटि विषम विष पीजे॥
दुसह वियोग विरह माधव के कौन दिनहिं दिन छीजे।
'सूरदास' प्रीतम बिन राधे सोचि सोचि मन खीजे॥

कभी कभी यहाँ तक कि उनकी मृत्यु तक का कारण हो जाती है। पर महात्मा सूरदासजी का 'वियोग' इतना पाषाण-हृदय नहीं है। उन्होंने 'भ्रमर-गीत' में यही सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि प्रेम के पश्चात् वियोग ही एक ऐसा मार्ग है जिस पर चलने से प्रेम अधिकाधिक दृढ़ एवं पुष्ट होता जाता है। उनका कथन है कि यदि प्रेम सच्चा हो तो चाहे कितना ही दुस्सह वियोग क्यों न हो जाय, गोपियों के प्रेम की भाँति अटूट अक्षुण्ण रहेगा, अथवा यों कहिये कि उत्तरोत्तर बढ़ता ही जायगा। वे सदा यही कहेंगी—"जे पहिले रंग रंगी स्याम रंग तिन्हे न चढ़ै रंग आन"। हृदय वही विचित्र वस्तु है, जितना अधिक वियोग

होगा उतना ही उसमें अधिक प्रेम भी बढ़ेगा, मगर प्रेम हो सच्चा, कच्चो सुतली में बँधा नहीं।

(१) ऊधो मन नाहीं दस बीस।
एक हुतो सो गयो स्याम सँग को आराधै ईस!
भई अति सिथिल सबै माधव बिनु जथा देह बिनु सीस।
स्वासा अटकि रहे आसा लगि जीवहिं कोटि बरीस॥
तुम तौ सखा स्याम सुन्दर के सकल जोग के ईस।
'सूरदास' रसिक को बतियाँ पुरवो मन जगदीस॥

और भी देखिये—

(२) विरह सहन को हम सिरजी हैं, पाहन हृदय हमार।
'सूरदास' अन्तरगत मोहन जीवन प्रान अधार॥

जो वस्तुएँ जो बातें हमें संयोग के समय हितकर जँचती हैं वे ही वस्तुएँ वे ही बातें हमें प्रिय के अभाव में शत्रु सी खटकती हैं। कृष्ण के अभाव में गोपियाँ कहती हैं—

बिनु गोपाल वैरिन भई कुंजैं।
तब ये लता लगहिं अति सीतल अब भई विषम ज्वाल की पुंजैं॥
वृथा बहति जमुना, खग बोलत, वृथा कमल फूलैं अलि गुंजैं।
पवन, पानि घनसार, सजीवनि, दधिसुत, किरन भानु भई भुंजैं॥
ये ऊधो कहियो माधव सों विरह करद कर मारत लुंजैं।
'सूरदास' प्रभु को मग जोवत अँखियाँ भईं बरन ज्यों गुंजैं॥

प्रिय के वियोग में सब सूना सा जान पड़ता है, सब अंधकार मय दिखलाई देता है, घर बाहर सर्वत्र उदासी छाई रहती है—

ऊधो यहि ब्रज बिरह बढ़्यो।
घर, बारि, सरिता, बन, उपवन, बल्ली द्रुमन चढ़्यो॥

ये दशाएँ दोनों ओर समान रूप में प्रकट होती हैं। जब तक हम अपने घर या गाँव में रहते हैं तब तक हमें वहाँ की वस्तुओं में कोई विशेष चमत्कार नहीं जान पड़ता। पर घर से दूर जाते ही वहाँ के साधारण से साधारण तुच्छ से तुच्छ पदार्थों में भी एक अपूर्व सौंदर्य

लज्जित होता है, अनेक अपूर्व चमत्कार बोध होते हैं, उस समय के सुख के लिए हमारा मन तरसता है। व्रज की याद आने मात्र से कृष्ण गद्गद हो जाते हैं और उनके चित्त-पट पर पुराने आमोद-प्रमोद के चित्र एक एक कर अंकित होते जाते हैं। सूरदास जी ने इन भावों को कैसे सुन्दर शब्दों में प्रकट किया है—

ऊधो मोहिं व्रज बिसरत नाहीं।
हंस-सुता की सुन्दरि कगरी अरु कुंजन की छाँहीं॥
वे सुरभी, वे बच्छ, दोहनी, खरिक दुहावन जाहीं।
ग्वाल बाल सब करत कोलाहल नाचत गहि गहि बाहीं॥
यह मथुरा कंचन की नगरी मनि मुकताहल जाहीं।
जबहिं सुरति आवत वा सुख की जिय उमगत तनु माहीं॥
अनगन भाँति करी बहु लीला जसुदा-नन्द निबाहीं।
'सूरदास' प्रभु रहे मौन ह्वै, यह कहि कहि पछिताहीं॥

'वियुक्त' के स्वरूप या गुण का सादृश्य सम्मुख आते ही अपने उस प्रिय की याद आ जाती है—

आजु घन स्याम की अनुहारि।
उनै आये साँवरे सखि तेहि रूप निहारि॥

\+ \+ \+

गरजत गगन गिरा गोविन्द की सुनत नयन भरे बारि।
'सूरदास' गुन सुमिरि स्याम के बिकल भईं व्रज नारि॥

अपने प्रिया के वियोग के समय हम दूसरे का—चाहे वह हमारा प्रिय सखा ही क्यों न हो—आनन्द फूटी आँखों से भी नहीं देख सकते।

कोउ माई ? बरजै या चन्दहि।
करत है कोप बहुत हम ऊपर कुमुदिनि करत अनंदहि॥

\+ \+ \+

'हम तो विरह के मारे मर रही हैं और यह निगोड़ी कुमुदिनि अपने प्रियतम चन्द्रमा के साथ आनंद कर रही है' इस ईर्ष्या के वश में होकर गोपियाँ भी यही मनाने लगती हैं कि कुमुदिनी का भी अपने प्रियतम से

वियोग हो जाय। यही नहीं वे 'जरा देवी' और राहुकेतु की प्रार्थना करने से भी नहीं चूकतीं। मत्सरमय संसार का यही नियम ही है। किसी की नाक कट जाती है तो वह 'नाक की ही ओट में स्वर्ग' यह कहकर सबकी नाक कटा कर अपने पक्ष को मजबूत करने का प्रयत्न करता ही है।

वियोग का एक और पहलू है। दृढ़ विश्वासी को वियोग नहीं सताता, क्योंकि वह अपने उपास्य की मूर्ति का जब चाहे तब अपने मन के भीतर ही आह्वान कर लेता है उसका सजीव चित्र उसके नेत्रों के सामने नाचने लगता है।

> नाहिन रह्यो मन में ठौर।
> नन्दनन्दन अछत कैसे आनिये उर और॥
> चलत चितवत, दिवस जागत, सपंन सोवत राति।
> हृदय तें वह स्याम मूरति छुन न इत उत जाति॥
> स्याम गात, सरोज आनन, ललित अति मृदु हास।
> 'सूर' ऐसे रूप कारन मरत लोचन प्यास॥

प्रेम हमको स्वार्थत्याग का पाठ पढ़ाता है, स्वार्थ त्याग करना प्रत्येक उत्तम कोटि के प्रेमिक के लिये अनिवार्य है। अपने प्रिय को सुख पहुँचाने के लिये प्रेमी विरले सौभाग्यवान को प्राप्त होता है। माता का निःस्वार्थ स्नेह इसी श्रेणी के अन्तर्गत है। माता को अपने पुत्र का विरह सहना मंजूर है, पर यदि उसके निकट रहने से पुत्र के किसी तरह के अमंगल की आशंका रहती है तो वह हृदय से यही मनाती है कि पुत्र यहाँ न रहे तो अच्छा। यही बात हम गोपियों के स्वार्थहीन प्रेम के बारे में भी कह सकते हैं। कहती हैं—

> ऊधो भली करी गोपाल।
> आपुन तौ आवत नाहीं ह्याँ, वहाँ रहे यहि काल॥
>
> + + +
>
> हम तौ न्याय सहैं एतो दुख बनवासी जो गुवाल।
> 'सूरदास' स्वामी सुखसागर भोगी भ्रमर भुआल॥

"ठीक ही किया गोपाल ने जो यहाँ नहीं आए। व्रज की दशा तो इस समय बड़ी भयावनी है। सभी सुखद पदार्थ दुःखद हो गये हैं। अतः कृष्ण का यहाँ न आना ही अच्छा हुआ। हम तो इस कष्ट को किसी न किसी प्रकार सह ही लेती हैं पर कन्हैया का सुकुमार शरीर इन कष्टों को नहीं सह सकता।" वास्तव में प्रेम की यही विशेषता है। वह प्रेम ही क्या जिसमें वियोग रूपी दीवार को न लाँघना पड़े? वह प्रेम ही क्या जिसके पश्चात् प्रेमी कुछ काल तक वियोग की ज्वाला में छटपटाए नहीं। सच पूछिये तो बिना वियोग के प्रेम में कुछ रस नहीं, कुछ मज़ा नहीं। सच्चा और लगन का प्रेम वियोग के पश्चात् ही अपूर्व आनन्द देता है। हमारा पंचम-रत्न—भ्रमर गीत—वियोग-शृङ्गार के उदाहरणों से ही भरा हुआ है।

शृङ्गार रस की बातें हो चुकीं। अब शान्त रस के भी कुछ उदाहरण देखिये।

१—अजहूँ सावधान किन होहि।
माया विषम भुजंगिनी को विष उतर्‌यो नाहिन तोहि॥

२—अब की राखि लेहु भगवाने।
हम अनाथ बैठे द्रुम डरिया पारधि साधे बान॥

३—ऐसे प्रभु अनाथ के स्वामी।
कहियत दीन दास पर पीरक सब घट अन्तरजामी॥

४—जनम सिरानो अटके अटके।
सुत संपति गृह राजमान को फिरो अनत ही भटके॥

५—जौपै राम नाम धन धरतो।
टरतो नहीं जनम जनमान्तर कहा राज जम करतो॥

कहाँ तक गिनावें, एक दो हों तो लिखे भी जायँ। 'विनय' के समस्त पदों को शान्तरस के ही उदाहरण समझने चाहिये। शेष रहे अद्भुत और हास्य-रस।

वास्तव में अद्भुत रस सभी रसों में अन्तर्हित रहता है, काव्य अनोखी कल्पनाओं से भरा रहता है। ये अनोखी कल्पनाएँ एक प्रकार

से 'अद्भुत-रस' में ही परिगणित हो सकती है। 'रस' का अर्थ ही 'लोकोत्तर' या 'अद्भुत' चमत्कार है। एतावता यह मानना पड़ता है कि विना अद्भुतता के किसी काव्य में चमत्कार या रोचकता आ नहीं सकती। कहा भी है—

रसे सारश्चमत्कारः सर्वत्राप्यनुभूयते।
तच्चमत्कारसारत्वे सर्वत्राप्यद्भुतो रसः॥

सूरदास जी के विषय में तो हम पहिले भी कह चुके हैं कि वे विना आद्भुत्य के कोई बात ही नहीं करेंगे। मामूली सी बात में भी कोई न कोई अनोखी कल्पना खोज ही लावेंगे। कतिपय उदाहरण ही दे देना पर्याप्त होगा—

(१) चरन कमल बंदौं हरि राई।
जाकी कृपा पंगु गिरि लंघै अंधे कूँ सब कुछ दरसाई॥
बहिरो सुनौ मूक पुनि बोलै रङ्क चलै सिर छत्र धराई।
'सूरदास' स्वामी करुनामय बार बार बंदौं तेहि पाई॥

(२) राखी लाज द्रुपदतनया की कुरुपति चीर हरै।
दुर्योधन को मान भंग करि बसन प्रवाह भरै॥

(३) जब सुरपति कोप्यो ब्रज ऊपर कहि हू कछु न सरै।
राखे ब्रजजन नन्द के लाला गिरिधर बिरद धरै॥

(४) निकसि खंभ तें नाथ निरन्तर निज जन राखि लियो।
बहुत सासना दइ प्रहलादहिं ताहि निसंक कियो॥
मृतक भये सब सखा जिवाए विष जल जाइ पियो।
'सूरदास' प्रभु भगतबछल हैं उपमा कौन दियो॥

(५) गुपालैं माई पालने झुलाए।
सुर मुनि कोटि देव तेंतीसौ देखन कौतुक आए॥
जाको अन्त न ब्रह्मा जानत सिव सनकादि न गाए।
+ + +
'सूर' स्याम भगतन हित कारन नाना भेष बनाए॥

(६) जसुदा तू जो कहति ही मो सों।

दिन प्रति देन उरहनो आवति कहा तिहारो कोसों ॥
यहे उरहनों सत्य करन को गोविंदहि गहि ल्याई।
देखन चली जसोदा सुत को ह्वै गये सुता पराई ॥

श्रीकृष्ण जी परमात्मा के अवतार हैं, लीला करने को ही परमात्मा मनुष्य देह धारण करके मर्त्यलोक में अवतरित हुए हैं। परमात्मा के जितने भी कार्य हैं वे क्षुद्र मनुष्यों के लिए अद्‌भुत ही हैं। अतएव परमात्मा के कार्यों के सम्बन्ध में ऐसी अनोखी कल्पना करना मनुष्य जाति के लिए कोई अस्वाभाविक बात नहीं है। केवल 'सूर' ने ही नहीं 'तुलसी' प्रमुख जिन जिन कवियों ने भी 'ईश्वर' की महिमा का बखान किया है सबने अद्‌भुततापूर्वक ही। वास्तव में परमेश्वर और उसकी सृष्टि अभी अद्‌भुत हैं। जो परमात्मा—

बिनु पद चलै सुनै बिनु काना, कर बिनु कर्म करै विधि नाना।
आनन रहित सकल रस भोगी, बिन वाणी बकता बड़ जोगी ॥

है, उसके बारे में कल्पनाएँ भी अद्‌भुत ही होंगी। 'सूर' की कल्पना की दौड़ यहीं तक नहीं रही। देखिये—

संदेसनि मधुबन कूप भरे।

+ + +

मसि खूँटी, कागर जल भीजे, सर दौ लागि जरे।
पाती लिखैं कहो क्योंकरि जो पलक कपाट अरे ॥

अद्‌भुतता की हद हो गई। इस कल्पना की भी कोई सीमा है? गोपियाँ चिट्ठी लिखें भी तो कैसे? स्याही चिट्ठी लिखते २ चुक गई। बना चुचा कागज़ था सो उनके आँसुओं के जल से भीग गया। दुर्भाग्यवश कलम बनाने के लिये सरकंडे का भी अभाव हो गया, सारे बन के बन में आग लग गई। यदि विचार किया जाय तो अत्युक्ति, अतिशयोक्ति, उत्प्रेक्षा, विभावना आदि कई अलंकार भी बिना अद्‌भुतता के हो नहीं सकते। यहीं पर अत्युक्ति अलंकार के ही कारण इस पद में कितनी खूबी और कितना चमत्कार आ गया है। ऐसी कल्पनाएँ सूर-साहित्य में एक नहीं अनेकों हैं।

'सूरदास' जी समय पर फबतियाँ कसने और मज़ाक करने से भी नहीं चूके हैं। इनकी कविता पढते-पढ़ते मन ही मन हँसी आए बिना नहीं रहती। इनका हास्य बड़ा गम्भीर होता है, जिसे हम स्मित हास्य कहते हैं। महापुरुषों की भाँति सभी महाकवियों का हास्य भी 'स्मित' ही होता है, क्षुद्र मनुष्यों और क्षुद्र कवियों की तरह बत्तीसी दिखाकर 'अट्टहास' नहीं होता है। भ्रमरगीत में हम इस रस को प्रचुर परिमाण में पाते हैं।

आए जोग सिखावन पाँडे।
परमारथी पुराननि लादे ज्यों बनजारे टाँड़े॥
काहे को झाला लै मिलवत कौन चोर तुम डाँड़े।

+ + +

'सूरदास' तीनों नहिं उपजत धनिया, धान, कुम्हाड़े॥

ऊधो को बनाने के लिये गोपियाँ कैसी मीठी चुटकी लेती हैं। "हाँ अब आए पाँडेजी, ये हमको जोग सिखावेंगे। जोग, बनजारे की तरह बैलों में पोथी पत्रा लादे फिरते हैं, आदि।" फिर जरा मुसुकुराती हुई पूछती हैं—

निर्गुण कौन देस को बासी?
मधुकर! हँसि समुझाय सौंह दें बूझति साँच, न हाँसी॥

ऊधो को बेवकूफ बनाने के लिये कहती हैं, 'ऊधोजी, शायद आप रास्ता तो नहीं भूल गये। आपको कहीं दूसरी जगह जाना होगा, पर भूल मे यहाँ आ पड़े होंगे।'

ऊधो जाहु तुम्हैं हम जाने।
स्याम तुम्हैं ह्याँ नाहिं पठाये तुम हौ बीच भुलाने॥

अथवा, शायद 'श्याम' ने तुम्हारे साथ कोई मज़ाक किया है। नहीं तो वे तुमको हमें जोग सिखाने क्यों भेजते। अच्छा तुम्हारी कसम यह तो बतलाओ, जब उन्होंने तुमको हमारे पास भेजा था तब क्या वे ज़रा मुसुकाए भी थे या नहीं?

साँच कहो तुमको अपनी सौं बूझति बात निदाने।
'सूर' स्याम जब तुम्हैं पठाये, तब नेकहु मुसुकाने॥

जब ऊधो का मखौल उड़ाने में कोई कसर नहीं रह जाती तब कहती हैं, "अच्छा बहुत हुआ, देख ली आपकी पंडिताई, अब आपके चरण छूती हैं—

ऊधो, उठो सबै पालागैं देखी ज्ञान तुम्हारो ।

इस प्रकार की चुभती हुई चुटकियों से सारा भ्रमरगीत भरा पड़ा है। जैसा हम कह चुके हैं ये सब 'मन्दहास' के उदाहरण हैं 'अतिहास' के नहीं। एक उदाहरण और देखिये—

स्याम, कहा चाहत से डोलत।
बूझेहू ते बदन दुरावत सूधे बोल न बोलत ।

+ + +

मैं जान्यो यह घर अपनो है या धोखे में आयो।
देखतु हौं गोरस में चींटी काढ़न को कर नायो।

ऐसा शायद कोई बिरला ही होगा जो नटखटाधिपति की, 'मैं जान्यो····· गोरस में चींटी काढ़न को कर नायो' इस युक्तिपूर्ण उक्ति को पढ़ कर न मुसकुरा दे। फिरि यदि "सुनि मृदुबचन······ग्वालिनि मुरि मुसुकानी" तो इसमें ताज्जुब क्या। बच्चों का विनोद ही हास्यमय होता है। बच्चों की तुतली बातें ही हास्यरस के 'विभाव' कहे जा सकते हैं। उनकी एक एक बात ऐसी होती है जो रोते हुओं को भी हँसा देती है। माखनचोर मोहन की माखनलीला हास्यमय है। बस इतना ही अलम् होगा। एक उदाहरण भयानक रस का भी देकर अब हम रस विवेचन को समाप्त करते हैं—

चरन गहे अँगुठा मुख मेलत ।

+ + +

उछलत सिंधु, धराधर काँप्यो, कमठ पीठि अकुलाइ ।
सेस सहसफन डोलन लागे हरि पीयत जब पाइ ॥
बढ्यो वृक्ष बट, सुर अकुलाने गगन भयो उत्पात ।
महाप्रलय के मेघ उठे करि जहाँ तहाँ आघात ॥

सूरदासजी का कल्पना-तुरङ्ग बड़ी-बड़ी कुदानें लेता है। यदि कहा जाय कि कल्पना साम्राज्य के एक बड़े भाग की सैर सूरदासजी खूब कर चुके हैं। बाल-प्रकृति और नारी-प्रकृति की तो रग-रग से सूरदासजी इतने परिचित हैं कि शायद ही कोई कवि उनकी समता कर सके। पर हाँ तुलसी की भाँति इनका कल्पनाक्षेत्र विस्तृत एवं व्यापक न था। बालकों के प्रत्येक भाव का सूर ने बड़ा ही सुन्दर चित्र खींचा है। इस विषय में तो सूर अद्वितीय रहे हैं। भावों का विशेष विवरण हम 'पंच-रत्न की आलोचना' के स्तम्भन के साथ साथ करेंगे।

अब हमें सूर की शब्दशक्ति, व्यंग्य, और अलंकार के विषय में कुछ कहना है। 'शब्दशक्ति' का काव्य में सबसे ऊँचा स्थान है, अच्छे कवियों की कविता में फालतू या भरती के शब्दों की भरमार नहीं होती। प्रत्येक शब्द ऐसा चुना हुआ और संगठित रहता है कि वाक्य का प्रवाह ही वक्ष्यमाण भाव को व्यक्त कर देता है जिससे कविता में और भी सौंदर्य आ जाता है। प्रत्येक महाकवि की कविता में यह गुण थोड़ा बहुत अवश्य पाया जाता है। 'तुलसी' तो इस विषय में उस्ताद हैं। देखिये 'घन घमंड नभ गरजत घोरा' इस पद में उन्होंने 'घोष' और 'महाप्राण' वर्णों के द्वारा कैसी ध्वनि पैदा कर दी है! पढ़ते ही बादलों के गर्जन का स्पष्ट भान हो जाता है। इसी प्रकार 'कंकन किंकिन नूपुर धुनि सुनि। कहत लषन सन राम हृदय गुनि' इसमें सानुनासिक वर्णों द्वारा नूपुर की छमछमाहट साफ सुनाई देती है, इसे कहते हैं 'साहि-त्यिक सौंदर्य' यह है शब्द-चातुरी। सूर में भी यह खूबी है ज़रूर पर तुलसी की इतनी नहीं। 'अल्प दशन कलबल कर बोलनि' और 'अट-पटात कल बल कर बोलत' इसमें 'ल' कार बाहुल्य, और अघोष और अल्पप्राण वर्णों के प्रयोग से ऐसा ही ज्ञात होता है कि सचमुच कोई बालक 'अस्फुट' 'अटपटे' शब्दों में बोल रहा है। कृष्ण डगमगा कर गिर पड़ते हैं। इसका चित्र सूर ने 'अरबराइ कर पानि गहावत डगमगाइ। धरनी धरै पैया' शब्दों द्वारा सामने रख दिया है, 'अरबर-डगमग धर धर' शब्दों के उच्चारण में हमारी जिह्वा न जाने कितनी बार लड़खड़ाती है।

ऐसे प्रयोग 'अनुकरणात्मक' (Automaticpoetic) कहलाते हैं। स्थानाभाव से और उदाहरण नहीं दिखाये जा सकते।

ध्वनि भी 'सूरदास' के काव्य में बहुत पाई जाती है। भ्रमरगीत का तो एक पद भी ध्वनिहीन नहीं है। यहाँ पर दो चार उदाहरण दे देना ही अलम् होगा।

ऊधो गोपियों को जोग सिखाते हैं पर गोपियों को कृष्ण के दर्शन के अतिरिक्त और कुछ अच्छा नहीं लगता। वे कहती हैं—

बार बार ये वचन निवारो। भगति विरोधी ज्ञान तुम्हारो।

\+ + +

जब हरि आवैं तब सुख पावैं। मोहन मूरति निरखि सिरावैं।
दुसह कथा अलि! हमहि न भावैं। जोग कथा ओढ़ैं कि डसावैं॥

इस पद में 'ओढ़ैं कि डसावैं' अत्यन्त खीझने पर कहा गया है। अविवक्षित वाच्य ध्वनि द्वारा वे यह प्रकट करती हैं कि हमें सगुण ही चाहिये, निर्गुण की कथा की हमें ज़रूरत नहीं। इसी प्रकार 'लखियत कालिन्दी अति कारी' इस सम्पूर्ण पद में रूपक और उत्प्रेक्षा अलंकार द्वारा विरह व्याकुलता की अतिशयोक्ति व्यंजित है। यहाँ लक्ष्यक्रम व्यंग्य द्वारा अलंकार से अलंकार व्यंजित है।

ऊधो धनि तुम्हरो व्यौहार।
धन वै ठाकुर धनि वै सेवक, धनि तुम बरतनहार॥

यहाँ भी 'धनि' शब्द के मुख्यार्थ का अर्थान्तर अर्थात् 'धिक्' अर्थ में संक्रमण होने से 'अत्यन्ततिरस्कृत वाच्य ध्वनि' है।

जा जा रे भौंरे दूर दूर।
कारे रूप अरु एकहि मूरति मेरो मन कियो चूर चूर॥

इससे यह व्यंग्य निकलता है कि काले आदमी प्रीतिपात्र बनाने के योग्य नहीं। इसी प्रकार—

'सूरदास' पुनि कहाँ गये तें पुनि कह लैहै आय।

इसने यह सूचित किया है कि अगर हमारी सुध न ली जायगी तो हम प्राण त्याग देंगी। फिर सिवाय पछताने के और कुछ हाथ न आयगा।

'देखो माई सुन्दरता को सागर'—इस पद में भी रूपकालंकार द्वारा कृष्ण का सौन्दर्य व्यंग्य है। इसी प्रकार और भी समझ लेने चाहिये।

सूरदासजी के मुख्य अलंकार उपमा, रूपक और उत्प्रेक्षा हैं। पर ध्यान देने से और भी बहुत से अलंकार इनके पदों में मिल सकते हैं। इनके अलंकार स्वाभाविक हैं। इन्होंने अलंकार की अपेक्षा वर्णन की ओर अधिक ध्यान दिया है। किन्तु उस वर्णन में उपमा और उपमामूलक ही अन्य अलंकार स्वतः आ गये हैं। सच पूछिये तो उपमालंकार के बिना किसी भी कवि का काम नहीं चलता; और अलङ्कारों का अस्तित्व ही उपमा की वजह से है। इसलिये उपमा तो पद पद पर स्वयं आ गई है। महाकवि अलंकारों के पीछे अपने भावों को नष्ट नहीं कर देता। वास्तव में काव्यकलाकोविद कवि काव्य-शास्त्र का अनुसरण नहीं करता, वरञ्च शास्त्र ही कवि का अनुसरण करता है। कवि अपनी स्वाभाविक गति से कविता करता जाता है, और उसके अनजान में ही भिन्न-भिन्न अलंकार ध्वनि आदि उसकी कविता में स्वतः समाविष्ट होते हैं और कवि को इस बात का भान भी नहीं होता कि इसमें कौन अलंकार व्यंग्य है। कुछ उदाहरण लीजिये—

१—उपमालंकार—

(१) चन्द्र कोटि प्रकास मुख अवतंस कोटिक भान।
कोटि मन्मथ वारि छवि पर निरखि दीजत दान॥
भृकुटि कोटि कुदण्ड रुचि, अवलोकनी संधान।
कोटि वारिज नयन बङ्क कटाच्छ कोटिक बान॥
कम्बु ग्रीवा रतनहार उदार उर मनि जान।

(२) बने हैं विसाल कमल दल नैन। इत्यादि······

तुलसी की भाँति सूर भी रूपक विशेषतः सांगरूपक—के उस्ताद हैं। हैं तो इसके उदाहरण बहुत से पर दो एक दे देना ही पर्याप्त होगा।

२—रूपक—बाल कृष्ण के पद ४६ और ४७ में हरि-हर का क्या ही सुन्दर सांग रूपक बाँधा है। 'देखो कोई, सुन्दरता को सागर' इस पद में कृष्ण की सुन्दरता का सागर के साथ बड़ा ही अच्छा रूपक बाँधा है।

इसी प्रकार 'नँदनन्दन वृन्दावन चन्द' में चन्द्रमा और कृष्ण का सांगो-पाँग रूपक बाँधने में भी कमाल किया है। 'विनय' में तो दार्शनिक विषयों के रूपकों की भरमार है, उदाहरणार्थ देखिये पद-संख्या ५, ८, ६ और १०।

३—उत्प्रेक्षा—सूरदासजी जब वर्णन करने लगते हैं तो उत्प्रेक्षाओं की झड़ी सी लगा देते हैं। उपमा के बाद उत्प्रेक्षा का ही इन्होंने सर्वाधिक प्रयोग किया है।

१—सुन्दर कर आनन समीप अतिराजत इहि आकार।
मनु सरोज विधु बैर बंचि करि लिये मिलत उपहार॥
गिरि गिरि परत बदन तें उर पर ह्वै ह्वै दधिसुत बिंदु।
मानहु सुभग सुधाकन बरषत लखि गगनांगन इन्दु॥

२—मुख आँछू माखन के कनिका निरखि नैन सुख देत।
मनु ससि स्रवत सुधानिधि मोती उडुगन अवलि समेत॥

३—कटि तटि पीत बसन सदेस।
मनहु नवघन दामिनी तजि रही सहज सुभेस॥
कनक-मनि मेखला राजत सुभग स्यामल अंग।
मनहुँ हंस रसाल पंगति नारि बालक संग॥

४—रूपकातिशयोक्ति—भी सूर ने बहुत ज्यादा कही है। राधिका के नख-शिख वर्णन में इसका बहुत प्रयोग किया है—

१—नंदनंदन मुख देखो माई।
+ + +
खंजन मीन कुरंग भृंग वारिज पर अति रुचि पाई॥

२—जब मोहन मुरली अधर धरी।
+ + +
हरि गये कीर कपोत मधुप पिक सारंग सुधि बिसरी।
[illegible] करि, बिद्रुम, बिम्ब, मिलान्यो दामिनि अधिक डरी॥

३—[illegible] इन सब छल [illegible] पायो।
+ + +
[illegible] करिहौ बैरिन मारो॥

इस अन्तिम पद में व्यंग्य से रूपकातिशयोक्ति अलंकार व्यंग है।

यद्यपि 'सूर' ने बहुत अलंकारों का प्रयोग नहीं किया है, तथापि यत्र-तत्र इन चार मुख्य अलंकारों के अतिरिक्त और अलंकार भी दिखाई देते हैं।

१—सुन सुत एक कथा कहौं प्यारी।

+ + +

रावन हरन करयो सीता को सुनि करुनामय नींद बिसारी।
'सूर' स्याम कहि उठे "चाप कहँ लछिमन देहु" जननि भय भारी॥

(स्मरण)

२—बूझी ग्वालिन घर में आयो नेकु न संका मानी।
'सूर' स्याम तब उतर बनायो चींटी काढ़तु पानी॥ (युक्ति)

३—जेंवत स्याम नन्द की कनियाँ।
कछुक खात कछु धरनि गिरावत छवि निरखत नँदरनियाँ॥

+ + +

डारत खात लेत अपने कर रुचि मानत दधि-दनियाँ॥

+ + +

आपुन खात नंद मुख नावत सो सुख कहत न बनियाँ॥

(स्वभावोक्ति)

४—(अ) सो बल कहाँ गयो भगवान।
जेहि बल मीन रूप जल थाह्यो लियो निगम हति असुर पुरान॥

(निदर्शना)

+ + +

(आ) स्याम कमल पद नख की सोभा।
जे नखचन्द्र इन्द्र सिर परसे सिव बिरञ्चि मन लोभा।

+ + +

'सूर' स्याम नखचन्द्र विमल छवि गोप जन जिमि दरसत॥

(निदर्शना)

५—(अ) हरि मुख किधौं मोहनी माई । (संदेह)

(ब) देखि सखी अधरन की लाली ।

\+ + +

कीधों तरुन तमाल वेलि चढ़ि जुग फल बिंबा पाको—

\+ + +

हँसत-दसन एक सोभा उपजति उपमा जात लजाई ।
किधौं वज्रकन लाल नगन खचि तापर विद्रुम पाँति ॥
किधौं सुगम बंधूक सुमन पर झलकत जलकन काँति ।
किधौं अरुन अंबुज बिच बैठी सुन्दरताई आइ ॥

(सन्देह)

\+ + +

६—देखि री हरि के चंचल नैन ।

\+ + +

राजिव दल, इन्दीवर, सतदल, कमल, कुसेसय जाति ।
निसि मुद्रित प्रातहिं वे विकसत, ये विकसत दिन राति ॥

(व्यतिरेक)

७—जो जो चुनिये सो पुनि लुनिये और नहीं त्रिभुवन भटभेरे ।

(छेकोक्ति)

८—मुरली तऊ गोपालहिं भावति ।
सुनरी सखी जदपि नँदनँदहि नाना भाँति नचावति ॥

(तीसरी विभावना)

\+ + +

इनकी साहित्यलहरी में तो अनेक पद ऐसे हैं जिनमें अलंकार समझाये ही गये हैं। उदाहरणार्थ देखिये भ्रमरगीत पद संख्या १०० और १०३। इसलिये अलकारों के विषय में अधिक न कहकर अब हम इस स्तंभ के पूर्वार्द्ध को समाप्त करते हैं उत्तरार्द्ध भाग में हम निज संग्रहीत 'पंचरत्न' की ही समालोचना करेंगे। पाठक इसे ध्यान से पढ़ने की कृपा करें।

(उत्तरार्द्ध)

पंचरत्न की आलोचना

इस असार संसार में दो ही सार वस्तुएँ हैं, प्रेम और माधुर्य। इन्हीं में प्रकृति का सच्चा सौन्दर्य है, और है इन्हीं में जीवन का परम आनन्द। जो अभागा जन्म लेकर प्रेम और माधुर्य के उपभोग से वंचित रहा उसने इस संसार में आकर किया ही क्या ? उसका जीवन स्थाणुवत् निःसार, सौन्दर्यहीन है, आनन्द से रहित है। ये दोनों पदार्थ केवल मानव-जीवन से ही संबद्ध हों सो नहीं, किन्तु क्षुद्र कीट से लेकर बड़े बड़े पशुओं तक सभी इन दो पदार्थों के पाने के लिये अपना जीवन उत्सर्ग कर देते हैं। बेचारे पतंग ' दीपक ' की ' रूप-माधुरी ' से मुग्ध होकर उसके प्रेम के कारण अपना पंचभौतिक शरीर उसी में हवन कर देता है। निष्ठुर बधिक की सुन्दर रागिनी से मुग्ध होकर मृग अपने प्राणों के गँवा बैठता है। कहाँ तक कहा जाय बड़े-बड़े हिंसक जन्तु भी प्रेम और माधुर्य के वशवर्ती होकर अपनी सहज प्रकृति को विस्मृत कर देते हैं। पहिले प्रेम को लीजिये। प्रेम ईश्वरीय चमत्कार है, परमात्मा प्रेममय है प्रेम उसी परमात्मा की एक शक्ति है। इसी लिये प्रेम ही एक ऐसा पदार्थ है जिससे संसार के सभी कार्य सुगमता से संपादित किये जा सकते हैं, प्रेमहीन व्यक्ति का जीवन ही इस संसार में निःसार है, मनुष्य को ईश्वर तक पहुँचाने के लिये प्रेम ही एक सीढ़ी है, यदि सच्चे भाव से, परमार्थ को दृष्टिकोण में रख कर परमात्मा से, परमात्मा की सृष्टि से या मनुष्य मनुष्य से प्रेम करना नहीं सीख सकते तो कम से कम स्वार्थ-दृष्टि से इस संसार का सच्चा सुख भोगने के लिये ही प्रेम करना सीखो। प्रेममय दरिद्र कृषक परिवार अपनी पर्णकुटी या तृणशय्या पर जो अलौकिक आनन्द अनुभव करते हैं, जो स्वर्गीय सुख लूटते हैं वह आनन्द वह सुख ऐश्वर्यशाली किन्तु पारिवारिक कलहपूर्ण राजपरिवारों को कहाँ प्राप्त हो सकता है ? जो अपने प्रेम से प्राणिमात्र को वशीभूत कर सकता है उसके लिये ' वसुधैव कुटुम्बकम् ' है। कुटिल

प्रपंची उनके अपूर्व आनन्द में बाधा डालने को सर्वदा असमर्थ रहते हैं। प्रेमी व्यक्ति के संभाषण में मधुरता, व्यवहार में सुशीलता, हृदय में स्फूर्ति और कार्यों में पटुता आ जाती है। इसी से वे सृष्टि सौन्दर्य को, प्राकृतिक नियम को, सांसारिक स्थिति को और अपने प्रत्येक व्यावहारिक कार्य को योग्यतापूर्वक अवलोकन करने के लिये समर्थ होते हैं। वस्तुतः वे ही भाग्यशाली हैं। प्रेम का मनुष्य शरीर पर एवं उसकी मनोवृत्ति पर अपूर्व प्रभाव पड़ता है। उसकी भावना में, विचारशक्ति में, स्मरण शक्ति में, मनःशक्ति में, बुद्धि में, आत्मा में, एवं उसके सदाचार संकल्पादिकों में एक अद्भुत संजीवनी-शक्ति का संचार होता है, एक नवीनता आ जाती है, सभी विकसित होने लगते हैं। प्रेम मनुष्य स्वभाव को पलट देता है, आचार, विचार तथा व्यवहार में नितान्त परिवर्तन कर देता है। प्रेम वह अपूर्व शक्ति है जो असभ्य को सभ्य, क्रोधी एवं असहिष्णु को विनीत और सुशील, कापुरुष को शूर, नृशंस को दयालु, एवं निर्बुद्धि को सुधी बना देता है। सच्चे प्रेम में स्वार्थ बुद्धि का समावेश ही नहीं हो सकता। परस्पर सच्चा प्रेम करना ही ईश्वर से प्रेम करना है। इस प्रेम को हम तीन श्रेणियों में विभक्त करते हैं, (१) छोटे का बड़े के प्रति, (२) बड़े का छोटे से, और (३) सम प्रेम। प्रथम श्रेणी का प्रेम वह प्रेम है जो हम ईश्वर तथा अपने माता-पिता या गुरुजनों के प्रति करते हैं। यह 'भक्ति' नाम से अभिहित है। दूसरे प्रकार का प्रेम जो अपनी संतान के प्रति, छोटे भाई बहिनों के प्रति तथा अपने आश्रितों या सेवकों के प्रति किया जाता है उसे हम 'वात्सल्य प्रेम' या 'स्नेह' संज्ञा देते हैं, तीसरे प्रकार के प्रेम में 'मित्रता' तथा दाम्पत्य प्रेम का समावेश होता है। प्रथम प्रकार के प्रेम अर्थात् 'भक्ति' से संबंध रखनेवाले पदों को हमने (१) प्रथम रत्न 'विनय' में रक्खा है। क्योंकि कार्य के आरम्भ में ईश्वर की विनय करना यह सिद्धान्त हम लोग अनादि से मानते आये हैं। दूसरे यह 'रत्न' हमारे ऐहिक जीवन पर उतना प्रकाश नहीं डालता जितना कि पारलौकिक जीवन पर। पारिवारिक प्रेम ऐहिक जीवन से सबसे अधिक सबंध रखता है। इसके दो पुष्प

अंश है, वात्सल्य और दाम्पत्य, ये दोनों मानव जीवन से गहरा सम्बन्ध रखते हैं। प्रथम रत्न में परमात्मा के 'ऐश्वर्य' का ध्यान करने के बाद हम उसके माधुर्य को अवलोकन करने को उत्सुक रहते हैं। माधुर्य अवलोकन का क्रम बालपन, रूप और गुन है। 'वात्सल्य' प्रेम आनन्दमय है। इस जीवन में रूप और गुण की ओर हमारा ध्यान भी नहीं जाता। शिशु कुरूप भी क्यों न हो, वह ईश्वर की साक्षात् मूर्ति है, माता उस समय यह नहीं देखती कि उसका पुत्र रूपवान् या गुणवान् है। सौ में एक बात तो यह है जिसमें हम ईश्वर की भावना कर लेते हैं वह कुरूप ही क्यों न हो पर हमारी दृष्टि में दिव्य सौन्दर्यमय ही नजर आता है, विश्वास न हो तो मन्दिरों में स्थापित की हुई मूर्तियों को—आकारहीन रूपहीन टेढ़े मेढ़े पत्थरों को—एक सच्चे भक्त की आखों से देखो, क्या अलौकिक प्रतिमा दिखाई देती है। जिसके मन में ईश्वर की भावना ही नहीं वह भला इन पत्थरों में परमात्मा का रूप क्यों देखने लगा। किसी कवि ने खूब कहा है 'लैला रा बचश्मे मजनूँ बायद दीद "—अर्थात् अगर तुमको लैला का सौन्दर्य देखना हो तो उसके रूप को मजनूँ की आँखों से देखो। इस लिये यदि किसी को उन साधारण पत्थरों में ईश्वर का स्वरूप देखना हो तो अपने हृदय में ईश्वर की भावना करके देखे इन चर्म चक्षुओं से नहीं। इसलिये हमने विनय के बाद (२) दूसरे-रत्न में 'बालकृष्ण' अर्थात् श्रीकृष्णजी के बाल-लीला के मधुर पदों का स्थान दिया है। जब बच्चा कुछ बड़ा हो जाता है तब माता का, पास पड़ोस के लोगों का ध्यान उसके रूप की ओर जाता है। शैशवावस्था में ही कोई बालकों को आभूषित नहीं करता, गहनों से नहीं लाद देता कुछ बड़ा होने पर ही उन बातों पर लोगों का ध्यान जाता है। (३) तीसरे रत्न 'रूपमाधुरी' में श्रीकृष्णजी के रूप का चित्र खींचा गया है। दूसरा रत्न केवल परिवार में गृह की चहार-दीवारी के अन्दर ही प्रकाश कर सकता है सामाजिक जीवन में नहीं। समाज में पहिले रूप और बड़ा होने पर गुण ही आदर पाता है। गुण यद्यपि किसी व्यक्ति में और भी अनेक हो सकते हैं, पर समाज में उसी

गुण की चर्चा होती है जिसमें वह विशेष रूप से दक्ष हो। अन्य कई गुणों के होते हुए भी श्रीकृष्ण मुरली बजाने में बड़े उस्ताद थे। पहिले तो संगीत कला ही ऐसी है जो सबका मन मोह लेती है, फिर यदि कोई कृष्ण सा चित्त-चोर रूपवाला उस संगीत को जानता हो तो फिर कहना ही क्या। इस लिए (४) चौथे रत्न 'मुरली-माधुरी' में हमने सूरदासजी के मुरली संबंध में कहे हुए कतिपय पदों का संग्रह किया है। तीसरी श्रेणी के प्रेम में हमने दाम्पत्य प्रेम को मानव-हृदय से गहरा संबंध रखनेवाला माना है ' दाम्पत्य प्रेम ' को साहित्य में ' शृंगार ' संज्ञा दी गई है। इस शृङ्गार के—जैसा हम पूर्व में कह चुके हैं—संयोग और विप्रलंभ दो स्वरूप होते हैं। संयोग शृङ्गार का वर्णन तीसरे और चौथे रत्न ' रूप-माधुरी ' और ' मुरली ' में आ गया है। अब रहा ' वियोग-शृङ्गार ' सो (५) पाँचवें और अन्तिम रत्न 'भ्रमर-गीत' में वियोग-शृङ्गार का ही वर्णन है।

यह तो हुई हमारे 'पंचरत्न' की गाथा। अब प्रत्येक की खूबी पृथक्-पृथक् अपने पाठकों को दिखलाने का प्रयत्न करेंगे।

१—विनय

' विनय क्या है ? विनय का शब्दार्थ है ' विशेष प्रकार से झुकना '। परमात्मा अथवा किसी भी शक्तिशाली—के सम्मुख अपनी नम्रता या दीनता प्रकाशित कर उसके अनुग्रह की आकांक्षा करना ही ' विनय ' है। मानव-हृदय जब नाना प्रकार के घटनाचक्रों के फेर में पड़ने और त्रिविध यातनाओं का सामना करने के कारण व्यथित हो जाता है तब उसे ईश्वर की सुध आती है, ईश्वर की महत्ता और अपनी दीनता का पता चलता है। ऐसे ही अवसर पर अपनी आत्मा को समुन्नत करने के लिये अपने अन्तःकरण को विशाल बनाने के लिये मनुष्य स्वभावतः ईश्वर की कृपा-कोर की अपेक्षा करता है। उसका हृदय स्वतः परमात्मा के प्रति नतमस्तक हो जाता है। वह ईश्वर के सामने अपने को प्रकाशित करता है. अपना हृदय खोल कर रख देता है, अपने पापों का पर्दा खोल कर प्रायश्चित करने को—फल भोगने को सन्नद्ध हो जाता है।

ईश्वर के अतिरिक्त उसको और किसी का भरोसा नहीं रह जाता। ईश्वर के गुणगान, ईश्वर के ध्यान के अतिरिक्त उसे और कुछ रुचता ही नहीं। अपनी आत्मा और परमात्मा के बीच के घनिष्ठ सम्बन्ध का जब उसको ज्ञान हो जाता है तब वह अन्तःकरण की शुद्धि, किंवा सांसारिक प्रलोभनों से बचने के लिये नैतिक बल की कामना से—व्यक्तिगत स्वार्थ साधन के लिये नहीं—उस जगदात्मा की अति विनीत भाव से प्रार्थना करता है। यही 'विनय' है। अपने कार्य की सफलता अथवा अपनी समृद्धि एवं अभ्युदय के समय भी ईश्वर के गुणानुवाद करना, इस सफलता को ईश्वरीय अनुग्रह समझ कर उसको हृदय से धन्यवाद देना, यह भी 'विनय' ही है।

'विनय' मानव हृदय और परमात्मा को एक करने का 'सेल्यूशन' है अथवा यों कहिये कि पुरुष' और 'पुरुषोत्तम' से बातचीत करने का 'टेलीफोन' है। 'विनय' मनुष्य और ईश्वर के संबन्ध को निकटतम कर मनुष्य को ईश्वर के सामने उपस्थित कर देती है। 'विनय' के बल से हमारा हृदय ईश्वर की ओर हठात् आकृष्ट हो जाता है, बल्कि दूसरे शब्दों में यों कहिए कि मन को ईश्वर की ओर आकृष्ट होना ही 'विनय' है। 'विनय' रूपी 'दूरबीन' से हम ईश्वर को अपने 'निकट' ही समझने लगते हैं। ईश्वर के सान्निध्य का ज्ञान हमारे अन्तःकरण को शुद्ध करने तथा पापों से बचने का सर्वोत्तम साधन है। हमको ईश्वरीय दिव्यता के दर्शन होने लगते हैं। हमारा मन कुविचारों को त्याग कर उत्तम और उदात्त विचारों की ओर झुक जाता है। हमारा जीवन उच्छृङ्खलता से बचकर सुनिश्चित मार्ग को ग्रहण कर लेता है। 'विनय' उस दीपक के सदृश है जो हमको जीवनयात्रा के पथ पर प्रकाश दिखाकर सांसारिक प्रलोभनों और यातनाओं के रोड़ों में ठोकर खाने से बचाकर सुमार्ग दिखाता है। अन्यथा पग पग पर गिरने का भय बना रहता है। 'विनय' में बड़ी शक्ति है। यही कारण है कि इस नास्तिकता के युग में भी लोगों का विनय की शक्ति पर अटल विश्वास है। सुख में न सही, आपत्ति पड़ने पर तो नास्तिक से नास्तिक भी मन्दिरों, गिरजों तथा मस्जिदों की ईंटों पर माथा रगड़ते दिखाई देते हैं।

खेद के साथ कहना पड़ता है कि वर्तमान काल में—इस वैज्ञानिक युग के विकास में—लोगों को अपनी बुद्धि का बेतरह अभिमान हो गया है। अज्ञान किंवा प्रमादवश वे 'विनय' का महत्व भूल गये हैं। हमारा तो विचार है कि वैज्ञानिक उन्नति चाहे कितनी ही क्यों न हो जाय पर विनय के अभाव में आध्यात्मिक ज्ञान का तो दिन पर दिन दिवाला निकलता जा रहा है। इसी आध्यात्मिक ज्ञान के ह्रास के कारण लोगों के अन्तःकरण में काई जम गई है और संसार में उत्तरोत्तर अशान्ति का साम्राज्य बढ़ता जा रहा है। यदि मनुष्य—संसार के सभी मनुष्य—अब भी सच्चे दिल से परमात्मा की विनय करना आरम्भ करें तो अशान्ति को अपना बोरिया-बधना उठाने की फुरसत तक न मिले, इसमें कोई सदेह नहीं।

'विनय' का हमारे जीवन पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ता है। वह इतनी क्षणभंगुर नहीं कि मुख से उच्चारण करते ही विलीन हो जाय और हमारे चित्त पर उसका कोई असर न पड़े। हृदय में श्रद्धा और विश्वास का बीज बोना चाहो, मन में प्रेम और आशा का संचार करना चाहो तो शुद्ध अन्तःकरण से परमात्मा की विनय करो। विनय का एक शब्द भी आपके चरित्र को समुन्नत करने के लिये अलम् है। यदि प्रातः काल की विनय से आपके हृदय में सजीव स्फूर्ति का संचार नहीं होता, आपका दैनिक जीवन और कार्यप्रणाली नियन्त्रित नहीं होती, अपने कर्तव्य में आपकी लगन नहीं लगती तो समझ लीजिये कि आपने विशुद्ध मन से विनय नहीं की, आपके अनुष्ठान में अवश्य कोई त्रुटि रह गई है।

हम पहले कह चुके हैं कि विनय मनुष्य के हृदय और परमात्मा के बीच की वस्तु है। परमात्मा संसार की समस्त शक्तियों, विद्याओं और गुणों का अनादि अनन्त स्रोत है। मनुष्य शान्त है, परमात्मा की शक्तियों के सामने उसकी शक्ति क्षुद्रातिक्षुद्र है, परमात्मा की महती सृष्टि तारतम्य में वह एक नगण्य पदार्थ है। किन्तु विनय के द्वारा जब मनुष्य परमात्मा से संबद्ध हो जाता है तब इच्छा न रखते हुए भी वह

समस्त शक्तियों और संपूर्ण विद्याओं के उस अनादि अनंत स्रोत का स्वतः अधिकारी बन जाता है। कहाँ तक महिमा गावें विनय के द्वारा कलुषित आत्मा पवित्र हो जाती है; जीवन में दिव्यता का संचार हो जाता है, मनुष्य को अपने कर्तव्य का ज्ञान हो जाता है, और वह शक्तिशाली सुसम्पन्न और भला बन जाता है। यही नहीं हमारी आत्मा उस दिव्यात्मा का दर्शन करने लगती है और उसी दिव्य-स्वरूप के ध्यान में आत्मविस्मृति हो जाने से 'ब्रह्मानन्द' का अनुभव करती है।

इन्हीं सब कारणों से धर्मप्राण भारतवासियों ने पग-पग पर विनय का ही अवलंबन किया है। कार्य आरम्भ करो तो विनय; मध्य में पहुँचो तो विनय; समाप्त करो तो 'श्रीकृष्णार्पणमस्तु'। बिना विनय के कोई कार्य ही संपादन नहीं करते। हमारे कविवरों ने भी अपने काव्यों को 'विनय' हीन नहीं छोड़ा। काव्यारम्भ में भी 'आशीर्नमस्क्रियावस्तुनिर्देश' आदि मंगलाचरण के रूप में 'विनय' नजर आती है। नाटक के आदि में 'नान्दी' अन्त में 'भरतवाक्य' 'विनय' के ही रुपान्तर हैं। गोस्वामी तुलसीदासजी अपने रामचरितमानस में तो पग पग पर 'विनय' के लिये रुकते ही हैं, किन्तु इतने पर भी उनकी आत्मतुष्टि नहीं होती। ठीक भी है, परमात्मा की 'विनय' से गुणानुवाद से, किसकी तृप्ति हुई है कौन पार पा सका है? इसी कमी को थोड़ा बहुत पूरा करने के अभिप्राय से उन्होंने 'विनयपत्रिका' ग्रन्थ ही रच डाला। मा० सूरदासजी भी इस विषय में कब चूकने वाले थे। उनका 'सूरसागर' विनयरूपी अमृत-बिन्दुओं से लबालब भरा है। प्रस्तुत संग्रह में हमने उन्हीं में से कतिपय बिन्दुओं को संकलित कर सर्वसाधारण को सूरदासजी का वचनामृत सुलभ करने का प्रयत्न किया है।

वैष्णव सम्प्रदाय के अनुसार 'विनय' में सात बातों का सन्निवेश होना ही चाहिए। इनको 'भूमिका' कहते हैं। बिना 'भूमिका' के विनय परिपूर्ण नहीं समझी जाती। ये सात भूमिकाएँ निम्नलिखित हैं—

(१) दीनता, अर्थात् अपने को अति तुच्छ समझना और असफलता का सारा दोष अपने सिर लेना।

(२) मानमर्षता, अर्थात् निरभिमान होकर इष्टदेव के ही शरणापन्न होना।

(३) भयदर्शन अर्थात् जीव को भय दिखलाकर इष्टदेव के सम्मुख करना

(४) भर्त्सना, अर्थात् अपने मन को शासित करना और डाँटना।

(५) आश्वासन, अर्थात् अपने इष्टदेव के गुणों पर विश्वास रखना, और उसी की कृपा के भरोसे धीरज देना।

(६) मनोराज्य, अर्थात् बड़ी बड़ी अभिलाषायें करना और इष्टदेव से उनकी पूर्ति के लिये प्रार्थना करना।

(७) विचारण, अर्थात् दार्शनिक सिद्धान्तों का विवेचन, जिससे संसार के मायाजाल में फँसने तथा नाना प्रकार की अन्यान्य कठिनाइयों के दिग्दर्शन द्वारा मन को उस ओर से विरक्त करके भक्तिमार्ग में आसक्त करने में सफलता हो।

इन सिद्धान्तों के अतिरिक्त वैष्णव सम्प्रदाय का एक यह सिद्धान्त भी है कि जीव को भगवच्छरणाश्रित होने के लिये निम्नांकित ६ नियमों का पालन करना आवश्यक है।

(१) अनुकूलस्य संकल्प (२) प्रतिकूलस्य वर्जनम्।
(३) रक्षिष्यतीति विश्वासो (४) तथा गोप्तृत्व-वर्णनम्॥
(५) आत्मनिक्षेप (६) कार्पण्यं षड्विधा शरणागतिः।

अर्थात् (१) अपने इष्टदेव के अनुकूल गुणों को धारण करने का संकल्प, (२) अपने इष्टदेव के प्रतिकूल गुणों का त्याग (३) मेरे इष्टदेव मेरी रक्षा अवश्य करेंगे मेरा कोई अनिष्ट न होने देंगे, इस बात का दृढ़ विश्वास, (४) अपने गोप्ता अर्थात् रक्षक का गुणगान, (५) तन मन और कर्म सब कुछ 'ॐ तत्सत्परब्रह्म णमस्तु' करना और (६) दीनता प्रकट करते हुए परमात्मा के सामने अपने पापों को स्वीकार करते हुए उनके मार्जन के लिए विनय करना।

'विनय' के उक्त सिद्धान्तों के वर्णन करने का प्रयोजन यह है कि सूरदासजी की 'विनय' की विवेचना करने में सरलता और सुभीता हो, और उनकी 'विनय' का तत्व पूर्णतया हृदयंगम हो सके। उक्त सिद्धान्तों

और नियमों को ध्यान में रखकर जब देखते हैं तो यह मानना ही पड़ता है कि सूरदास जी ने इनका पूरा-पूरा विचार रक्खा है और उसका निर्वाह करने में पूरी सफलता भी पाई है। साथ ही उन्होंने विनय सम्बधी पदों को साहित्यिक शिकंजे में नहीं दबाया। वृथा आडम्बर का इनकी विनय में नाम नहीं है, वरन् जो कुछ भी इन्होंने कहा है सो निष्कपट चित्त से, भगवद्भक्ति में तल्लीन होकर अपने हृदय के स्वाभाविक उद्‌गारों का सीधे-सादे शब्दों में मानो चित्र खींच दिया है। इनके पद-पद से भगवान् के प्रति अटलभक्ति और पूर्णप्रेम प्रकट होता है। अब जरा 'विनय' की बानगी देखिये और वह भी देखिये कि इसमें 'साम्प्रदायिकता' का सन्निवेश करने में भी 'सूर' कहाँ तक सफल हुए हैं। अपनी 'दीनता' दिखाते हुए सूरदासजी कहते हैं। नाथ अब आप अपने 'पतित-पावन' होने का घमंड छोड़िये। अभी तक मामूली अजामिल ऐसे पापियों से पाला पड़ा था। 'सूर' ऐसे पतितशिरोमणि को उबारना कोई हँसी-खेल नहीं है। मुझे तो आपके 'पतितपावनत्व' का विश्वास तब् होगा जब मेरा निस्तार करने में सफल हो सकोगे—

नाथ जू अब कै मोहिं उबारो।
पतितन मैं विख्यात पतित हौं पावन नाम तुम्हारो॥
बड़े पतित नाहिन पासँगहु अजामेल को हौ जू विचारो।
भाजै नरक नाउँ सुनि मेरो जमहु देय हठि तारो॥
छुद्र पतित तुम तारे श्रीपति अब न करो जिय गारो।
'सूरदास' साँची तब माने जब होवै मम निस्तारो॥

फिर कहते हैं कि प्रभु आप कैसे पतितपावन हैं जो मेरे लिये निठुर हो गये। हाँ, मैंने कभी किसी को कुछ दिया नहीं और न मुझसे कभी कोई सुकर्म ही हुआ, इसलिये अपराध मेरा है आपका नहीं—

पतितपावन हरि बिरद तुम्हारे कौने नाम धरयो।
हौं तो दीन दुखित अति दुर्बल द्वारे रटत परयो॥
+ + +
'सूर' की बिरियाँ निठुर भये प्रभु मो तैं कछु न सरयो॥

'निर्गुण' की उपासना सबके हृदयंगम नहीं हो सकती। जिसका कोई आकार नहीं, रंग नहीं, रूप नहीं, गुण नहीं, जो जाना नहीं जा सकता उसकी उपासना साधारण जनों के लिये अगम है। किन्तु 'साकार' की उपासना सुगम है, यही समझ कर सूरदासजी भी 'सगुन' श्रीकृष्ण की ही लीला गाते हैं—

अविगत गति कछु कहत न आवै।

\+ \+ \+

रूप रेख गुन जाति जुगुति बिनु निरालंब मन चकृत धावै।
सब बिधि अगम बिचारहिं ताते 'सूर' सगुन लीला पद गावै॥

परमात्मा की भक्ति के सामने सब सांसारिक पदार्थ नगण्य हैं—

अपनी भगति देहु भगवान।
कोटि लालच जो दिखावहु नाहिनै रुचि आन॥

इस संसार में नरदेह पाकर जिसने हरिचिन्तन की ओर ध्यान नहीं दिया उसके और क्षुद्र पशुओं के जीवन में क्या अन्तर?

भगति बिनु सूकर कूकर जैसे।
बिग बगुला अरु गीध घूघुआ आय जनम लियो तैसे॥

\+ \+ \+

'सूरदास' भगवंत भजन बिनु जैसे ऊँट खर भैंसे॥

जिन लोगों का काम केवल अपना पेट भरना और लोगों को गाली देना ही है। 'गोविन्दचरन' की सेवा से जिनको छूत सी है, वे 'भजन बिनु जीवित हैं जैसे प्रेत।'

श्रीकृष्णजी में जिनका मन रम गया है वह और किसी देवता की उपासना नहीं करता—

मेरा मन अनत कहाँ सचु पावै।
जैसे उड़ि जहाज को पंछी फिरि जहाज पै आवै॥

श्रीकृष्ण भक्त की केवल प्रीति चाहते हैं, धन-संपत्ति नहीं। भगवान् को प्रेम और भक्ति से समर्पित 'पत्रं पुष्पं फलं तोयं' अभिमान से दिए हुए 'मोहनभोग' से कहीं अधिक प्रिय है—

गोविंद प्रीति सबन की मानत।
जो जेहि भाय करै जन सेवा अन्तरगत की जानत॥

भगवान् जिसको अपना लेते हैं उसके सब कष्ट दूर करते हैं, उसके लिये किसी बात की कमी नहीं रहने पाती—

जाको हरि अंगीकार कियो।
ताको कोटि विघन हरि हरिकै अभय प्रताप दियो॥

+ + +

'सूरदास' प्रभु भगतवछल हैं उपमा कौन दियो॥

भगवच्चरणाश्रित जन का यदि सारा संसार भी वैरी हो जाय तो कोई बाल भी बाँका नहीं कर सकता—

*जाको मननोहन अंग करै।
ताको केस खसै नहिं सिर तें जो जग बैर परै॥

वास्तव में जिस पर 'दीनानाथ' का अनुग्रह हो जाता है, संसार में वही ऐश्वर्यशाली, रूपवान्, कुलीन और यशस्वी गिना जाता है।

जापर दीनानाथ ढरै।
सोइ कुलीन बड़ो सुन्दर सोइ जिन पर कृपा करै।

मनुष्य शरीर पाकर जिसने भगवान् से लौ न लगाई उसका जन्म तो अकारथ ही गया—

(१) आछो गात अकारथ गार्‌यो।
करी न प्रीति कमल-लोचन सों जनम जनम ज्यों हारो॥

(२) अवसर हारो रे तैं हारो।
मानुष जनम पाइ नर बौरे हरि को भजन बिसारो।

भगवान् के भक्त अगर कोई मनोरथ भी करते हैं तो केवल यही कि उनको भगवत्सान्निध्य और तत्संबन्धिनी वस्तुओं के अतिरिक्त और कुछ चाहिये नहीं—

(१) ऐसेहि बसिये व्रज की वीथिन।
साधुनि के पनवारे चुनि चुनि उदर जु भरिये सीतनि॥

---

*बार न बाँका करि सकै जो जग वैरी होय—कबीर।

\+ + +

निसिदिन निरखि जसोदानंदन अरु जमुना जल रीतनि।
दरसन 'सूर' होत तन पावन, दरस न मिलत अतीतनि॥

(२) ऐसो कब करिहौ गोपाल।
मनसानाथ मनोरथ-दाता हौ प्रभु दीनदयाल॥
चित्त निरन्तर चरनन अनुरत रसना चरित रसाल।
लोचन सजल प्रेम पुलकित तन कर कंजनि, दल-माल॥

भगवान् का घमंड नहीं रुचता। वे अभिमानी के दर्प को एकदम चूर-चूर कर देते हैं। हम बड़े बलवान हैं इस बात का अभिमान मन में घुसने न देना चाहिये।

(३) गरब गोविन्दहिं भावत नाहिं।
कैसी करी हिरण्यकशिपु कों रती न राखी राखनि माहिं॥

इस भगवद्भजन का फल क्या होता है सो भी सुनिये—

जो पै रामं नाम धन धरतो।
टरतो नहीं जनम जनमान्तर कहा राज जम करतो॥

पर हमारे भगवद्भजन ही क्या सभी सत्कार्यों में कुसंग बड़ा बाधक होता है। इसलिये सूरदासजी अपने मन को कुसंग से विरत रहने का उपदेश करते हैं—

छाँड़ि मन हरि विमुखन को संग।
जाके संग कुबुद्धी उपजै परत भजन में भंग॥

भगवान् के अतिरिक्त भक्त के कष्टों को जानने वाला और भक्तों का रक्षक तथा मित्र और कौन हो सकता है।

१—और न जाने जन की पीर।
जब जब दुखित भये जन तब तब कृपा करी बलबीर॥

२—हरि ते ठाकुर और न जन को।
जेहि जेहि विधि सेवक सुख पावै तेहि विधि राखत तिनको॥

३—हरि सो मीत न देखौं कोई।
अन्तकाल सुमिरहु तेहि अवसर आनि प्रतिच्छो होई॥

इसलिए सूरदासजी अपने मन को बार-बार समझाते हैं और आज तक हरिभजन न करने के लिए भर्त्सना करते हैं—

(१) रे मन मूरख जनम गँवायो।
करि अभिमान विषय सों राच्यो स्याम सरन नहिं आयो ॥

(२) क्यों तू गोविन्द नाम विसार्‌यो।
अजहूँ चेति भजन करि हरि को काल फिरत सिर ऊपर भार्‌यो ॥
धन सुत दारा काम न आवै जिनहि लागि आपनपौ खोयो।
'सूरदास' भगवंत भजन बिनु चल्यौ पछिताय नयन भरि रोयो ॥

अपने इष्टदेव के गुणों पर विश्वास रखते हुए अपने मन को आश्वासन देते हैं—

(१) ऐसे प्रभु अनाथ के स्वामी।
कहियत दीन दास पर पीरक सब घट अन्तरजामी ॥

(२) सरन गये को को न उबार्‌यो।
जब जब भीर परी भगतन पै चक्रसुदरसन तहाँ सँभार्‌यो ॥

जीव को संसार की क्षणभंगुरता बतलाते हुए संसार से विरत तथा भगवान् पर आसक्त करते हुए सूर कहते हैं—

(१) जा दिन मन पंछी उड़ि जैहैं।
ता दिन तेरे तन-तरुवर के सबै पात झरि जैहैं।
या देही को गर्व न करिये स्यार काग गीध खैहैं।
+ + +
कहँ वह नीर कहाँ वह सोभा, कहँ रँग रूप दिखैहैं ॥
जिन लोगन सों नेह करतु हैं तेही देखि घिनैहैं।
घर के कहत सवारे काढ़ो भूत होय घर खैहैं ॥
जिन पुत्रनहि बहुत प्रतिपार्‌यो देवी देव मनैहैं।
तेइ लै बाँस दयो खोपड़ी में सीस फोरि बिखरैहैं ॥
अजहूँ मूढ़ करो सतसंगति संतन में कछु पैहैं ॥
+ + +

(२) जनम सिरानो अटके अटके।
सुत संपत्ति गृह राज मान को फिरो अनत ही भटके॥

अब दो-चार पद इनके दार्शनिक सिद्धान्तों के भी सुन लीजिये। देखिये 'माया' जीव को काम, क्रोध, लोभ, मोह, तृष्णा आदि के साज-बाज से सजा कर किस प्रकार नचा रही है—

अब हौं नाच्यों बहुत गोपाल।
काम क्रोध को पहिरि चोलना, कंठ विषय की माल॥

+ + +

माया में फँसे हुए जीव की क्या दशा हो रही है—

अब के माधव मोहि उधारि।
मगन हौं भव अंबुनिधि में कृपासिंधु मुरारि॥
नीर अंत गम्भीर माया, लोभ लहरि तरंग।
लिये जात अगाध जल में गहे ग्राह अनंग।

इस मायारूपी नटिनी की करतूत फिर से देखिये—

विनती सुनो दीन की चित्त दै कैसे तव गुन गावै।
माया नटिनी लकुट कर लीने कोटिक नाच नचावै॥
लोभ लागि लै डोलत दर-दर नाना स्वाँग करावै।
तुमसों कपट करावत प्रभु जी मेरी बुद्धि भ्रमावै॥
मन अभिलाष तरंगिनि करिकरि मिथ्या निशा जगावै।
सोवत सपने में ज्यों सम्पत्ति त्यों दिखाय बौरावै॥
महा मोहनी मोह आतमा मन अघ माहिं लगावै।
ज्यों दूती पर वधू भोरि कै लै पर पुरुष दिखावै॥
मेरे तो तुमही पति तुम गति तुम समान को पावै।
'सूरदास' प्रभु तुम्हरी कृपा बिनु को मो दुख नसिरावै॥

सूरदासजी होनहार के पक्षपाती हैं। उनका मत है कि भावी टल ही नहीं सकती, जो होनहार होनी है वह अवश्य होती है—

भावी काहू सो न टरै।
कहाँ वह राहु कहाँ वे रवि ससि आनि सँजोग परे॥

\+ + +

तीन लोक भावी के बस में सुर नर देह धरै।
'सूरदास' होनी सो होइहै को पचि पचिहि मरै॥

जिद्दी भी सूरदास जी परले सिरे के हैं। भगवान् से कहते हैं कि तुम मुझे अर्द्धचन्द्र देकर चाहे निकाल भी दो पर मैं तो भी बड़ा हठी हूँ। आप रिस करके ही क्या करेंगे, जब मैं आपको छोड़ूँ तब न।

महा माचल मारिवे की सकुच नाहिंन मोहिं।
पर्‌यो हौं पन किये द्वारे लाज पन की तोहिं॥
नाहिनै काँचो कृपानिधि करो कहा रिसाइ।
'सूर' कबहुँ न द्वार छाँड़ैं डारिहौ कढ़िराइ॥

इतना ही नहीं परमात्मा से शर्त भी बाँधने लगते हैं—

मोहिं प्रभु तुमसों होड़ परी।

\+ + +

मेरी मुकुति विचारत हौ प्रभु पूछत पहर घरी॥
स्रम तें तुम्हें पसीनो ऐहै कत यह जकनि करी।
'सूरदास' बिनती कहा बिनवै दोषहि देह भरी॥
अपनो बिरद सँभारहुगे तब या में सब निनुरी।

अच्छी बात है, भगवान्! आइये मैदान में अपने-अपने कर्तव्य दिखावें। मैं पाप करने में सब से बढ़ कर हूँ। आपने मुझे उबारना क्या खेल समझा है। छोड़ दो अपनी हठ, नहीं थक जाओगे। पसीने से तर हो जाओगे। मुझसे हार माननी ही पड़ेगी। मुझे तारे बिना तो तुमको 'पतित पावन' के 'टाइटिल' से हाथ धोना पड़ेगा।

अस्तु फिर कहते हैं—

मोसो कौन कुटिल खल कामी।
जिन तनु दियो ताहि बिसरायो ऐसो नौनहरामी॥

\+ + +

पापी कौन बड़ो है मोतें सब पतितन में नामी।
'सूर' पतित को ठौर कहाँ है, सुनिये श्रीपति स्वामी॥

चाहे मैं कितना ही पतित क्यों न होऊँ आपके आश्रय के सिवाय मुझे कहीं और जगह भी तो नहीं है। तारे तो आपही न तारें तो आप ही, पर अपने 'विरद' की लाज रखिये।

सारांश यह कि सूर के विनय के पद बड़े स्वाभाविक हैं। सूर ऐसे सच्चे वैरागी के हृदय से ही ऐसे उद्गार निकल सकते हैं। विनय के पद बनाते बहुत लोग देखे जाते हैं, पर इतनी स्वाभाविकता कितनों में होती है। सिवाय शब्दाडम्बर के बाहरी आवरण के उनमें कुछ और होता नहीं। पर सच्चे महात्मा और भगवद्भक्त अपनी विद्वत्ता और साहित्यिक छटा दिखलाने की परवाह नहीं करते। उनका प्रत्येक शब्द भगवद्भक्ति जलसिक्त हृदय से निकलता है। वही सच्चा विनय है। 'तुलसीदास' जी के बाद सूरदास' जी ही 'विनय' सम्बन्धी पद रचने में सफल हुए हैं।

२—बाल कृष्ण

'विनय' के बाद हम 'बालकृष्ण' में आते हैं। जैसा कि हम पूर्व कह चुके हैं। सूरदासजी ने बाल-चरित्र चित्रण करने में कमाल किया है। यहाँ तक कि हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ कवि श्री गोस्वामी तुलसीदासजी भी इस विषय में इनकी समता नहीं कर सके हैं। हमें सन्देह है कि बालकों की प्रकृति का जितना स्वाभाविक वर्णन 'सूर' ने किया हैं उतना किसी भी अन्य भाषा के कवि ने किया है या नहीं। जो कुछ भी हो सूरदास इस विषय में अद्वितीय हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं। सूरदासजी के साहित्य में यह अंश ऐसा है कि इसको निकाल देने से 'सूर' का 'व्यक्तित्व' लोप हो जाता है। 'बालकृष्ण' के बाद 'भ्रमरगीत' भी ऐसा है जिसने सूर साहित्य को अमर करने में सहायता दी है। पर 'भ्रमर-गीत, 'सूर' के बाद अन्य कवियों ने भी कहा है और अच्छा है। अतः 'बालचरित्र' ही इनकी कविता की आत्मा है। इसके बिना इनका साहित्य आत्मविहीन शरीर के ही समान है। पारिवारिक जीवन में घर की चहारदीवारी के अन्दर हमें बालकों की प्रकृति का जितना परिचय हो सकता है उसका ज्यों का त्यों स्वाभाविक वर्णन सूरदास जी से

सुन लीजिये। साथ ही माता के स्नेह और माता के वात्सल्य का नमूना भी सूर-सागर में देख लीजिये।

श्रीकृष्ण थे तो वसुदेव देवकी के पुत्र, पर नन्द-यशोदा ने उनको अपने औरस पुत्र की भाँति बल्कि उससे भी अधिक लाड़-प्यार से पाला था। यदुवंश का राजकुमार राजभवन में न पलकर अहीरों की बस्ती में प्रकृति की गोद में पाला गया। अतः स्वभावतः हृष्ट-पुष्ट और सुन्दर होने में कोई आश्चर्य की बात नहीं। कृष्ण समस्त गाँव के आनन्द की साक्षात् मूर्ति थे। गोप-गोपियों ने प्रेम से उनके अनेक नाम रखे थे। कोई कन्हैया कहता था तो कोई माधव कहता था। इसी प्रकार उनके गोपाल, मोहन, नन्दनन्दन आदि कई नाम थे। गोकुल में होकर श्याम-सलिला सूरसुता अपने आनन्द में विभोर होकर बहा करती थीं मानो वहाँ आरोग्य और 'सौंदर्य' का साम्राज्य फैलाती थीं। इधर श्रीकृष्णजी के जन्म के साथ ही वहाँ एक और प्रवाह भी बह चला। वह थी प्रेम-सरिता, जिसके कारण वहाँ अनन्त आनन्द और अकथनीय सुख छा गया 'बालकृष्ण' के आदि के पद इसी आनन्द बधावे के सम्बन्ध में हैं' इसमें कोई चमत्कार विशेष तो नहीं है, पर पुत्र-जन्म के समय आनन्द-उत्सव मनाना, बधावे बजाना, दान आदि से लोगों को सन्तुष्ट करना ये सब लोक-रीतियाँ हैं।

अब कृष्णजी की बाल-लीला के भी कुछ चित्र देखिये। यशोदा कृष्ण को 'मेरे लाल की आउ निदरिया' कहकर पालने में झुला रही है। कृष्ण आँख मूँद लेते हैं। ज्यों ही जसोदा चुप होती है कृष्ण झट से रोने लगते हैं।

> कबहुँ पलक हरि मूँदि लेत हैं कबहुँ अधर फरकावै।
> सोवत जानि मौन ह्वै रहि रहि करि करि सैन बतावै॥
> इहि अन्तर अकुलाइ उठे हरि जसुमति मधुरे गावै।

बात साधारण है पर सूर की शैली कैसी है कि एक मामूली बात का भी बड़ा सुन्दर वर्णन कर दिया। बच्चों की प्रकृति और माता के वात्सल्य का अपूर्व वर्णन है।

स्त्रियों को नवजात बालक को गोद में लेने की कितनी उत्कंठा रहती है सो देखिये—

‘ नेकु गोपालै मोको दै री।
देखौं कमलबदन नीके करि ता पाछे तू कनियाँ लै री॥’

बालकों की एक आदत होती है कि वे जब अपने आनन्द में मग्न होते हैं तब वे अपने हाथ से पैर का अँगूठा पकड़कर चूसने लगते हैं। वह दृश्य कितना सुन्दर होता है यह वही बता सकता है जिसको कभी देखने का सौभाग्य मिला होगा। सूरदासजी कहते हैं—

कर गहि पग अंगुठा मुख मेलत*।
प्रभु पौढ़े पालने अकेले हरषि हरषि अपने रंग खेलत॥

यह वही दृश्य है जो चिरञ्जीवी मार्कंडेय को प्रलय के समय दिखाई पड़ा था। इन्हीं बालमुकुन्द ने उस समय उनकी रक्षा की थी। शिशु का छोटे से छोटा कार्य माता-पिता के लिये आनन्द बढ़ाने वाला होता है। शिशु ‘स्याम’ पहिली बार जरा उलटे। नहीं कि माता के मोद का कुछ ठिकाना नहीं रह जाता, बस बधावे बजने लगे—

महरि मुदित उलटाइ कै मुख चूँबन लागी।
चिरजीवो मेरो लाड़िलो मैं भई सभागी॥
एक पाख त्रय मास को मेरो भयो कन्हाई।
पट करानि उलटे परे मैं करौं बधाई॥

माता अपने बच्चे के बारे में जो-जो अभिलाषाएँ करती है उनका सूर ने कितना स्वाभाविक वर्णन किया है। वास्तव में माता यह अभिलाषा नहीं करती कि मेरा पुत्र मेरी सेवा करे। उसकी एक मात्र इच्छा अपने पुत्र की उन्नति की ही ओर रहती है। सब से बढ़कर माता यही चाहती है कि उसका लड़का खूब खेले, खावे, चाहे और कुछ न करे।

जसुमति मन अभिलाप करै।

---

* इसी आशय का एक श्लोक भी है।

करारविन्देन पदारविन्दं मुखारविन्दे विनिवेशयन्तम्।
वटस्य पत्रस्य पुटे शयानं बालं मुकुन्दं मनसा स्मरामि॥

कब मेरो लाल घुटुरुवन रेंगै कब धरनी पग द्वैक धरै ॥
कब, द्वै दंत दूध के देखों कब तुतरे मुख बैन झरै।
कब नंदहिं कहि बाबा बोलै कब जननी कहि मोहिं ररै ॥
कब मेरो अँचरा गहि मोहन जोइ सोइ कहि मोसों झगरै।
कब धौं तनक कछु खैहै अपने कर सों मुखहिं भरै।
कब हँसि बात कहेगो मोसों छबि पेखत दुख दूरि टरै ॥

माता चाहे कितने ही दुःख में क्यों न हो, अपने पुत्र के हँसता हुआ चेहरा देखते ही उसका सब दुःख काफूर हो जाता है। शिशु की 'नान्हीं नान्हीं दँतुलियों' पर तो माता अपने को निछावर कर देती है—

हरि किलकत जसुदा की कनियाँ।
निरखि निरखि मुख हँसति स्याम को मो निधनी के धनियाँ ॥

+ + +

माता दुखित जानि हरि बिहँसे नान्हीं दँतुरि दिखाइ।
'सूरदास' प्रभु माता चित तें हार्यो बिसराइ ॥

अन्नप्राशन, वर्षगाँठ और कर्णवेध संस्कारों का वर्णन करना कोई बड़ी बात नहीं है, रोजमर्रा की देखी सुनी बातें हैं। पर 'कवि हृदय' कुछ दूसरा ही होता है! सूरदास को तो माता और शिशु के प्रत्येक भाव का वर्णन करना अभीष्ट है। सूरदास वर्णन करते समय अपने को महात्मा या कवि नहीं समझते। नहीं तो वे न जाने कितना चमत्कारिक-वर्णन कर जाते। परन्तु कृष्ण की लीला का वर्णन करते समय वे अपने को भूल जाते हैं। कभी पाठकों के सामने बालक के स्वरूप में क्रीड़ा करते दिखाई देते हैं तो कभी एक दर्शक की भाँति बालकों की सूक्ष्मातिसूक्ष्म चपल प्रकृति का वर्णन करने लगते हैं। जब यशोदा के विनोद का चित्र खींचते हैं तो वे स्वयं माता बन कर बाललीला का आनन्द उठाने लगते हैं, यही अच्छा भी हुआ। अधिक अलंकाराधिक्य इस वर्णन में भले ही न हो, पर स्वाभाविकता पूर्ण रूप से विद्यमान है। देखिये—

स्याम करत माता सों झगरो अटपटात कलबल कर बोल।
दोउ कपोल गहि कै मुख चुम्बति बरस दिवस कहि करत कलोल।

कनछेदन के समय बच्चे के कष्ट का विचार करते ही माता की जो दशा होती है वह सुनिये। और साथ ही बच्चे को 'हमारा कर्णवेध होगा' इस बात का जो हर्ष है सो भी देखिये—

कान्ह कुँवर को कनछेदनो है हाथ सुहारी भेली गुर की।
विधि बिहँसत हरि हँसत हेरि हरि जसुमति की धुकधुकी धुरकी ॥

\+ + +

लोचन भरि गये दोउ मातन के कनछेदन देखत जिय मुरकी।
रोवत देखि जननि अकुलानी लियो तुरत नौवा को घुरकी ॥

शिशु कृष्ण की छवि और लीला के वर्णन में ही न जाने 'सूर' कितने पद कह गये हैं। कुछ चित्र देखिये—

१—सोभित कर नवनीत लिये।
घुटुरुन चलत रेनु तनु मंडित मुख दधि लेप किये ॥

२—बाल विनोद खरो जिय भावत।
मुख प्रतिबिंब पकरिवे कारन हुलसि घुटुरुवनि धावत ॥

\+ + +

सबद एक बोल्यो चाहत हैं प्रगट बचन नहिं आवत।

३—हौं बलि जाउँ छबीले लाल की।
धूसरि धूरि घुटुरुवनि रेंगनि, बोलनि बचन रसाल की ॥

\+ + +

कछुकै हाथ कछू मुख माखन चितवनि नैन बिसाल की।
'सूर' सु प्रभु के प्रेम मगन भई ढिग न तजनि ब्रजबाल की ॥

४—सिखवति चलन जसोदा मैया।
अरबराइ कर पानि गहावत डगमगाइ धरनी धरै पैया।

५—चलत देखि जसुमति सुख पावै।
ठुमुकि ठुमुकि धरनीधर रेंगत जननिहि खेल दिखावै ॥
देहरी लौं चलि जात बहुरि कैं फिरि इतही को आवै।
गिरि गिरि परत बनत नहिं नाघत······ ॥

६—मथत दधि, मथनी टेकि खर्‌यो।
 आरि करत मटुकी गहि मोहन वासुकी संभु, डर्‌यो॥

एक दो हों तो गिनाये भी जायँ। सभी चित्र एक से एक बढ़कर हैं। कृत्रिमता और आडम्बर तो इनमें नाम को भी नहीं है। आश्चर्य यह होता है कि विरक्त होते हुए भी, बाह्य दृष्टि से हीन होते हुए भी सूर को यह 'अनुभव हुआ कैसे' हम इसे सत्संग और दिव्य-दृष्टि के अतिरिक्त और क्या कह सकते हैं! जिस समय शिशु 'माँ, माँ' कहने लगता है माता का वह सुख अवर्णनीय है—

कहन लगे मोहन मैया मैया।
पिता नंद सों बाबा बाबा अरु हलधर सों भैया॥

बच्चे पहले पहल पवर्गादि अक्षरों से ही बोलना आरम्भ करते हैं, क्योंकि ओष्ठ से निकलने के कारण इन्हीं का उच्चारण पहिले और आसानी से होता है। इसीलिये हम प्रत्येक भाषा में देखते हैं कि घनिष्ठ नाते जैसे माता, पिता, भाई, बहिन, फूफा, आदि सब पवर्ग से ही शुरू होते हैं। इसी से ये शब्द हमको बहुत प्यारे लगते हैं। फिर यदि शिशु के मुख से सुनाई पड़े तो आनन्द का कहना ही क्या।

कन्हैया बाल स्वभाव वश कुछ दूर ठुमकते चले जाते हैं, स्नेह-कातरा यशोदा पुकार उठती है—"दूरि खेलन जन जाहु लला रे मारैगी काहू की गैया।" अहा, कितने मीठे वचन हैं, कितनी स्वाभाविक भीरुता है। माता के ये मीठे वचन बालपन में ही नहीं किन्तु बड़े होने पर भी हम लोगों को असत्कार्य से विरत करते हैं। जिनको माता के ये मधुर उपदेशपूर्ण वचन याद रहते हैं वे आजीवन बुराइयों से बचे रहते हैं। और देखिये—

१—खेलन दूरि जात कित कान्हा।
 आज सुन्यो बन हाऊ आयो तुम नहिं जानत नान्हा॥
 इक लरिका अबहीं भजि आयो बोलि बुझावहुँ ताहि।
 कान तोरि वह लेत सबन के लरिका जानत जाहि।
२—दूरि खेलन जनि जाहु लला रे आयो है बन हाऊ॥

३—साँझ भई घर आवहु प्यारे।
दौरत कहाँ चोट लगिहै कहुँ पुनि खेलोगे होत सकारे।

४—जसुमति कान्है यहै सिखावति।
सुनहु स्याम अब बड़े भये तुम अस्तनपान छुड़ावति॥
ब्रज लरिका तोहिं पीवत देखैं हँसत लाज नहिं आवति।
जैहैं बिगरि दाँत हैं आछे ताते कहि समुझावति॥
अजहूँ छाँड़ि कह्यो करि मेरो ऐसी बात न भावति।
'सूर' स्याम यह सुनि मुसुकाने अंचल मुखहिं लुकावति॥

इनमें बालकों को अनिष्ट कार्य से विरत करने का कितना स्वाभाविक और अनुभवपूर्ण वर्णन है। माता के उपदेश कितने हृदयस्पर्शी हैं! बालकों को अपने बड़े होने की इच्छा बड़ी प्रबल रहती है। कृष्ण के मुख से स्वयं सुनिये।

मैया मोहिं बड़ो करि दै री
दूध-दही घृत माखन मेवा जो माँगों सो दै री॥

बच्चे बहुधा खाने पीने से जी चुराते हैं। कम से कम उनको दूध पिलाना तो बड़ा ही कठिन होता है। पर प्रति स्पर्द्धा एक ऐसी चीज है जिसके बल से माता बच्चे का सब कुछ करने को फुसला सकती है—

कजरी को पय पिवहु लला तेरी चोटी बढ़ै।
सब लरिकन में सुन सुन्दर सुत तो श्री अधिक चढ़ै॥

बालकों को नहलाना धुलाना कठिन काम होता है यह तो कोई सुक्तभोगी ही जान सकता है—

जसुमति जबहि कह्यो अन्हवावन रोइ गए हरि लोटत री।
+ + +
महरि बहुत बिनती करि राखति मानत नाहिं कन्हाई री॥

बालविनोद और माता के आनंद की एक और झलक देखिये—

हरि अपने आगे कछु गावत।
तनक तनक चरनन सों नाचत मनहीं मनहिं रिझावत॥
बाँह उँचाई काजरी धौरी गैयन टेरि बुलावत।

कबहुँक बाबा नंद बुलावत कबहुँक घर में आवत ।।
माखन तनक आपने कर लै तनक बदन में नावत ।
कबहुँ चितै प्रतिबिंब खंभ में लवनी लिये खवावत ।।
दुरि देखत जसुमति यह लीला हरप अनन्द बढ़ावत ।
'सूर' स्याम के बालचरित ये नित देखत मन भावत ।।

बालक अपनी हठ के आगे खाना पीना तक भूल जाते हैं। जिस पदार्थ के लिये मचल जाएँगे उसे लिये बिना छोड़ेंगे नहीं। आप उसको बहलाने का कितना ही प्रयत्न क्यों न करें, वह रो-रो कर रह जायगा मानेगा नहीं। यह बात चन्द्र के लिये कृष्ण के मचलने मे साफ लक्षित होती है। कहा भी है " बलानां रोदनं बलम् "

१—मेरो माई ऐसो हठो बालगोबिन्दा ।
अपने कर गहि गगन बतावत खेलन को माँगे चन्दा ।
२—किहि बिधि करि कान्है समुझैहौं ।
मैं ही भूलि चन्द दिखरायो ताहि कहत " मोहि दे मैं खैहौं " ।।

श्याम खेल में हार गये तो मनही मन खीझ गये, इतने में—

बीचहिं बोल उठे हलधर तब इनके माय न बाप ।
हारि जीति कछु नेक न जानत लरिकन लावत पाप ।।

बस फिर क्या था, श्याम रोते रोते माँ के पास को चल पड़े। बालकों की पहुँच माता ही तक होती है—

मैया मोहिं दाऊ बहुत खिझायो ।
मोसों कहत मोल को लीनो तोहि जसुमति कब जायो ।।
कहा कहौं एहि रिस के मारे खेलन हौं नहिं जातु ।
पुनि पुनि कहत कौन है माता को है तुमरो तातु ।।
गोरे नंद जसोदा गोरी तुम कत स्याम सरीर ।
चुटकी दै दै हँसत ग्वाल सब सिखै देत बलबीर ।।

इसमें बालकों की नटखट प्रकृति का कैसा सुन्दर वर्णन किया है। दूसरे को चिढ़ाने में बालकों को बड़ा मज़ा मिलता है। 'गोरे नन्द जसोदा गोरी तुम कत स्याम सरीर' में कैसा बढ़िया व्यंग है, कैसा चुभता मज़ाक

खाने में आता है वह स्वाद वह आनन्द अपना हिस्सा खाने में कहाँ। इसे कहते हैं बाल-विनोद। इन बातों का सच्चा अनुभव तो उसी को हो सकता है जिसको बालकों के बीच में अपना जीवन बिताने का सौभाग्य हुआ होगा।

१—'सूर' स्याम अपनो नहि जेंवत ग्वालन करते लै लै खात।

२—ग्वालन कर तें कौर छुड़ावत।

जूठो लेत सबन के मुख को अपने मुख लै नावत।
षटरस के पकवान धरे सब तामें नहिं रुचि पावत।
हा हा करि करि माँगि लेत हैं कहत मोहिं अति भावत॥

बालक सचमुच राजा हैं। राजा नहीं यदि देवता कहें तो कोई अत्युक्ति न होगी। क्योंकि वे अपनी सदानन्दमय मूर्ति से हँसते हुए चेहरे से इस धराधाम को ही स्वर्ग बनाते हैं।

इस प्रकार कृष्ण ने क्रमशः अपने चतुर्दिक प्रेम का प्रकाश फैला दिया और एक नवीन आनन्दमय संसार की सृष्टि कर दी। उनके सौन्दर्य, उनकी दिव्यता, उनकी सुशीलता और प्रेम तथा सबसे बढ़कर उनकी अति मधुर एवं मनोमुग्धकारिणी मुरली की मृदु तान ने सबको मोह लिया, और वे सब में अज्ञात ही कृष्ण को प्यार करने लग गये।

\+ \+ \+

अब हम तीसरे और चौथे रत्नों के विषय में लिखने के पहिले "माधुरी क्या पदार्थ है" थोड़ा सा इसका भी सिंहावलोकन करने का प्रयत्न करेंगे।

'माधुरी' का शब्दार्थ होता है 'मधुरता' मीठापन या मिठास' यहाँ पर मीठापन से हमारा प्रयोजन मिठाई, शहद या चीनी के मीठेपन से नहीं है, साहित्य में 'माधुरी' का अर्थ बहुत व्यापक है। 'माधुरी' पाँचों ज्ञानेद्रियों में से किसी भी एक इन्द्रिय द्वारा प्राप्त वह ज्ञान है जो हमारे चित्त में एक अलौकिक आनन्द का अनुभव कराता है। रसना को रुचने वाले पदार्थ के बारे में हम कहते हैं कि बड़ा ही मधुर भोजन है, घ्राणेन्द्रिय को तृप्त करनेवाली अच्छे अच्छे फूलों और इत्रों की सुगंध को हम झट से

कह देते हैं क्या ही मधुर सुगन्ध है। 'प्रियजनों' का स्पर्श भी त्वगिन्द्रिय को कैसा मधुर जँचता है इसी प्रकार किसी व्यक्ति का सुन्दर चेहरा अथवा कोई सुन्दर प्राकृतिक दृश्य या उनकी प्रतिकृति ही हमारे नेत्रों को सुहावनी जान पड़ती है तो हमारा मन विवश होकर उसकी 'रूप माधुरी' की ओर आकृष्ट हो ही जाता है। कर्ण प्रिय बातों में भी मधुर विशेषण जोड़ा जाता है। किसी बालक की तुतली एवं अस्फुट बोली कैसी मधुर जान पड़ती है। प्यार और नम्रता के वचन भी सबको मधुर जान पड़ते हैं। किसी के अति मधुर संगीत को सुनकर हमारा मन मुग्ध होकर सहसा कह बैठता है कि अहा! कैसा मधुर कंठ है। सारांश यह कि कोई भी वस्तु जो हमको, हमारे मन को, अच्छी लगती है, जिससे हमारा चित्त प्रफुल्ल हो जाता है, उसे हम मधुर कह सकते हैं। इस 'माधुरी' में एक बड़ी भारी विशेषता तो यह है कि चाहे हमें कितने ही प्रचुर परिमाण में यह पदार्थ क्यों न मिल जाय, हमारे मन को तृप्ति नहीं होती, हम अघाते ही नहीं। और पदार्थों की भाँति हम इसकी अति से ऊबते नहीं, प्रत्युत ज्यों ज्यों इसकी प्राप्ति होती जाती है हमारा चित्त इसकी ओर आकृष्ट होता जाता है और यही चाहता है कि वह अधिक अधिक मिलती जाय तो अच्छा। सूरसागर में इस प्रकार की 'माधुरी' की कमी नहीं है। इसलिये हमने 'रूप माधुरी' और 'मुरली-माधुरी' इन दो अपूर्व रत्नों को सूरसागर से मथ कर निकाला है। हम संक्षेप में दोनों का विवेचन करेंगे। पहिले 'रूप माधुरी' लीजिये।

३—रूप-माधुरी

रूप नेत्रों का विषय है। किसी सुन्दर दर्शनीय व्यक्ति का स्वरूप अथवा प्राकृतिक दृश्य हमारे नेत्रों को खूब सुहाता है। अतः हम इनकी गणना 'रूप माधुरी' में करते हैं। अब प्रश्न यह हो सकता है कि 'रूप-माधुरी' या मनोहरता आखिर है क्या पदार्थ? केवल सुन्दर आकार या सूरत शक्ल को ही तो हम मनोहर कदापि नहीं मान सकते। सुडौलपन अर्थात् शारीरिक अवयवों का समुचित अनुपात से होना सुन्दरता में

शामिल है अवश्य, किन्तु सर्वाङ्ग सुन्दर एवं सुडौल शरीरधारी व्यक्तियों का भी हम मनोहर नहीं कह सकते। बाज़ार में घड़ियाँ, छड़ियाँ, गुड़ियाँ, आदि कई वस्तुएँ बड़ी सुडौल, सुमिल एवं समानावयव होती हैं। क्या आप उनकी सुन्दरता को सच्चा सौन्दर्य कहेंगे ? बाह्य स्वरूप सौन्दर्य नहीं है, न गोरा और पीला ही सौन्दर्य है। योगी का स्वरूप बाह्याकृति रूप रंग में कोई विशेष दर्शनीय चाहे न हो पर उसका चेहरा कैसा दमकता है, कैसा कान्तिमान होता है! कई रंगों अथवा दर्शनीय पदार्थों के मेल से बनाई हुई बनावटी वस्तु मनोहर नहीं मानी जा सकती, न सौन्दर्य केवल उपभोग्य पदार्थ है। सुन्दरता के तो विशिष्ट लक्षण होते हैं—'अहेतु' और 'शान्ति'। अहेतु अर्थात् निःस्वार्थता या स्वछन्दता-एवं अकृत्रिमता या स्वाभाविकता यह दिव्य सौन्दर्य का प्रधान लक्षण है। बनावटी वेशभूषा से सुसज्जित, बनावटी स्वर में बोलने वाला, और बनावटी व्यवहार करनेवाला हमारी समझ में कुरूप है। तारे, पुष्प, और शिशु ये वास्तव में सुन्दर और मनोहर होते हैं। क्योंकि उनकी गति और व्यवहार में कृत्रिमता नहीं होती। नभोमण्डल में नक्षत्र निसर्गतः टिमटिमाते हैं, हरे हरे लताकुञ्जों में मंजु कुसुमपुञ्ज स्वभावतः विकसित होते हैं, और शिशु सुलभ चपलता से पालने में खेलता हुआ और सहज प्रसन्नता से मन्द मन्द मुसुकाता हुआ शिशु ये ही वास्तव में सुन्दर और मनोहर जान पड़ते हैं। सुन्दरता और सरलता का चोलीदामन का साथ है, यह अकारण ही नहीं। उक्त सभी पदार्थों में स्वाभाविकता के साथ सरलता भी वर्तमान है। कृत्रिमता और तड़क भड़क सौंदर्य को चौपट कर देता है। आजकल के एक से एक नये फैशन सुन्दरता की मिट्टी पलीद कर रहे हैं। वास्तविक सौन्दर्य का तो आधुनिक सभ्यता ने आजकल के मनचले युवकों ने सत्यानाश कर डाला है।

सुन्दर्य का दूसरा लक्षण है 'शान्ति'। विरोधाभाव, संगठन, सन्तोष और गांभीर्य है। इन्हीं का अस्तित्व हम किसी सुन्दर व्यक्ति में पाते हैं, किसी सुन्दर व्यक्ति के दर्शनमात्र से हमारा विरोधभाव तथा

भर के लिये काफूर हो जाता है। खर-दूषण श्रीरामचन्द्रजी से जाते तो हैं लड़ने, पर उनके सौन्दर्य से मुग्ध होकर क्षणभर के लिये उनका वैर हवा हो जाता है और वह अपनी बहिन का अपमान तक भूलकर मेल करने को तत्पर हो जाता है। यही सौन्दर्य की महिमा है, प्रभाव है। सुन्दरता का यह गुण हम बाह्य-सौन्दर्य और आध्यात्मिक सौन्दर्य दोनों में तुल्य रूप से पाते हैं। सुन्दरता कियत्क्षण पर्यन्त विरोध से हमारी रक्षा करती है, सुन्दरता किञ्चित्काल पर्यन्त हमको संगठन-सूत्र में संग्रथित कर देती है। लेकिन सुन्दरता इतनी ही नहीं होती, इसमें कुछ और भी विशेषता होती है। सच तो यह है कि सुन्दरता में एक मोहिनी शक्ति वर्तमान रहती है। ज्यों ही हम सौन्दर्य का विश्लेषण करने लगते हैं त्योंही यह गायब हो जाती है। सुन्दरता में मोहिनी है, क्योंकि यह विश्व—परमात्मा—की शक्ति अर्थात् माया है। यह उस अनन्त के ज्योतिर्मय स्वरूप की एक झाँकी है, उस दिव्य प्रकाश की एक किरण है। यह उस अलक्ष्य का आशीर्वाद है जो संसार में संचरित होकर मनुष्य की 'बाह्यइन्द्रिय' और अन्तर्दर्शनेन्द्रिय में प्रत्यक्ष रूप से दिखलाई देता है। सुन्दरता उस अनादि पुरुष का दिव्य स्वरूप है, प्रकाश है। उसी की एक किरण से सारा संसार सुन्दर जान पड़ता है। श्रीकृष्ण के श्रीमुख ही से सुनिये —

यद्यद्विभूतिमत्सत्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोऽशसंभवम्॥

गीता अ० १० श्लो० ४१।

परमात्मा का सौन्दर्यावलोकन करने के लिये दो विशेष गुणों का होना आवश्यक है। एक है शिशु-सुलभ ज्ञान। शिशु के सौन्दर्य की भेंट प्रचुर परिमाण में मिलती है। यदि हम सुन्दरता के राज्य में प्रवेश पाना चाहते हों तो हमको चाहिये कि हम अपने हृदय को शिशु सदृश सरल बना लें। बालकृष्ण के प्रति प्रेम का प्रकाश अकारण ही नहीं किया गया है। दूसरी आवश्यकता है आत्मसमर्पण अर्थात् परमात्मा पर अपने को निछावर करने की। उसकी सुन्दरता की झलक पाने के

लिए हमें 'भक्तों के प्रति उसकी कितनी सहानुभूति है' यह जानने की आवश्यकता है, उसके प्रेम का आभास पाने की जरूरत है। तभी सच्चे सौन्दर्य का ज्ञान हो सकता है। सौंदर्योपासक जन को प्रतिदिन उस दिव्य स्वरूप पर निर्भर रहना पड़ता है, उस प्रकाश का अनुसरण करना पड़ता है जो उसके मनमन्दिर को प्रकाशित करता है। उसी दिव्य ज्योति का ज्यों ज्यों ध्यान किया जायगा त्यों त्यों अनुभव होगा कि प्रकृति अति सुन्दर है और वह अलक्ष्य पुरुष उससे भी कहीं अधिक सुन्दर है।

सूरदासजी बाह्य चक्षुओं से हीन थे अवश्य, पर उनके अन्तस् में परमात्मा का दिव्य स्वरूप समा गया था। उनको खाते पीते, सोते जागते, हर समय उसी की मूर्ति का ध्यान बना रहता था। यही कारण है कि उन्होंने श्रीकृष्ण की मूर्ति के अनेक चित्र अपने शब्दों में खींच दिये, और इतने सुन्दर खींचे कि कोई चक्षुद्वयसंपन्न चतुरचितेरा क्या खींचता, दो एक चित्र बानगी के तौर पर पेश किये जाते हैं—

देखो माई सुन्दरता को सागर।

\+ \+ \+

देखि सुरूप सकल गोपी जन रहीं निहारि निहारि।
तदपि 'सूर' तरि सकीं न सोभा रही प्रेम पचि हारि॥

इस पद में कृष्ण के सौन्दर्य का समुद्र से क्या बढ़िया रूपक बाँधा है? भला, इस रूपसागर को पार करने की सामर्थ्य किसमें हो सकती है? हरिमुख की सुन्दरता के विषय में उन गोपियों की सम्मति देखिये जो निरन्तर उनके सौन्दर्य को देखने पर भी नहीं अघाती थीं—

१—हरिमुख किधौं मोहिनी माई।
बोलत बचन मंत्र सो लागत गतिमति जात भुलाई॥
'सूर' स्याम जुवती मन मोहत ये सँग करत सहाई॥

\+ \+ \+

२—सुन्दर मुख की बलि बलि जाऊँ।
लावननिधि गुननिधि सोभानिधि निरखि निरखि जीवत सब गाऊँ॥
अंग अंग प्रति अमित माधुरी प्रगटति रस रुचि ठावँ ठाऊँ।

तापै मृदु मुसकानि मनोहर न्याय कहत कवि मोहन नाऊँ ॥
नैन सैन दै दै जब हेरत तापै हौं बिन मोल बिकाऊँ ।
'सूरदास' प्रभु मन मोहन छवि यह सोभा उपमा नहिं पाऊँ ॥

सच है बिना लावण्य गुण और शोभा के संयोग के सौन्दर्य हो ही नहीं सकता। परन्तु यह सच तो तब और भी अच्छा लगता है जब चेहरे पर सहज प्रसन्नता की मृदु मुसक्यान हो। और देखिये—

देखु सखी मोहन मन चोरत ।
नैन कटाच्छ बिलोकनि मधुरी सुभग भृकुटि बिधि मोरत ।

सुन्दरता वही स्तुत्य है जो प्रतिक्षण पतिपल रमणीय जान पड़े। इसीलिये कवियों ने सुन्दरता की परिभाषा की है, "क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति" अर्थात् जिसमें हर घड़ी कुछ न कुछ नवीनता, अनोखापन मोहिनी जान पड़े। सूरदासजी के शब्दों में भी सुन लीजिये—

सखीरी सुन्दरता को रंग ।
छिन छिन माँह परत छवि औरे कमल नयन के अंग ॥

केवल दो आँखों से कृष्ण का स्वरूप देख कर तृप्त न होने के कारण गोपी कह ही तो देती है कि अगर विधाता 'रोम रोम प्रति लोचन दे तो देखत बनत गोपाल।' कोई यहाँ तक कहने से भी नहीं चूकती—

बिधातहिं चूक परी मैं जानी ।
आजु गोबिन्दहि देखि देखि हौं इहै समुझि पछितानी ॥
रचि पचि सोचि सवारिसकल अँग चतुर चतुरई ठानी ।
दीठि न दई रोम रोमनि प्रति इतनिहिं कला नसानी ॥
कहा करौं अति सुख दुइ नैना उमँगि चलत भरि पानी ।
'सूर' सुमेर समाइ कहाँ धौं बुधि बासनी पुरानी ॥

सौन्दर्य अमित है। उसका पार पाना मानव हृदय से परे है। सौन्दर्य नेत्रों का विषय है, इसलिये जिह्वा के लिये इसका वर्णन करना असम्भव है। इसी से 'रूपमाधुरी' के वर्णन करने के विषय में 'सूर' के ही स्वर में कहते हैं—

'सूरदास' कछु कहत न आवै गिरा भई गति पंग ।

४—मुरली-माधुरी

संगीत में ही सुख है। किसी अँग्रेज कवि का कथन है ' where there is music, there is joy " अर्थात् जहाँ संगीत है वहीं सच्चा आनन्द है। संगीत में एक रहस्य है, एक अद्भुत चातुर्य है। गवैये लोग गाने के पूर्व प्रायः अपनी आँखें इस प्रकार बन्द कर लेते हैं माना वे किसी वस्तु का ध्यान कर रहे हों। प्रत्येक राग का एक चित्र होता है। संगीतशास्त्र में प्रत्येक राग का स्वरूप निर्णीत है। गायक लोग उसी गीय-माण राग को प्रतिकृत अपने चित्त-चित्रपट में देखते हैं। संगीत के द्वारा इस चित्र के रङ्ग भी प्रत्यक्ष हो जाते हैं। जब हमारे 'मुरलीधर, अपनी वंशी बजाते थे तब न जाने किन अपूर्व आकृतियों से, अति सुन्दर चित्रों से, वृन्दावन चित्रमय हो जाता था। सच पूछा जाय तो हार्मोनियम के कारण हमारे सङ्गीत की, गान-कला की, दिनोंदिन अवनति होती जा रही है। मुरली—वशीधर की वंशी—एक साधारण यन्त्र है, लेकिन कैसा प्रभावोत्पादक है, कैसा मनोमुग्धकारी है। श्रीकृष्ण की वंशी कोई बहुमूल्य यन्त्र नहीं है, आधुनिक वाद्ययन्त्रों की भाँति हाथी दाँत या हड्डी से बनी हुई नहीं है; किन्तु एक साधारण बाँस की लकड़ी की बनी है। और इसी साधारण बाँस के यन्त्र से श्रीकृष्ण अश्रुतपूर्व राग प्रकट करते थे। चर अचर सब मुरली की ध्वनि को सुनकर स्तब्ध हो जाते थे, अपने शरीर तक की सुध न रहती थी। गोपियाँ अपने अपने गृहकार्यों को जैसे का तैसा छोड़ कृष्ण की खोज में चली जाती थीं।

१—बंसी बन कान्ह बजावत।
आइ सुनो स्रवननि मधुरे सुर राग रागिनी ल्यावत॥

२—मुरली धुनि स्रवन सुने रह्यो नाहिं परै।
ऐसी को चतुर नारि धीरज मन धरै॥

३—अंगनि की सुधि भूलि गई।
स्याम अधर मृदु सुनत मुरलिका चकित नारि भई॥
जो जैसे तैसेहिं रहि गई सुख दुःख कह्यो न जाई।

लिखी चित्र की सी ह्वै गई एकटक पल बिसराई ॥

+ + +

'स्याम' की वही वंशी जिसने गोकुल की गोपियों को प्रेम से उन्मत्त बना दिया था बाद को योगीश्वर श्रीकृष्ण के पांचजन्य नामक शंख में परिवर्तित हो गई जिसने कुरुक्षेत्र के रणस्थल में पांडव-पक्ष के योद्धाओं के हृदय में उत्साह और स्फूर्ति का सञ्चार कर दिया था।

महात्माओं ने श्रीकृष्ण, मुरली और गोपियों के प्रसङ्ग को ईश्वर, माया और जीव के रूपक में घटाया है, जो कियदंश में सही जान पड़ता है। इस रूपक में मुरली को 'माया' बतलाया है। यह मैं हूँ, यह मेरा है, यह तू है, यह तेरा है, यही सब माया है। इस माया ने जीवमात्र को अपने वश में कर लिया है। जहाँ तक हमारी इन्द्रियाँ पहुँच सकती हैं वहाँ तक माया का ही साम्राज्य है। माया दो प्रकार की होती है— 'विद्या' और 'अविद्या'! अविद्या माया वह माया है जो आत्मा और परमात्मा में, जीव और ब्रह्म में विभेद कराती है, जिसके कारण जीव भव के फंदे में फँस कर नाना दुःख झेलता है, दूसरी विद्या माया है जो सब तरह से अविद्या माया के प्रतिकूल है, जिसके कारण जीव अन्य सब जीवों को ब्रह्मवत् ही जानता है। *श्रीकृष्ण की मुरली यही 'विद्यामाया' है जो जीव को ब्रह्म से मिलाता है। गोपियाँ सब जीव हैं। मुरली (विद्यामाया) गोपियों (जीवों) का श्रीकृष्ण (परब्रह्म) से संयोग कराती थीं। कृष्ण अपने त्रिभंगी रूप से कदंब के पेड़ के नीचे स्थित होकर वंशी के सुर पर सुर क्या निकालते थे मानों वे श्रोताओं के हृदयों को खोजते थे। गोप गोपियां वंशीधर खोजती थीं, पर श्रीकृष्ण भी उनको खोजते थे। जीव परब्रह्म को खोजता है यह सत्य है किन्तु ब्रह्म भी जीव को खोजता है। कृष्ण की वंशी (माया) मानों हृदयों की खोज में रहती थी, सङ्केतश कृष्ण मानव हृदय के अन्तस्तल में प्रवेश पाना चाहते थे। अतः हम देखते हैं कि जब जब वंशीधर वृन्दावन

---

* इस विषय के विवेचन के लिए देखिये रामायण आरण्यकांड 'मैं अरु मोर तोर यह माया। '……माया प्रेरक सीव—"तुलसी"।

ने वंशी बजाते थे गोपियाँ आत्मविस्मृत हो जाती थीं। जब परमात्मा जीव के हृदय में प्रविष्ट हो जाता है तो जीव अपना अस्तित्व ही भूल जाता है। ज्यों ज्यों परमात्मा हमारे हृदय में प्रविष्ट होता जाता है हमारा हृदय उसके स्वागत के लिए स्थान रिक्त करता जाता है। मुरली में वह मोहिनी शक्ति है जो हमारे मन में प्रेम को जागृत कर देती है और स्थापित करती है हमारे हृदय में आत्मविसर्जन का भाव। यही वह प्रेम है जिसको श्रीकृष्ण (परब्रह्म) अपनी मुरली (माया) के द्वारा गोपियों (जीवों) के हृदय में खोजते थे। परमात्मा हमारे हृदय को खोजता है। जो बच्चे की भाँति सरल स्वभाव से परमात्मा को अपने अन्तस्तल में अवकाश दे वही वास्तविक मुक्ति का अधिकारी है। यही सूर का मायावाद है।

यह तो हुआ मुरली का 'दार्शनिक' पक्ष। अब जरा 'कला' की ओर भी ध्यान दीजिये। 'मुरली' श्रीकृष्ण जी के बालपन के व्यक्तित्व को प्रकट करती है। कृष्णजी का यह गुण ऐसा है जो हमारे जीवन को आनन्दमय बना सकता है। खेद है कि श्रीकृष्ण के सिखलाने पर भी हम अपने जीवन को सौन्दर्यमय बनाना नहीं जानते। श्रीकृष्ण में एक से एक बढ़ कर अनुकरणीय गुण वर्तमान थे। पर मुरली एक ऐसा गुण था जिसके अभाव में आज भारत कला हीन होगया है। आजकल के नवयुवकों को और बालकों को कम से कम यह गुण तो अवश्य ही सीखना चाहिये। आजकल के हार्मोनियम, पियानो का वह प्रभाव कहीं भी सुनने में नहीं आता जो मुरली की ध्वनि का पड़ता था, सुनिये—

१—जबहीं बन मुरली श्रवन परी।
चकित भई गोप कन्या सब धाम काम बिसरी ॥

२—मुरली मधुर बजाई स्याम।
मन हरि लियो भवन नहिं भावै व्याकुल ब्रज की बाम ॥
भोजन भूषण की सुधि नाहीं तनु की नहीं सँभार।

+ + +

३—सुनहु हरि मुरली मधुर बजाई।
मोहे सुर नर नाग निरन्तर ब्रजबनिता मिलि धाई ॥

जमुना नीर प्रवाह थकित भयो पवन रहो मुरझाई ।
खगमृग मीन अधीन भये सब अपनी गति बिसराई ॥
द्रुम बेली अनुराग पुलकतनु, ससि थक्यो, निसि न घटाई ।
'सूर' स्याम वृन्दावन विहरत चलहु सखी सुधि पाई ॥

४—मुरली सुनत अचल चले ।
थके चर, जल झरत पाहन, बिफल वृक्षहु फले ॥

\+ \+ \+

५—जब मोहन मुरली अधर धरी ।
गृह व्यवहार थके आरजपथ तजत न संक करी ॥

मुरली की ध्वनि से जीवों पर तो यह प्रभाव पड़ा, पर स्वयं श्रीकृष्ण (परब्रह्म) पर क्या असर हुआ सो भी गोपियों की व्यंग्यपूर्ण उक्ति में ही सुन लीजिये—

आवत ही याके ए ढंग ।
मन मोहन बस भये तुरत ही ह्वै गये अंग त्रिभंग ॥

\+ \+ \+

मुरली भगवान की 'शक्ति' है, 'माया' है । अगर मायापति माया को प्यार करें तो क्या आश्चर्य । परन्तु मुरली यद्यपि भगवान को नाना प्रकार नाच नचाती है, पर भगवान को तब भी अच्छी ही लगती है । स्त्री के शासन में रहने वाला पुरुष जैसे अपनी स्त्री की छोटी बड़ी सभी आज्ञा मानना अपना कर्तव्य समझता है, वही दशा 'मुरली' के सामने श्रीकृष्ण की हो गई है ।

मुरली तऊ गोपालहिं भावति ।
सुनरी सखी जदपि नँदनंदहिं नाना भाँति नचावति ॥
राखति एक पायँ ठाढ़ो करि अति अधिकार जनावति ।
कोमल अंग आपु अज्ञागुरु कटि टेढ़ी ह्वै जावति ॥
अति आधीन सुजान कनौड़े गिरिधर नारि नवावति ॥
आपुन पौढ़ि अधर सेज्या पर कर पल्लव सन पद पलुटावति ॥

भृकुटी कुटिल फरक नासा पुट हम पर कोपि कुपावति ।
'सूर' प्रसन्न जानि एकौ छिन अधर सु सीस डुलावति ॥

कृष्ण गोपियों से मुरली को अधिक प्यार करते हैं, मुरली हर समय उन्हीं के साथ रहती है, यह बात ईर्ष्यालु गोपियों को अच्छी नहीं लगती—

मुरली मोहे कुँवर कन्हाई ।
अँचवति अधर सुधा बस कीन्हें अब हम कहा करैं कहि माई

इतना करने पर भी, उसका सर्वस्व लेने पर भी वह उनको कृष्ण के एकान्त में मिलने का अवसर तक नहीं देती—

सरबसु हरो घरो, कबहूँ अवसरहुँ न देति अघाई ॥

बस, अब इसका एक ही उपाय है। जिस मुरली के कारण कृष्ण हमको भूले हुए हैं उसी को क्यों न गायब कर दिया जाय। जब मुरली ही न रहेगी तो झख मार कर हमसे ही प्रेम करना पड़ेगा ; न रहेगा बाँस न बजेगी बाँसुरी।

सखीरी मुरली लीजै चोरि ।
जिन गोपाल कीन्हें अपने बस प्रीति सबन की तोरि ॥

+ + +

यह प्रस्ताव पास तो हो गया, पर आजकल की सभा सोसाइटियों की भाँति 'कागजी-दुनिया' के बीच में ही पड़ा रहा, कार्य में परिणत नहीं किया गया। मुरली को कृष्ण से दूर करना अलग रहा, स्वयं मोहित हो गई।

मुरली सुनत भई सब बौरी, मनहुँ परी सिर माँझ ठगौरी ॥

परिणाम यह हुआ कि गोपिकाएँ एक एक करके कृष्ण पर आसक्त हो गईं, और कृष्ण भी उनसे प्रेम करने लगे। धीरे धीरे कृष्ण और गोपिकायें प्रेम के प्रवाह में बह गईं। माया के द्वारा जीव और परमात्मा का योग हो गया।

भृकुटी कुटिल फरक नासा पुट हम पर कोपि कुपावति ।
'सूर' प्रसन्न जानि एको छिन अधर सु सीस डुलावति ॥

कृष्ण गोपियों से मुरली को अधिक प्यार करते हैं, मुरली हर समय उन्हीं के साथ रहती है, यह बात ईर्ष्यालु गोपियों को अच्छी नहीं लगती—

मुरली मोहे कुँवर कन्हाई ।
अँचवति अधर सुधा बस कीन्हें अब हम कहा करैं कहि माई

इतना करने पर भी, उसका सर्वस्व लेने पर भी वह उनको कृष्ण के एकान्त में मिलने का अवसर तक नहीं देती—

सरबसु हरो घरो, कबहूँ अवसरहुँ न देति अघाई ॥

बस, अब इसका एक ही उपाय है। जिस मुरली के कारण कृष्ण हमको भूले हुए हैं उसी को क्यों न गायब कर दिया जाय। जब मुरली ही न रहेगी तो झख मार कर हमसे ही प्रेम करना पड़ेगा ; न रहेगा बाँस न बजेगी बाँसुरी।

सखीरी मुरली लीजै चोरि ।
जिन गोपाल कीन्हें अपने बस प्रीति सबन की तोरि ॥

\+ \+ \+

यह प्रस्ताव पास तो हो गया, पर आजकल की सभा सोसाइटियों की भाँति 'कागजी-दुनिया' के बीच में ही पड़ा रहा, कार्य में परिणत नहीं किया गया। मुरली को कृष्ण से दूर करना अलग रहा, स्वयं मोहित हो गई।

मुरली सुनत भई सब बौरी, मनहुँ परी सिर माँझ ठगौरी ॥

परिणाम यह हुआ कि गोपिकाएँ एक एक करके कृष्ण पर आसक्त हो गईं, और कृष्ण भी उनसे प्रेम करने लगे। धीरे धीरे कृष्ण और गोपिकाएँ प्रेम के प्रवाह में बह गईं। माया के द्वारा जीव और परमात्मा का योग हो गया।

व्रजवासिनियों ने भी उद्धव से किया। पर ऊधो को कृष्ण का संदेशा सँदेशा तो कुछ कहना था नहीं। उन्होंने अपना ज्ञानोपदेश आरम्भ कर दिया। गोपियों को उनकी रूखी ज्ञानचर्चा कुछ न रुची। इसी बीच में एक भ्रमर उड़ता हुआ आया और राधिका के चरण पर बैठ गया। बस फिर क्या था गोपियों ने ऊधो को सुनाते हुए भ्रमर को संबोधन कर उपालंभ देना आरम्भ कर दिया। ऊधो की जितनी ज्ञान-चर्चा थी, सब पर ताने देना शुरू कर दिया। उनके योग और निर्गुण उपासना के सिद्धान्तों का एक एक करके खंडन कर अपने प्रेम-मार्ग और साकार उपासना के सिद्धान्तों का मण्डन किया; पर यह सब सुनाया तो गया ऊधो को और संबोधन किया गया 'भ्रमर' को। इसी से इस प्रसंग को 'भ्रमर गीत' कहते हैं। 'भ्रमर-गीत' केवल सूर ने ही नहीं लिखा है, और भी कई एक कवियों ने इस प्रसंग को बड़े सुन्दर शब्दों में लिखा है। इनमें से नंददास का भ्रमर-गीत सर्वाधिक प्रसिद्ध है। बख्शी हंसराज (पन्नानिवासी) ने इस पर 'विरह विलास' नामक एक बड़ा काव्य ही लिख डाला है (यह ग्रंथ खंडित रूप में हमारे पास है)।

सूरदासजी सगुणोपासक थे। 'भ्रमर-गीत' के द्वारा उन्होंने निर्गुण सगुण का ही बड़ा विशद विवेचन किया है। जैसे गो० तुलसीदासजी ने 'चातक चौंतीसी' द्वारा साकार उपासना की प्रेम और भक्ति की महत्ता दिखलाई है, वैसे ही सूरदासजी ने भी 'भ्रमरगीत' में, बड़े ही युक्तिपूर्ण तर्कों द्वारा निर्गुण का खंडन और सगुण का मंडन किया है। 'भ्रमर-गीत' के लिखने में 'सूर' का मुख्य उद्देश्य यही जान पड़ता है।

ऊधो ज्यों ही व्रज में पहुँचते हैं त्यों ही गोपियाँ उनको भी अक्रूर समझ कर टूट भी पड़ती हैं, और पूछती हैं, कि पहिले तो हमारे सर्वस्व श्रीकृष्ण को हर ले गये थे, अब फिर किस पर राजा का 'समन' जारी हुआ है—

कहो कहाँ ते आए हो।
जानति हाँ अनुमान मनो तुम जादवनाथ पठाये हो॥

सोई बरन, बसन पुनि वैसेइ, तन भूषन सजि ल्याए हो।
सरबसु लै तब संग सिधारे अब कापर पहिराए हो॥

ज्यों ही मालूम होता है कि वे कृष्ण के सखा हैं त्यों ही बड़ी आव-भगत से उनको बैठाती हैं और कहती हैं—

ऊधो का उपदेश सुनो कित कान दे। सुन्दर स्याम सुजान पठायो मान दे॥

आये तो ऊधो ज्ञान सिखाने को पर पहुँचते ही स्वयं प्रेम के प्रवाह में बह गये। योग ज्ञान सब भूल गया।

प्रेम मगन ऊधो भए हो देखत ब्रज को भाय॥
मन मन ऊधो कहै यह न बूझिय गोपालहिं।
ब्रज को हेत बिसारि जोग सिखवत ब्रज-बालहिं॥
पाती बाँचि न आवई रहे नयन जल पूरि।
देखि प्रेम गोपीन को, ज्ञान गरब गयो दूरि॥

खैर किसी प्रकार अपने प्रेमाश्रुओं को रोका, और गुरु बन कर उनको उपदेश देने लगे—

ताहि भजहु किन सबै सयानी। खोजत जाहि महामुनि ज्ञानी॥
जाके रूप रेख कछु नाहीं। नयन मूँदि चितवहु चित माहीं॥
हृदय कमल में जोति बिराजै। अनहद नाद निरंतर बाजै॥
इड़ा पिंगला सुखमन नारी। सून्य महल में बसैं मुरारी॥
मात पिता नहिं दारा भाई। जल थल घट घट रहे समाई॥
यहि प्रकार भव दुस्तर तरिहौ। जोग पंथ क्रम क्रम अनुसरिहो॥
वह अच्युत अविगत अविनासी। त्रिगुन रहित बहु धरे न दासी॥
हे गोपी! सुनु बात हमारी। है वह सून्य सुनहु ब्रजनारी॥
नहिं दासी ठकुराइन कोई। जहँ देखेउ तहँ ब्रह्महिं सोई॥
आपुहिं औरहि ब्रह्महि जानै। ब्रह्म बिना दूसर नहिं मानै॥

उपदेश बिलकुल ठीक है, सारगर्भित है। इससे ऊधो के ब्रह्मनिरूपण के ज्ञान का पूरा पता चल जाता है। पर यह उपदेश सबके लिये नहीं हो सकता। सांसारिक मायाजाल में फँसा हुआ मानव-हृदय इन बातों को नहीं समझ सकता। इसके लिये पूर्ण एक निष्ठता और योग द्वारा

चित्तवृत्ति की एकाग्रता की आवश्यकता है। पर ऐसा करना सबके लिए सरल नहीं है। यह सिद्धान्त ज्ञानमार्गियों तथा वेदान्त और दर्शन शास्त्र की पुस्तकों के लिये भले ही उपयुक्त हो, पर लोक में इसका व्यवहार बहुत कम, प्रायः नहीं के बराबर है। इन सिद्धान्तों की अस्पष्टता और दुर्बोधता ही इसका कारण है। इसका एक कारण और भी है कटु औषधि रोगी के रोग को दूर कर देती है अवश्य पर ऐसे कितने लोग हैं जो मधुर और कटु दोनों प्रकार की दवाओं में से कटु को ही रुचिपूर्वक खाते हैं। इसी प्रकार ब्रह्मज्ञान के भी दो मार्ग हैं, एक ज्ञान-मार्ग (निर्गुणोपासना) दूसरा भक्तिमार्ग (साकारोपासना)। निर्गुणोपासना का उपदेश केवल शुष्क ज्ञान है, भड़कीले शब्दों में कहा गया कोरा बुद्धिवाद है। साकारोपासना ज्ञान सरस है, मानव हृदय को सुबोध है। जाके रूप रेख कछु नाहीं' भला वह देखा कैसे जा सकता है! देखना भी आँखों से नहीं, बल्कि आँखें मूँद कर! कितनी असम्भव बात है! इस लोक में अव्यवहार्य और बेढंगी बात को कौन समझ सकता है! और मानेगा कौन इस बात को जिसका कोई शरीर ही नहीं, आकार ही नहीं, वह समझ में कैसे आ सकता है! ध्यान और स्मरण तो उसी का किया जा सकता है जिसका कोई विशेष रूप हो। जो अविगत है भला उसका ज्ञान हो कैसे सकता है! मानवहृदय में इस प्रकार के रूखे और नीरस उपदेशों का कुछ भी असर नहीं हो सकता, यह अव्यक्त और अनिर्दिष्ट स्वरूप उसके ध्यान ही में नहीं आता, इसीलिये भक्तिमार्गी परमात्मा के साकार स्वरूप की ओर आकृष्ट होते हैं। वे परमात्मा को उसी रूप में देखते हैं जो रोज उनकी आँखों के आगे आते हैं। भ्रमर-गीत में यही दिखलाने का प्रयत्न किया है कि इस प्रकार के रसविहीन उपदेशों का जनता पर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता। उपदेश देने का ढंग वही अच्छा है जो मन को सुगम हो, और सरस हो, और लौकिक व्यवहार से परे न हो। हम परमात्मा को 'अपने स्वरूप में देखना चाहते हैं, तो हम यह कैसे मान लें कि परमात्मा के "मात पिता, नहि दारा भाई।" इन सब बातों का खंडन, मंडन गोपियों ने बड़ी

युक्तिपूर्ण उक्तियों से, मीठी चुटकियों से और विद्वत्तापूर्ण तर्कों से किया है। विषय इतना रोचक है कि छोड़ने को जी नहीं चाहता। गोपियाँ कृष्ण को ईश्वर मानती हैं, उन्हीं के प्रेम में रंग गई हैं। उनको कृष्ण भक्ति से विरत करने का ज्ञान अच्छा नहीं लगता। अतः वे कहती हैं—

बार बार के बचन निवारो। भगति बिरोधी ज्ञान तुम्हारो॥
होत कहा उपदेसे तेरे। नयन सुबस नाहीं अलि मेरे॥

वे ऊधो की एक एक बात को काट देती हैं। वे कहती हैं कि हम यह कैसे मान लें कि परमात्मा अनादि अनन्त है, उसके माँ बाप नहीं। तुम यदुवंशी तो निरे मूर्ख जान पड़ते हो, भूलते तो स्वयं हो, पर हमको भूली बनाते हो—

आदि अन्त जाके नहीं, हो कौन पिता को माय?
चरन नहीं, भुज नहीं, कहो ऊखल किन बाँधो?
नैन नहीं, मुख नहीं, चोरि दधि कौने खाँधो?
कौन खिलायो गोद में किन कहे तोतरे बैन?

ऊधो जोग का उपदेश देते हैं तो गोपियाँ प्रेम पर जोर देती हैं क्योंकि—

प्रेम प्रेम सों होय प्रेम सों पारहिं जैए।
प्रेम बँध्यो संसार प्रेम परमारथ पैए॥
एकै निहचे प्रेम को जीवन मुक्ति रसाल।
साँचो निहचै प्रेम को, हो, जो मिलि हैं नँदलाल॥

गोपियाँ बड़े आग्रह के साथ पूछती हैं कि तुम हमको निर्गुण ज्ञान सिखाने तो आए हो पर उसका परिचय तो बताओ। वह निर्गुण ईश्वर कौन है? कहाँ का रहने वाला है? क्या करता है? बिना परिचय के हम उसको पहिचानें कैसे—

निर्गुण कौन देश को बासी?
मधुकर हँसि समुझाय सौंह दै बूझति साँच, न हाँसी।
को है जनक, जननि को कहियत; कौन नारि, को दासी॥
कैसो बरन भेष है कैसो केहि रस में अभिलासी॥

फिर हमारे मन में तो नन्दनन्दन का ध्यान है, इस निर्गुण का ध्यान कहाँ करें। एक मन में क्या दो चीजें अटक सकती हैं?—

कहो, मधुप, कैसे समायँगे एक म्यान दो खाँड़े।

मन तो एक ही था। पर अब वह भी हमारे पास नहीं रहा—

मधुकर मन तो एकै आहि।
सो तो लै हरि संग सिधारे जोग सिखावत काहि॥

ऊधो, तुम जोग सिखाते किसको हो। एक मन था सो कृष्ण हर ले गये। अब यहाँ ईश्वर की आराधना करता कौन है। हमारे दस बीस मन थोड़े ही हैं—

ऊधो मन नाहीं दस बीस।
एक हुतो सो गयो स्याम संग को आराधै ईस॥

गोपाल ने हमारे लिये यह उपदेश भेजा है, इस विचार से कमलासन पर बैठ कर आँखें मूँद कर उनका ध्यान करती हैं, पर

षटपद कही सोऊ करि देखी हाथ कछु नहिं आई।
सुन्दर स्याम कमल दल लोचन नेकु न देत दिखाई॥

वे जानते हुए भी ऊधो को बनाने के लिये कहती हैं कि हमारी समझ में यह उपदेश तो 'स्याम' का हो नहीं सकता; शायद तुम भूल गये होगे जाओ एक बार फिर पूछ आओ कि उन्होंने क्या कहा है—

ऊधो जाय बहुरि सुनि आवहु कहा कह्यो है नन्दकुमार।
यह न होय उपदेश स्याम को कहत लगावन छार॥
निर्गुन ज्योति कहाँ उन पाई सिखवत बारंबार।
काल्हिहिं करत हुते हमरे अँग अपने हाथ सिंगार॥

'अभी कल ही परसों की तो बात है वे हमारे साथ रास रंग में मस्त रहते थे। दो ही दिन में उनको यह ज्ञान की गठरी कहाँ मिल गई। वे हमसे भस्म लगाने—योग करने—को कहेंगे इस बात का तो हमें विश्वास नहीं हो सकता। ऊधो, तुम यह क्या उल्टी चाल चल रहे हो। स्त्रियों को भी कहीं योग सिखाया जाता है।

ऊधो कहा कथत विपरीति।
जुवतिन जोग सिखावन आये यह तौ उलटी रीति ॥
जोतत धेनु दुहत पय वृष के करन लगे जो अनीति।

जरा हमारी ओर तो निहारो। क्या हमारी सूरत योग करने की है। हम तो युवतियाँ हैं। हमारी तो अवस्था रास रंग की ही है—

ऊधो जुवतिन ओर निहारो।
तव यह जोग मोट हम आगे हिये समुझि विसतारो ॥

ऊधो, असली बात तो यह है कि मन ही हमारे काबू में नहीं है। नहीं तो भला क्या हम इस योग को छोड़ देतीं जिसे तुम इतने प्रेम से लाये थे? हम तो श्याम की करनी पर झंख रही हैं जो हमारे मन को तो उठा ले गये और योग यहाँ भेज दिया।

ऊधो मन नहिं हाथ हमारे।
रथ चढ़ाय हरि संग गये लै मथुरा जवै सिधारे ॥
नातरु कहा जोग हम छाँड़हि अति रुचि कै तुम ल्याए।
हम तौ झंखति स्याम की करनी मन लै जोग पठाये ॥

गोपियों के वचन कैसे ही स्वभाव सुलभ हैं, गोपियाँ जानती हुई भी ऊधो से कहती हैं, हमें तो ऐसा जान पड़ता है कि कृष्ण ने तुमको यहाँ नहीं भेजा, कहीं और जगह भेजा होगा तुम भूलकर यहाँ आ गये, तुम तो बड़े सयाने जान पड़ते हो, सँभल कर बात करना तक नहीं जानते। जरा बिचारो तो कहाँ हम अबला कहाँ हमारा दिगम्बर वेष!

ऊधो जाहु तुम्हैं हम जाने।
स्याम तुम्हैं ह्याँ नाहिं पठाये तुम ही बीच भुलाने ॥
ब्रजवासिन सों जोग कहत हो वातहु कहत न जाने।

+ + +

कहँ अबला कहँ दसा दिगंबर सँमुख करो पहिचाने ॥

फिर जरा विनोद और चपलता से ऊधो के भोलेपन पर मज़ाक उड़ाने के लिये कहती हैं, " मालूम पड़ता है ' श्याम ' ने तुम्हारे साथ कुछ

मजाक किया है। अच्छा ऊधो, तुम्हें हमारी कसम, सच सच कहो, जब स्याम ने तुम्हें यहाँ भेजा था क्या वे जरा मुसकाये भी थे ?"

सांच कहो तुमको अपनी सौं बूझति बात निदाने।
'सूर' स्याम जब तुम्हें पठाये, तब नेकहु मुसुकाने॥

ऊधो उनको समझाने जाते हैं, पर गोपियाँ कहती हैं, "ऊधो तुम अति चतुर सुजान। जे पहिले रँगरँगी स्याम रंग तिन्ह न चढ़े रँग आन।" क्या करें हम विवश हैं, हम तो कृष्ण के रँग में रँग चुकी हैं, अब हमारा मन निर्गुण में कैसे लग सकता है ? इस योग को हम 'ओढ़ें कि दसावैं।' प्रेमी को भी कहीं योग रुचता है ?

सुनौ जोग को का लै कीजै जहाँ ज्यान है जी को।
खाटो मही नहीं रुचि माने 'सूर' खवैया घी को॥

जाओ जाओ, तुम्हारा योग ब्रज में किसी को नहीं चाहिये। सगुण को छोड़ कर निर्गुण को कौन भजेगा !

जोग ठगोरी ब्रज न बिकैहै।
यह ब्योपार तिहारो ऊधो ऐसोई फिरि जैहै॥

+ + +

दाख छाँड़ि कै कटुक निंबोरी को अपने मुँह खैहै ?

+ + +

'सूरदास' प्रभु गुनहिं छाँड़ि कै को निरगुन निरबै है !

असली बात तो यह है कि हम इतनी मूर्ख नहीं हैं जो तुम्हारे बहकाने में आ जायँ—

अपनो दूध छाँड़ि को पीवै खार कूप को पानी॥

अच्छा तो इसी में है कि तुम जल्दी से चले जाओ और किसी धनी को अपना सौदा दिखलावो मुँह माँगा दाम मिलेगा। देर करने से घाटे की संभावना है। यहाँ ऐसी कौन है जो तुम्हारी बेमतलब की बातें सुने। एक तो हम अबला हैं इसलिये योग की अधिकारिणी ही नहीं हैं। दूसरे स्त्री भी हैं तो किसी उच्च खानदान की नहीं, मामूली अहीरिनें फिर भला हम योग को क्या खाक समझेंगी ?

अटपटि बात तिहारी ऊधो सुनै सो ऐसी को है।
हम अहीर अबला सठ मधुकर तिन्हैं जोग कैसे सोहै ॥

अच्छी बात है। तुम स्याम के सखा हो, भले ही आये हो तो हम ब्राह्मण के दिये हुए नारियल की तरह शिरोधार्य कर लेती हैं—

"जो तुम हमको लाए कृपा करि सिर चढ़ाय हम लीन्हें।" बात तो तुम बड़ी नागवार कहते हो। पर हम तुम्हारी बात को बुरा नहीं मानतीं। तुम स्वयं अरसिक हो, सो तुम रस की बातें समझो क्या?

तेरो बुरो न कोउ मानै।
रसकी बात मधुप नीरस सुनु रसिक होत सो जानै ॥

गोपियाँ कहती हैं कि हमारी आँखें तो केवल हरिदर्शन की भूखी हैं। इस योग ज्ञान को लेकर क्या चाटें? तुम्हारी रूखी बातें तो हमें जरा नहीं रुचतीं। रोज एकटक कृष्ण के मार्ग की प्रतीक्षा करते हुए आज तक हमारी आँखों को जरा भी थकावट नहीं मालूम हुई। हम कृष्ण के आने की आशा में दुःख को कुछ भी नहीं गिनती थीं। पर अब तो तुम्हारी इस योग-कथा को सुनते ही हमारी आँखें पिराने लगी हैं—

अँखियाँ हरिदर्शन की भूखी।
कैसे रहैं रूप रस राँची ये बतियाँ सुनि रूखी ॥
अवधि गनत इकटक मग जोवत तब एती नहिं झूँखी।
अब इन जोग संदेसन ऊधो अति अकुलानी दूखी ॥

ऊधो अपना कहना नहीं छोड़ते। बार बार योग योग, निर्गुण निर्गुण चिल्लाते रहते हैं, तो गोपियाँ भी झल्ला उठती हैं।

" चुप भी रहो, बक बक न किये जाओ। सभी स्वार्थी हैं। तुमको देख लिया, उनको पहिचान लिया। और भी क्या कोई संदेशा भेजा था या केवल योग ही योग? तुम्हारी अक्ल की बलिहारी है, युवतियों को योग सिखाते फिरते हो। जरा जाकर के पूछो तो " जब रास खेलाते थे तब यह योग ज्ञान किस कोने में छिपा पड़ा था "—

अपने स्वारथ को सब कोऊ।
चुप करि रहौ, मधुप रस लंपट! तुम देखे अरु वोऊ ॥

औरौ कछू सँदेस कहन को कहि पठयो किन सोऊ ।
लीन्हें फिरत जोग जुवतिन को बड़े सयाने दोऊ ॥
तब तक मोहन रास खिलाई जो पै ज्ञान हुतो ऊ ।

हमें तो योग सिखाते हैं, विरक्त होने का उपदेश देते हैं और आप स्वयं कुब्जा को पटरानो बनाकर मौज कर रहे हैं। पर क्या किया जाय, आखिर भाग्य ही तो है, नहीं तो क्या हम तो विरह में तड़पतीं और वह दासी सौभाग्यवती बनती ?

ऊधो जाके माथे भाग ।
कुबिजा को पटरानी कीन्हीं, हमहिं देत बैराग ॥
तलफत फिरत सकल ब्रजबनिता चेरी चपरि सोहाग ।
बन्यो बनायो संग सखी री ! वै रे हंस वै काग ॥

इसमें 'ब्रजवनिता' और 'चेरी' शब्द बड़े कमाल के हैं। जहाँ 'ब्रज-वनिता' शब्द से सुन्दरता और सुकुमारता का भाव व्यक्त होता है और कुलीनता भी प्रकट होती है वहाँ इसके ठीक विपरीत 'चेरी' शब्द से भोंड़ापन, रूखापन और तुच्छता साफ जाहिर होती है। यही नहीं वे कहती हैं, हमें तो बड़ा आश्चर्य मालूम होता है कि—

"लौंड़ी के घर डौंड़ी बाजी स्याम रँगे अनुराग ?"

यहाँ भी 'लौंड़ी' और 'स्याम' शब्दों में उपयुक्त चमत्कार विद्यमान है। गोपियाँ कहती हैं कि हमें तो हँसी आती है, चेरी कमलनयन के साथ बारहों महीने होली खेलती है और आप हमारी प्रेम बाटिका को उजाड़ कर योग की वेलि लगाने आये हैं।

हाँसी, कमलनयन सँग खेलति बारहमासी फाग ॥
जोग की वेलि लगावन आये काटि प्रेम को बाग ।
'सूरदास' प्रभु ऊख छाँड़ि कै चतुर चिचोरत आग ॥

उसी कुब्जा पर व्यंग्य छोड़ते हुए ऊधो को भी बनाना शुरू कर देती हैं। ऊधो, मालूम पड़ता है तुम किसी अच्छी साइत से नहीं चले। मुक्ति को तुम बड़े सस्ते दामों में बेचने लग गये। पर यहाँ इसकी ज़रूरत नहीं है। या तो इसको वहीं कुब्जा के ही पास ले जाओ अथवा न हो तो

कहीं और जगह ले जाओ। अपने सिर पर योग की गठरी लादे कहाँ घर घर फिरोगे? हम सब सखियों ने तो एकमत से अपनी 'मीटिंग' में यह प्रस्ताव पास कर लिया है कि तुम्हारे माल का बहिष्कार कर दिया जाय।

मुकुति आनि मंदें में मेली।
समुझि सगुन लै चले न ऊधो! या सब तुम्हरे पूँजि अकेली।
कै लै जाहु अनत ही बेंचन कै लै जाहु जहाँ विष बेली॥
वाहि लागि को मरै हमारे वृन्दाबन पाँयन तर पेली।
'सूर' यहाँ गिरिधर न छबीलो जिनकी भुजा अंस गहि मेली॥

कभी उनको उद्धव की दशा पर दया आ जाती है, और उन पर सहानुभूति प्रकट करती हुई कहती हैं—ऊधो ब्रज में बार बार योग का संदेशा लाते लाते तुम्हारे पैर थक गये होंगे। पर क्या किया जाय लाचारी है। तुम्हारी इस निर्गुण की कथा को सुने कौन? हम जिस सगुण की उपासना करती हैं वह तो सर्वत्र प्रत्यक्ष हो रहा है, पर अपने निर्गुण के सूक्ष्म विवेचना द्वारा तुम उसका निषेध करना चाहते हो। यह तो ठीक ऐसा ही है जैसे तिनके की ओट में पहाड़ छिपाना, पहाड़ भी साधारण नहीं सुमेरु पर्वत, जो छिप नहीं सकता—

जोग संदेसो ब्रज में लावत।
थाके चरन तिहारे ऊधो, बार बार के धावत॥
सुनिहै कथा कौन निर्गुण की रचि रचि बात बनावत।
सगुन सुमेरु प्रकट देखियत तुम तृन को ओट दुरावत॥

परमात्मा तक पहुँचने के लिये दोनों मार्ग हैं, ज्ञान मार्ग भी और भक्तिमार्ग भी, निर्गुणोपासना भी और सगुणोपासना भी। पर जैसा हम पूर्व में कह चुके हैं ज्ञानमार्ग में अनेक विघ्न-बाधाएँ आ पड़ती हैं। प्रेममार्ग एक सीधी सड़क है। यह राजमार्ग है जिसमें पथिकों को सभी प्रकार की सुविधाएँ सुलभ हैं। इसलिये गोपियाँ कहती हैं कि हमें तो अपना सीधा राजमार्ग ही अच्छा लगता है। हम प्रेम के द्वारा ही ईश्वर तक पहुँचना चाहती हैं। अगर तुम्हें निर्गुण की ही उपासना रुचती है

तो करते क्यों नहीं ? हम तुम्हें तो रोकती नहीं। फिर तुम क्यों निर्गुण का पचड़ा लेकर हमारे मार्ग में बाधक हो रहे हो—

काहे को रोकत मारग सूधो ?
सुनहु मधुप निरगुन कंटक तें राजपंथ क्यों रूँधो ?

हमें तो यही मालूम पड़ता है कि तुम्हें अपनी अक्ल तो कुछ है नहीं, दूसरे के सिखाने पढ़ाने से यहाँ आये हो। अगर तुम में कुछ भी निज की बुद्धि होती तो क्या यह न विचार लेते कि युवतियों को भी कहीं योग विहित है ? जरा खोजो तो वेद पुरान, स्मृति आदि को—

कै तुम सिखे पठाए कुब्जा कही स्यामघन जू घौं।
वेद पुरान स्मृति सब ढूँढ़ो जुवतिन जोग कहूँ घौं॥

हम तो भाई इस मार्ग से हटने की नहीं। हम उनमें से नहीं हैं जो बार बार गिरगिट के से रंग बदलते हैं, आज एक से प्रेम किया तो कल उसे छोड़ झट दूसरे से प्रेम करने लगे। हम किसी ऐसे वैसे गुरु की चेलियाँ नहीं हैं, साक्षात् प्रेम की मूर्ति कृष्ण ने ही हमको प्रेम का पाठ पढ़ाया है। दूसरे हमने किसी ऐरे-गैरे से तो प्रेम किया नहीं है जो उसे छोड़ किसी दूसरे से मन लगावें। इसलिये तुम्हारा योग समीर हमारे दृढ़ निश्चय को डिगा नहीं सकता।

मधुकर हम न होंहि वे बेली।
जिनको तुम तजि भजन प्रीति बिनु करत कुसुम रस केली॥
बारे ते बल बीर बढ़ाई पोसी प्यायी पानी।
बिन पिय परस प्रात उठि फूलत होत सदा हित हानी॥
ये बल्ली विहरत वृन्दावन अरुझीं स्याम तमालहिं।
प्रेम पुष्प रस बास हमारे बिलसत मधुर गोपालहिं॥
जोग समीर धीर नहिं डोलत रूप डार ढिग लागीं।
'सूर' पराग न तजत हिये तें कमल नयन अनुरागी॥

ऊधो का बकवाद बन्द नहीं होता। वे सिर पैर की बातें सुनते सुनते जब गोपियाँ झुँझला उठती हैं तब खूब जली कटी सुनाने लगती हैं—

जाय कहो बूझी कुसलात।
जाके ज्ञान न होय सो मानै मधुप तिहारी बात॥
कारो नाम, रूप पुनि कारो संग सखा सब गात।
जो पै भले होत कहुँ कारे तौ कत बदलि सुता लै जात॥

"जाओ, जाओ, कृष्ण से कह दो कि हम कुशल पूछ आये। हमारे साथ माथा खपाने की जरूरत नहीं। नहीं चाहिये हमको तुम्हारा उपदेश, जो कोई अनाड़ी हो उसे अपना ज्ञान सिखाओ, वह तुम्हारी बातें मान लेगा। हम काफी समझदार हैं, तुम्हारे समझाने की जरूरत नहीं। इतना ही नहीं, वे कृष्ण को, कृष्ण के सखा को मीठी गालियाँ सुनाने से भी नहीं चूकतीं। कहती हैं—'काले कलुटे भी कहीं अच्छे होते हैं! नाम काला (कृष्ण) और रूप भी काला (श्याम)। अपने ही काले होते तो कुछ कमी रह जाती। परमात्मा की कृपा से अक्रूर, उद्धव आदि सखा भी सर्वाङ्ग काले ही निकले। फिर जहाँ इतने काले ही काले नजर आवैं वहाँ भले की आशा किसे हो सकती है? काले अगर भले ही होते तो बसुदेव 'कृष्ण' के बदले 'लड़की' बदलते ही क्यों"?

कुब्जा कृष्ण की चहेती है यह जान कर स्त्रीस्वभाव-सुलभ असूया वृत्ति उन पर अपना अधिकार कर लेती है, और वह कुब्जा पर कटाक्ष करने से भी नहीं चूकतीं—

हमको जोग, भोग, कुब्जा को काके हिये समात।
'सूरदास' से एसो पीति कै, पाले जिन्ह तेही पछितात॥

कृष्ण के ऊपर क्या ही सुन्दर व्यंग बाण छोड़ा है। जिन्होंने पाल पोस कर बड़ा किया वे नंद यशोदा, और जिन्होंने पतिवत् उनकी सेवा की वे तो पछिता रहे हैं, पर वसुदेव देवकी और कुब्जा मुफ्त में लाभ उठा रही हैं। यह भला किसको ठीक जँचेगा? अन्त में एकदम ऊधो के ज्ञानोपदेश से ऊब कर गोपियाँ कह ही तो देती हैं—

जा जा रे भौंरे! दूर दूर।
रंग रूप अरु एकहि मूरत मेरो मन कियो चूर चूर॥

जौलौं गरज निकट रहे तौलौं, काज सरे रहै दूर दूर।
'सूर' स्याम अपनी गरजन को कलियन रस लै घूर घूर ॥

इस पद से गोपियों की कितनी खीझ प्रकट होती है। बात भी ठीक ही है, इस संसार में सभी व्यवहार मतलब के ही होते हैं।

ऊधो की सभी युक्तियाँ गोपियों के अकाट्य तर्कों के सामने व्यर्थ चली गईं। उनके प्रेम के प्रवाह में वे बह गये। आये थे ज्ञान सिखाने। सो ज्ञान-वान तो सब भूल गये, और प्रेम की शिक्षा पा गये। निर्गुण की नीरसता और सगुण की सरसता स्वीकार करनी ही पड़ी—

फिर भईं मगन बिरह सागर में काहुहि सुधि न रही।
पूरन प्रेम देखि गोपिन को मधुकर मौन गही ॥

अब प्रेम-विह्वल ऊधो की दशा का चित्र भी देखिये। आये थे प्रवाह रोकने को पर खुद उसमें बह गये, और साथ में योग और निर्गुण को भी ले डूबे।

सुनि गोपिन को प्रेम नेम ऊधो को भूल्यो।
गावत गुन गोपाल फिरत कुंजनि में फूल्यो ॥
छन गोपिन के पग धरै धन्य तिहारो नेम।
धाय धाय द्रुम भेटहीं, हो, ऊधो छाके प्रेम ॥
धनि गोपी, धनि गोप, धन्य सुरभी बनचारी।
धन्य धन्य सो भूमि जहाँ विहरे बनवारी ॥
उपदेसन आयो हुतो मोहिं भयो उपदेस।
ऊधो जदुपति पै गये, हो, किये गोप को भेस ॥

ऊधो ने गोप का भेष धारण कर लिया, और यदुपति आदि राजसी नामों को छोड़ कर प्रिय नाम 'गोपल' गोसाईं, आदि कहने लगे, वहाँ जाकर ब्रज की दशा तो क्या कहते, आँखों से प्रेमाश्रु बह चले, वाणीगद्गद हो गई। " एक बार ब्रज जाहु देहु गोपिन दिखराय। गोकुल को सुख छाँड़ि कै कहाँ बसे हो आय।" इतना कह कर पैरों पर गिर पड़े। कृष्णजी की इच्छा पूर्ण हो गई। भक्त का ज्ञानगर्व चूर हो गया। ऊधो प्रेम की महत्ता जान गये। स्वयं श्रीकृष्ण भी प्रेम से गद्गद हो गये। परन्तु अपनी

सहज विनोदी प्रकृति से कहते हैं—" कहो गोपियों को योग सिखा आये न ?"

'सूर' स्याम भूतल गिरे, रहे नयन जल छाय।
पोंछि पीत पट सों कह्यो, " आये जोग सिखाय ?"

ऊधो इस व्यंग्य का क्या उत्तर देते। मौन रहने के सिवाय और उपाय ही क्या, था ? यही भ्रमर-गीत का सारांश है।

(तुलनात्मक)

अब हम समालोचना के उस पहलू पर आते हैं जिनको हम 'तुलनात्मक आलोचना' कहते हैं। कवि का ज्ञान और अनुभव कहाँ तक पहुँचा हुआ है, कवि वास्तव में सुकवि या महाकवि है या नहीं, इन बातों को, हम उसको साहित्यिक आलोचना की कसौटी में कस कर जान सकते हैं। किन्तु इससे यह निर्णय नहीं किया जा सकता कि वह कवि किस कोटि का है, अपने समकक्ष कवियों में उसका कौन सा स्थान है। इसलिये समालोच्य कवि को समक्षेत्र के समश्रेणी के अन्य कवियों के साथ साहित्यिक तुला में तौलने की आवश्यकता पड़ती है। बिना दो कवियों की तुलना किये हम यह जान नहीं सकते कि कौन कवि श्रेष्ठ है, अपने क्षेत्र में किसने औरों की अपेक्षा अधिक सफलता पाई है। प्रत्येक कवि की प्रत्येक कवि से तुलना नहीं की जा सकती, क्योंकि कवियों के कार्य-क्षेत्र भिन्न भिन्न होते हैं। पर एक ही क्षेत्र के, एक ही विषय के, दो कवियों की तुलना की जा सकती है, और यह समीचीन भी है। आज-कल के आलोचकों का दो कवियों की तुलना करने की झक सी सवार हो गई है। इस बात का विचार करने का कष्ट कोई नहीं उठाता कि वास्तव में वे दो कवि एक ही तुला में तौलने योग्य हैं या नहीं। जो भी हाथ आया झट से उसके छन्द ढूँढ़ ढूँढ़ कर लगे दूसरे के से मिलाने। बस हो गई तुलना। पर ऐसा करना नितान्त अनुचित है, कारण भी स्पष्ट ही है। सोना चाँदी और लोहा ताँबा एक ही तुला में नहीं तोले जा सकते।

प्रायः यह देखने में आता है कि कवियों के भाव एक दूसरे से मिल जाते हैं; कभी कभी तो यह घनिष्ठता यहाँ तक बढ़ जाती है कि शब्दावली भी एक सी हो जाती है। इसको हम 'भावसाम्य कहते हैं। इस भाव साम्य के तीन मुख्य कारण हैं। प्रथम कारण आकस्मिक है किसी एक विषय पर विचार करते करते दो कवियों को प्रायः एकही भाव सूझ जाता है। इसका प्रमाण यह है कि कभी विदेशी कवियों से भी—जिन्होंने कभी एक दूसरे के साहित्य को देखा ही नहीं, और यहाँ तक कि जिनके लिये एक दूसरे की भाषा तक जानना संभव नहीं, भाव-समता दिखाई देती हैं। यही नहीं हम दैनिक व्यवहार की बातों में प्रायः देखते हैं कि एक दूसरे के भाव लड़ जाते हैं। अतः इस भावसाम्य को हम भावापहरण या भावों की चोरी नहीं कह सकते। भिन्न भिन्न हृदयों से एक ही प्रकार का भावोत्थान मानव-प्रवृत्ति का अनिवार्य नियम है। दूसरा कारण है एक ही आधार। जब दो कवि अपने पूर्ववर्ती कवि के किसी सुन्दर भाव को अपनाने का प्रयत्न करते हैं तब भी भावसाम्य हो जाता है। हिन्दी के बड़े बड़े कवियों ने संस्कृत के सुन्दर भावोंके आधार पर कविता की है। इसका प्रयोजन यह नहीं कि उन्होंने उसका ही अनुवाद कर डाला है। अनुवाद अनुवाद ही है। उसको भावसाम्य कहना ठीक नहीं। अच्छे कवि जब किसी के भाव को अपनाते हैं तब उसको अपने व्यक्तिगत के आवरण से आच्छादित कर देते हैं। उसको एक ऐसा रूप दे देते हैं जो पूर्ववर्ती कवि से सर्वथा भिन्न हो जाता है, और उसमें चमत्कार भी बढ़ जाता है। यह बात अपनाने की खूबी पर निर्भर है। इसे भी हम भावापहरण नहीं कह सकते, यदि इसे दोष मान लें तो कोई भी महाकवि इस दोष से मुक्त नहीं हो सकता। इसीलिये संस्कृत के कवियों ने कहा है "बाणोच्छिष्टमिदं जगत्।" पूर्ववर्ती कवियों को जो कहना था सो सब कह चुके हैं, अब नये कवि कहाँ तक नूतन भाव सोच सकते हैं। वास्तविक बात तो यह है कि कवि कुछ तो अपनी ओर से कहता है और कुछ पूर्ववर्ती कवियों से लेकर उनको अपने साँचे में ढाल देता है, उनमें नूतनता और

विशेषता लाता है। ज्यों का त्यों नहीं रख देता। हिन्दी के महाकवि सूरदास और तुलसीजी ने भी संस्कृत के काव्यों और पुराणों का आधार कई स्थलों पर लिया है, इस कारण इन दोनों में भी भाव-सादृश्य हो गया है। इस बात पर इन्हें भावापहरण का लांछन लगाना समुचित नहीं। एक तीसरे प्रकार का भी भाव-सदृश्य होता है। बहुत से कवि अपने पूर्ववर्ती कवियों के भावों को बिना किसी परिवर्तन के ले लेते हैं। ले क्या लेते हैं केवल शब्द बदल देते हैं, पर इसमें नई खूबी आना तो दूर रहा, शब्दों के परिवर्तन से चमत्कार और भी नष्ट हो जाता है। चोरी साफ जाहिर हो जाती है। इसे हम भाव सादृश्य न कह कर भावापहरण या भावों की चोरी ही कहेंगे। यह भयंकर अपराध है, और सर्वथा हेय है।

इन सिद्धान्तों को दृष्टिकोण में रखकर जब हम सूरदासजी की 'तुलनात्मक' आलोचना में आते हैं तो हमें हिन्दी में तो कोई कवि ही नहीं मिलता जो उनकी श्रेणी का हो। अगर कोई सूरदासजी की समता कर सकता है तो केवल 'तुलसी' पर इन दोनों के भी क्षेत्र भिन्न भिन्न हैं। तुलसी का क्षेत्र बहुत व्यापक और विस्तृत है और सूर का एक देशीय। अतएव प्रत्येक बात में तो तुलना कर नहीं सकते, किन्तु जो विषय दोनों की काव्य परिधि के अन्दर आते हैं उनमें भावसाम्य दिखलाने का प्रयत्न किया जायगा, इस तुलना में इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि सूर और तुलसी प्रायः समकालीन थे। सूर तुलसी से कुछ पूर्ववर्ती थे। अतएव इन दोनों का भाव-सादृश्य भावापहरण नहीं है किन्तु प्रथम या द्वितीय प्रकार के भाव-साम्य हैं। सूरदास ने तो श्रीमद्भागवत का अनुवाद ही सा किया है, तुलसी ने भी कई स्थलों पर उसका आधार लिया है जैसे 'वर्षा' और 'शरद्' ऋतु का वर्णन। दोनों कवि वैष्णव सम्प्रदाय के थे और दोनों ने अपने अपने इष्ट देव की 'विनय' में अनेक पद गाये हैं। अतः यदि इन दोनों में भावसाम्य हो गया हो तो कोई आश्चर्य नहीं। 'सूर' के पूर्ववर्ती कवियों में से, जिन्होंने गीतकाव्य लिखा है, केवल कबीरदास जी

ही ऐसे हैं जो उनसे मिलाये जा सकते हैं। पर इन दोनों का क्षेत्र भी विभिन्न है, 'सूर' सगुणोपासक थे तो 'कबीर' निर्गुणोपासक अतः दोनों की तुलना करना भी अनुचित ही है। हाँ कहीं भावसादृश्य आ ही गया है जो यथास्थान थोड़ा बहुत दिखलाया जायगा।

अब रहे परवर्ती कवि रहीम, केशव, बिहारी आदि महाकवि। पर सूरदासजी के साथ इनकी तुलना करना नितान्त असमीचीन है, हाँ भाव-साम्य अलबत्ता दिखाया जा सकता है। इन परवर्ती कवियों ने 'सूर' के भावों को लेकर अपनाया है, और अपने साँचे में ढाल लिया है। अस्तु, हम पहिले समासतः 'सूर और तुलसी' की तुलना करने का प्रयत्न करेंगे, तत्पश्चात् इन दोनों में तथा अन्य कवियों के भी भाव-सादृश्य दिखलायेंगे।

(सूर-तुलसी)

संस्कृत-साहित्य में जो स्थान आदिकवि वाल्मीकि एवं महर्षि द्वैपायन व्यास का है वही स्थान हिन्दी-साहित्य में गोस्वामी तुलसीदासजी तथा महात्मा सूरदासजी का है, ये कविद्वय (हिन्दी-साहित्य के जन्मदाता कहिये अथवा परिपोषक) अपूर्व रत्न के समान हैं जिनकी दमकती हुई कान्ति से 'हिन्दी-साहित्य' का चेहरा भारत में भी दीप्तिमान् हो रहा है। अभी तक हिन्दी साहित्य में इन दोनों का सानी पैदा ही नहीं हुआ जिससे इनका साम्य किया जा सके। अतः हठात् मुख से यही निकल पड़ता है कि इसके समान ये ही हैं। इन दोनों की समता भी परस्पर नहीं की जा सकती, न 'सूर' ही तुलसी हो सकते हैं, न 'तुलसी' ही 'सूर'। तुलसीदासजी ने प्रबन्ध काव्य लिखा है, पर सूरदासजी का कोई प्रबन्ध काव्य है ऐसा नहीं सुना गया। अतएव इस विषय में इनका मिलान करना ठीक नहीं, हाँ गीतकाव्य दोनों महाशयों ने लिखा है। विशेषतः सूरदासजी और तुलसीजी दोनों ने ही विनय संबंधी पद लिखे हैं। हम 'तुलसी' कृत 'विनयपत्रिका' और सूरदास' जी के विनय संबंधी पदों की विस्तृत तुलनात्मक आलोचना

अपनी 'विनय-पत्रिका' की भूमिका में कर रहे हैं। अतः यहाँ पर उसका दिग्दर्शन मात्र करा देना ही अलम् होगा, देखिये:—

(१) अब हौं नाच्यो बहुत गोपाल।
काम क्रोध के पहिर चोलना, कंठ विषय की माल॥
(सूर)

+ + +

नाचत ही निसि दिवस मर्यो।
तब ते न भयो हरि थिर जबतें जिव नाम पर्यो॥
बहु बासना बिबिध कंचुक भूषन लोभादि भर्यो।
चर अरु अचर गगन जल में, कौन स्वाँग न कर्यो॥
(तुलसी)

'सूर' ने मायिक जीव के नाचने के सब साज-बाज गिना दिये हैं; और इनका कथन नरयोनिक तक ही सीमित है, किन्तु तुलसी ने साजबाज का वर्णन संक्षेप में कर दिया है, पर उनका कथन 'जीव' की सभी योनियों के लिये लागू है।

(२) ऐसेहि बसिये ब्रज की बीथिन।
साधुन के पनवारे चुनि-चुनि उदर जु भरिये सीतनि॥
(सूर)

जूठनि को लालची चहौं न दूध मह्यो हौं॥

दोनों महात्मा परमात्मा से किसी प्रकार ऐश्वर्य नहीं माँगते 'तुलसी' भगवान का ही प्रसाद चाहते हैं। पर 'सूर' उनसे भी नम्रता दिखाते हैं। वे कहते हैं हमें आपके भक्तों की जूठन ही काफी है।

(३) संतत भगत मीत हितकारी स्याम बिदुर के आये।
प्रेम बिकल बिदुराइन अरपति कदली छिलका खाये॥
(सूर)

बायो दियो बिभव कुरुपति को भोजन जाइ बिदुर घर कीन्हों॥
(तुलसी)

दोनों के कथन का यही तात्पर्य है कि भगवान आडम्बरपूर्ण दिखावटी प्रेम को नहीं चाहते। आन्तरिक श्रद्धा और भक्ति से दिये हुए

'पत्रं पुष्पं फल तोयं' उनको भक्तिहीन के दिये हुये राजभोग की अपेक्षा कहीं अधिक रुचते हैं।

(४) चरन कमल बंदौं हरिराई।
जाकी कृपा पंगु गिरि लंघै अंधे कूं सब कछु दरसाई॥
बहिरो सुनै मूक पुनि बोलै रंक चले सिर छत्र धराई।
'सूरदास' स्वामी करुनामय बार बार बंदौं तेहि पाई॥
(सूर)

मूक होहिं बाचाल, पंगु चढ़ैं गिरिबर गहन।
जासु कृपा सु दयाल, द्रवौ सकल कलिमलदहन॥
(तुलसी)

ये दोनों छन्द संस्कृत के एक श्लोक* के आधार पर बने हैं। तुलसीदासजी का सोरठा ठीक उसी से मिलता जुलता है। पर 'सूर' का पद बड़ा है, इसलिये उन्होंने 'अंधे कूं सब कुछ दरसाई' 'बहिरो सुनै' और 'रंक चलै सिर छत्र धराई' ये बातें और भी जोड़ दी हैं। तात्पर्य दोनों का एक ही है।

(५) जाको मन मोहन अंग करै।
ताको केस खसै नहिं सिर तें जो जग बैर परै॥
(सूर)

जो पै कृपा रघुपति कृपालु की, बैर और के कहा सरै।
होइ न बाँको बार भगत को, जो कोउ कोटि उपाय करै॥†
(तुलसी)

---

* मूकं करोति वाचालं पंगुं लंघयते गिरिम्।
यत्कृपा तमहं वन्दे परमानन्द माधवम्॥

† जाको राखै साइयाँ मारि न सक्कै कोय।
बाल न बाँका करि सकै जो जग बैरी होय॥ (कबीर)
कहु रहीम का करि सकै, ज्वारी चोर लबार।
जो पति राखनहार है, माखन-चाखनहार॥ (रहीम)

दोनों के भाव ठीक-ठीक मिलते जुलते हैं। पद के अवशिष्ट अंशों में दृष्टान्त भी दोनों के प्रायः एक ही हैं।

(६) जापर दीनानाथ ढरे।

सोइ कुलीन बड़ो सुन्दर सोइ जिन पर कृपा करे॥ (सूर)

(अ)—महाराज रामादर्‌यो धन्य सोई।

गरुअ गुनराशि सर्वज्ञ सुकृती सुघर सीलनिधि साधु तेहि सम न कोई॥

(आ)—सोइ सुकृती सुचि साँचो जाहि राम तुम रीझे।

दोनों का कथन एक है।

(तुलसी)

(७) जिन तुम ना हरि भजन कियो।

सूकर कूकर खग मृग मानो यहि सुख कहा जियो॥ (सूर)

जोपै लगन राम सों नाहीं।

तौ नर खर कूकर सूकर सम वृथा जियत जग माहीं॥

(तुलसी)

भगवद्‌भक्ति विहीन पुरुष का जीवन दोनों महात्मा पशुजीवन से भी तुच्छतर मानते हैं।

(८) जो जग और बियो हौं पाऊँ।

तो यह बिनती बार बार की हौं कत गाइ सुनाऊँ॥ (सूर)

जो पै दूसरो कोउ होइ।

तौ हौं बारहिबार प्रभु कत दुख सुनावौं रोइ॥ (तुलसी)

दोनों ही अपने इष्टदेव के अतिरिक्त किसी दूसरे देवी-देवता के सामने हाथ नहीं फैलाते।

(९) जो पै राम नाम धन धरतो।

टरतौ नहीं जनम जनमान्तर कहा राज जम करतो॥
लेतो करि ब्योहार सबनि सों मूल गाँठ में परतो।
भजन प्रताप सदाई घृत मधु पावक परे न जरतो॥
सुमिरन गोन वेद विधि बैठो बिप्र-परोहन भरतो।
'सूर' चलत वैकुंठ पेलि कै बीच कौन जो अरतो॥ (सूर)

जो पै राम चरन रति होती।
तौ कत त्रिविध सूल निसिवासर सहते बिपति निसोती॥
जो श्रीपति महिमा विचार उर भजते भाव बढ़ाए।
तौ कत द्वार द्वार कूकर ज्यों फिरते पेट खलाए॥
(तुलसी)

भाव दोनों का एक है, पर कहने का ढंग अलग अलग है।

(१०) कहत बनाय दीप की बातैं कैसे हो तम नासत। (सूर)
निसि गृहमध्य दीप की बातन तम निवृत्त नहिं होई।
(तुलसी)

ठीक एक ही बात है, शब्द भी प्रायः एक से आये हैं।

(११) भगति कब करिहौ जनम सिरानो।
कोटि जतन कीने माया को तौउ न मूढ़ अघानो॥
बालापन खेलत ही खोयो तरुन भये गरबानो।
काम किरोध लोभ के बल रहि चेत्यो नाहि अयानो॥
वृद्ध भये कफ कंठ विरुध्यो सिर धुनि धुनि पछितानो।
'सूर' स्याम के नेक बिलोकत भवनिधि जाय तिरानो*॥
(सूर)

कछु ह्व न आय गयो जनम जाय।
अति दुरलभ तन पाई, कपट तजि भजे न राम मन बचन काय॥
लरिकाई बीती अचेत चित्त चंचलता चौगुनी चाय।
जोवन-जुर जुवती कुपथ्य करि, भयो त्रिदोष भरि मदन बाय॥
मध्य बैस धन हेतु गँवाई, कृषी बनिज नाना उपाय।
राम बिमुख सुख लह्यो न सपनेहुँ, निसिवासर तयो तिहुँ ताय॥
(तुलसी)

---

* इसी आशय का एक श्लोक चर्पट-पंजरिका में भी है—
बालस्तावत्क्रीडासक्तस्तरुणस्तावत्तरुणीरक्तः।
वृद्धस्तावच्चिन्तामग्नः पारे ब्रह्मणि कोपि न लग्नः॥
—श्रीमच्छंकराचार्य।

दोनों का कथन एक ही है, और कहने का ढंग भी प्रायः मिलता जुलता है।

(१२) माधो ! वे भुज कहाँ दुराये।
जिनहिं भुजनि गोवर्धन धारयो सुरपति गर्व नसाये॥
+ + +
तिहिं भुज की बलिजाय 'सूर' जिन तिनका तोरि दिखायें।
(सूर)

कबहुँ सो कर-सरोज रघुनायक धरिहौ नाथ, सीस मेरे।
जेहि कर अभय किये जन आरत, बारक बिबस नाम टेरे॥
+ + +
निसिवासर तिहि कर सरोज की, चाहत 'तुलसीदास' छाया।
(तुलसी)

अभिप्राय एक ही है। 'सूर' केवल उन भुजाओं की प्रशंसा करते हैं, पर 'तुलसी' 'तिहि कर सरोज की' छाया के भी अभिलाषी हैं।

(१३) (अ) मेरो मन अनत कहाँ सुख पावै।
जैसे उड़ि जहाज के पंछी फिरि जहाज पर आवै॥
(आ) अब मन भयो सिन्धु के खग ज्यों फिर फिर सरत जहाजन।
(इ) भटकि रह्यो बोहित के खग ज्यों............। (सूर)
जैसे काग जहाज के सूझत और न ठौर। (तुलसी)

दोनों का कथन, यहाँ तक कि शब्दावल तक, एक ही है।

(१४) जिन मधुकर अंबुज रस चाख्यो क्यों करील फल खावै।
'सूरदास' प्रभु कामधेनु तजि छेरी कौन दुहावै॥
(सूर)

(अ) ब्रह्मपियूष मधुर सीतल जो पै मन सो रस पावै।
तौ तक मृगजल रूप विषय कारन निसिवासर धावै॥
(आ) जो संतोष-सुधा निसिवासर सपनेहुँ कबहुँक पावै।
तौ कत विषय बिलोकि झूँठ जल मन-कुरंग ज्यों धावै॥
(तुलसी)

भाव एक ही है, पर ढंग अलग अलग है।

(१५) सबै दिन गये विषय के हेत ।
देखत ही आपुनपौ खोये। केस भये सब सेत ॥ (सूर)
जनम गयो बादहिं बर बीति ।
परमारथ पाले न पर्‌यो कछु अनुदिन अधिक अनीति* ॥
(तुलसी)

दोनों का तात्पर्य यही है कि समय को व्यर्थ न गँवाकर परमार्थ में लगाना चाहिये, और हरिभजन करना चाहिये। किन्तु कथनशैली में बहुत अन्तर है।

(१६) नील सेत पर पीत लालमनि लटकन भाल लुनाईं ।
सनि गुरु-असुर देवगुरु मिलि मनौ भौम सहित समुदाई ॥
(सूर)

भाल बिसाल ललित लटकन बर बालदसा के चिकुर सोहाये।
मनु दोउ गुरु सनि कुज आगे करि ससिहिं मिलन तम के गन आये ॥
(तुलसी)

दोनों उत्प्रेक्षायें बड़ी सुन्दर हैं, और कुछ हेर फेर से कही गई हैं। सूरदासजी ने 'सेत' के लिये 'असुरगुरु' का सहारा लिया है, पर तुलसीदासजी ने 'चन्द्र' को ही अपना उपमान बनाया है। दोनों ही का रंग साहित्य में सफेद माना गया है।

(१७) हरि जू की बाल छवि कहौं बरनि ।
सकल सुख की सींव कोटि मनोज शोभा हरनि ॥ (सूर)
\+ \+ \+
रघुबर बाल छवि कहौं बरनि ।
सकल सुख की सींव कोटि मनोज सोभा हरनि ॥ (तुलसी)
\+ \+ \+

---

* रात गँवाई सोय कर, दिवस गँवायो खाय ।
हीरा जनम अमोल था, कौड़ी बदले जाय ॥ (कबीर)

बड़े आश्चर्य की बात है कि सूरदासजी का 'बालकृष्ण' पद संख्या ३५ तुलसीदास की गीतावली बालकाण्ड पदसंख्या २४ हूबहू मिल जाता है। यहाँ तक कि शब्द भी ज्यों के त्यों वही हैं, हाँ कुछ चरणों के क्रम में उलट फेर हो गया है। तुलसी के चरण कुछ अधिक भी हैं। कह नहीं सकते कि माजरा क्या है। इसी प्रकार का एक उदाहरण और लीजिये—

(१८) आँगन खेलैं नँद के नंदा। जदुकुल कुमुद सुखद चारु चंदा ॥
संग संग बल मोहन सोहैं। सिसु भूषन सबको मन मोहैं ॥
तनु दुति मोरचंद जिमि झलकै। उमँगि उमंगि अँग अँग छवि छलकै ॥
(सूर)

\+ \+ \+

आँगन खेलत आनँदकंद। रघुकुल कुमुद सुखद चारु चंद ॥
सानुज भरत लषन सँग सोहैं। सिसु भूषन भूषित मन मोहैं ॥
तन दुति मोरचंद जिमि झलकै। मनहु उमँगि अँग अँग छवि छलकै ॥
(तुलसी)

\+ \+ \+

पहिला पद सूरदास का 'बालकृष्ण' पद संख्या २८ है, दूसरा तुलसी-गीतावली बालकाण्ड पद संख्या २७ है। अब आप मिलाइये दोनों में कितना साम्य है। सूर के उक्त दोनों पद तुलसी के दोनों पदों से अक्षर प्रत्यक्षर मिल गये हैं। नामों के कारण कुछ हेरफेर करना पड़ा है। इसका कारण क्या है सो निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता।

(१६) दूरि खेलन जान जाहु लला रे आयो है बन हाऊ।

\+ \+ \+

चारि वेद लै गयो संखासुर जल में रहे लुकाऊ।
मीन रूप धरि कै जब मारयो तबहि रहे कहाँ हाऊ ॥ (सूर)

\+ \+ \+

कोसलाधीस जगदीस जगदेकहित, अमित गुन बिपुल बिस्तार लीला ॥

\+ \+ \+

वारिचर वपुष धरि भक्त निस्तार पर धरनिकृत नाव महिमातिगुर्वी ।
सकल जग्यांशमय उग्र विग्रह कोड़, मर्दि दनुजेश उद्धरन उर्वी ॥
(तुलसी)

+ + +

सूरदासजी का बालकृष्ण पद ७१ और तुलसी विनय पत्रिका पद ५२ ये दोनों गीत गोविन्द के दशावतारी पद के आधार पर रचे गये जान पड़ते हैं। तुलसीदासजी ने दसों अवतारों का समावेश कर दिया है। पर 'सूर' ने केवल आठ का। उन्होंने 'कृष्णावतार' के पश्चात् के अवतार बुद्ध और कल्कि को छोड़ दिया है अपनी अपनी तो रुचि है *

(२०) 'सूरदास' यह समो गए तें पुनि कह लैहैं आय। (सूर)
समय चूकि पुनि का पछताने। (तुलसी)

(२१) कहत रसना सो सूर' विलोकत और। (सूर)
गिरा अनयन नयन बिनु बानी। (तुलसी)

दोनों कवियों का भाव तो एक ही है कि वाणी जो किसी का वर्णन कर सकती है देख नहीं सकती, और अगर नैन देखते हैं तो उनमें वर्णन करने की शक्ति ही नहीं, पर कहने का ढंग दोनों का निराला है; और एक से एक बढ़ कर चमत्कार पूर्ण है। इनमें से किसी भी एक को श्रेष्ठ कहना दूसरे पर अन्याय करना है।

(२२) देखिये हरि के चंचल नैन।
राजिवदल, इन्दीवर, सतदल, कमल कुसेसय जाति।
निसि मुद्रित, पातहिं वे विकसत ये विकसत दिन राति ॥
(सूर)

---

* संस्कृत का एक इसी आशय का श्लोक है जिसमें दसों अवतार आ गये हैं—

वेदानुद्धरते जगन्निवहते भूगोलमुद्बिभ्रते,
दैत्यान्दारयते बलिं छलयते क्षत्रक्षयं कुर्वते।
पौलस्त्याञ्जयते हलं कलयते कारुण्यमातन्वते,
म्लेच्छान्मूर्च्छयते दशाकृतिकृते कृष्णाय तुभ्यं नमः ॥

सिय मुख सरद कमल जिमि किमि कहि जाइ ।
निसि मलीन वह, निसि दिन यह बिगसाइ ॥ (तुलसी)

सूरदासजी आँखों के प्रसंग में कहते हैं। कमल कहने से उनको संतोष नहीं हुआ तो कमल की जातियाँ ही गिना गये। तुलसीदास जी मुख के ही विषय में कहते हैं। उनका कमल साधारण कमल नहीं वरन् शरद् ऋतु का है। आशय दोनों के कथानक का एक है।

(२३) एक नदिया एक नार कहावत मैलो नीर भरो।
जब मिलि कै दोउ एक बरन भए सुरसरि नाम परो ॥
एक जीव इक ब्रह्म कहावत 'सूरस्याम' झगरो। (सूर)

सुरसरि जल कृत बारुनि जाना, कबहूँ न संत करहिं तेहि पाना।
सुरसरि मिले सो पावन जैसे, ईस अनीसहिं अंतर तैसे ॥
(तुलसी)

(२४) जद्यपि मलय वृक्ष जड़ काटत कर कुठार पकरै।
तऊ सुभाय सुगन्ध सुसीतल रिपुतन ताप हरै ॥ (सूर)

संत असतन कै असि करनी। जिमि कुठारचंदन आचरनी।
काटइ परसु मलय सुनु भाई। निज गुन देइ सुगंध बसाई ॥
(तुलसी)

दोनों के भावों में कुछ भी अन्तर नहीं है। सूरदासजी का कथन है कि भक्त चाहे कितना ही कुटिल क्यों न हो भगवान उसके दुर्गुणों पर ध्यान न देकर उसका भला ही करते हैं। यही बात तुलसीदासजी संत असन्तों पर घटाते हैं।

(२५) काकी भूख गई मन लाडू सो देखेउ चित चेत। (सूर)
मन मोदकनि कि भूख बुताई। (तुलसी)

(२६) तुमह वचन अलि, यों लागत उर ज्यों जारे पर लोन। (सूर)
मनहुँ जरे पर लोन लगावति। (तुलसी)

(२७) चंद्र कोटि प्रकास मुख, अवतंस 'कोटिक भान'।
'कोटि मनमथ,' वारि छबि पर निरखि दीजत दान ॥

भृकुटि कोटि कुदंड रुचि अवलोकनी संधान।
कोटि वारिज बंक नयन कटाच्छ कोटिक बान ॥ (सूर)
राम-' काम-सत कोटि ' सुभग तन...... ।
... ... ' रवि सत कोटि ' प्रकास ॥
'ससि सत कोटि' सो सीतल समन सकल भव त्रास। आदि।
—तुलसी।

दोनों कवियों के विशेषणों पर ध्यान दीजिये। चन्द, भानु और काम ये शब्द दोनों के उपमान हैं और प्रायः एक वस्तु को सूचित करते हैं पर यदि सूर ने कोटि पर ही संतोष किया है तो तुलसी ' सत-कोटि ' में जाकर रुके हैं।

(२८) बिनही भीत चित्र किन काढ़्यो किन नभ बाँध्यो झोरी।—सूर।
सून्य भीत पर चित्र रँग नहिं तनु बिनु लिखा चितेरे।
—तुलसी।

(२६) ' तब तें इन सबहिन सचु पायो '।
जब तें हरि सन्देस तिहारो सुनत ताँवरो आयो ॥
फूले ' व्याल ' दुरे ते प्रगटे पवन पेट भरि खायो।
भूले 'मिरगा' चौंकचखन तें हुये जो बन बिसरायो ॥
ऊँचे बैठि बिहग सभा बिच 'कोकिल' मंगल गायो।
निकसि कदरा ते ' केहरि ' हू माथे पूँछ हिलायो ॥
गहवर तें 'गजराज' निकसि कै अँग अँग गर्व जनायो।
सूर बहुरिहौ कह राधा, कै करिहौ बैरिन भायो॥—सूर।

खंजन सुक कपोत ' मृग ' मीना। मधुप निकर ' कोकिला ' प्रवीना॥
कुन्दकली दाडिम दामिनी। कमल-सरद ससि अहि-भामिनी' ॥
बरुनपास मनोज धनु हंसा। ' गज केहरि ' निज सुनत प्रसंसा ॥
श्रीफल कनक कदलि हरषाहीं। नेकु न संक सकुच मन माहीं॥
सुनु जानकी तोहि बिनु आजू। हरषे सकल पाइ जनु राजू॥
किमि सहि जात अनख तोहि पाहीं। प्रिया बेगि प्रगटसि कह नाहीं॥
—तुलसी।

'कामा' से बन्द शब्दों पर ध्यान दीजिये। दोनों कवियों की रचना पृथक् पृथक होने पर भी कितना भाव-सादृश्य है।

(२०) अविगति गति कछु कहत न आवै।
ज्यौं गूँगेहि मीठे फल को रस अन्तरगत ही भावै॥ (सूर)
तेहि अवसर कर हरष विषादू। कवि किमि कहइ मूक जिमि स्वादू॥
(तुलसी)

इन उदाहरणों के अतिरिक्त 'तुलसी' और 'सूर' के बहुत से भाव प्रयोग और मुहावरे एक से मिलेंगे। विस्तारभय से हम यहाँ उनका उल्लेख नहीं करते। कुछ अन्य कवियों के भी भाव साम्य के उदाहरण दिखा कर हम इस लेख को समाप्त करेंगे।

(सूर और हिन्दी के अन्य कवि)

१—अवसर हारो रे तैं हारो।
मानुष जनम पाइ बौरे हरि को भजन बिसारो॥ (सूर)
जागु पियारी अब क्या सोवे, रैन गई दिन काहे को खोवै।
जिन जागा तिन मानिक पाया तैं बौरी सब सोय गँवाया॥
पिय-तेरे चतुर तू मूरख नारी, कबहूँ न पिय की सेज सँवारी।
मैं बौरी बौरापन कीन्हों, भर जोबन पिय आप न चीन्हों॥
जागु देख पिय सेज न तेरे, तोहि छाँड़ उठि गये सवेरे।
कह 'कबीर' सोई धन जागे, सब्द बान उर अन्तर लागे॥
(कबीर)

भाव दोनों का एक है। सूर ने 'नर' को ही संबोधन करके कहा है, पर कबीर परमात्मा को अपनी बुद्धि रूपी नायिका का पति मान कर इसी बात को बड़े सुन्दर चमत्कार पूर्ण ढंग से कहा है।

२—जो गिरिपति मसि घोरि उदधि में लै सुरतरु निज हाथ।
मम कृत दोष लिखैं बसुधा भरि तऊ नहीं मिति नाथ॥
(सूर)
सब धरती कागद करूँ, लेखनि सब बनराय।
सात समुद्र की मसि करूँ, गुरु गुन लिखा न जाय॥

३—जो कोउ पावै सीस दै ताको कीजै नेम।
मधुप हमारी सौं कहो, हो, जोग भलो किधौं प्रेम॥ (सूर)

(अ) प्रेम न बारी ऊपजे प्रेम न हाट बिकाय।
राजा प्रजा जेहि रुचै, सीस देइ लै जाय॥

(आ) यह तो घर है प्रेम का खाला का घर नाहिं।
सीस उतारै भुइं धरै तब पैठे घर माहिं॥ (कबीर)

४—जो कोउ कोटि जतन करै मधुकर बिरहि न और सोहाव।
'सूरदास' मीन को जल बिनु नाहिन और उपाव॥ (सूर)
सर सूखे पच्छी उड़ैं, औरै सरन समाहिं।
दीन मीन बिन पच्छ के, कहु 'रहीम' कहँ जाहिं॥ (रहीम)

५—दूर करहु बीना कर धरिबो।
मोहे मृग नाही रथ हाँक्यो नाहिन होत चंद को ढरिबो॥
(सूर)
गहै बीन मकु रैनि बिहाई। ससि बाहन तहँ रहे ओनाई।
पुनि धन सिंह उरेहै लागै। ऐसेहि बिथा रैनि सब जागै॥
(जायसी)

६—तुम कब मोसों पतित उधार्यो।
काहे को प्रभु बिरद बुलावत बिनु मसकत को तार्यो॥
गीध व्याध पूतना जो तारी तिन पर कहा निहारो।
+ + +
पतित जानि कै सब जन तारे रही न काहू खोट।
तौ जानौं जो मो कहँ तारो 'सूर' कूर कवि ढोट॥ (सूर)

(क) कौन भाँति रहिहै बिरद, अब देखिबी मुरारि।
बीधे मों सों आनि कै, गीधे गीधहिं तारि॥ १॥

(ख) बंधु भये का दीन के को तार्यो रघुराय।
तूठे तूठे फिरत हो झूठे बिरद बुलाय॥ २॥ (बिहारी)

७—प्रभु मेरे अवगुन चित न धरो।
समदरसी प्रभु नाम तिहारो अपने पनहिं करो॥

\+ \+ \+

अब की वेर मोहि पार उतारो नहिं पन जात टरो ॥ (सूर)
कीजै चित सोई तरौं, जिहि पतितन के साथ।
मेरे गुन औगुन गनन, गनौ न गोपीनाथ ॥ (विहारी)

(सूर और संस्कृत के कवि)

१—अब मैं जानी देह बुढानी।
सीस पाँय कर कह्यो न मानै तन की दशा सिरानी ॥
आन कहत आनै कहि आवत नैन नाक बहै पानी ॥
मिटि गइ चमक दमक अँग अँग की गई जु सुमति हिरानी ॥
नाहिं रही कछु सुधि तन मन की ह्वै गई बात विरानी ॥
'सूरदास' प्रभु अबहिं चेत लो भज ले सारगपानी ॥

(सूर)

अंगं गलितं पलितं मुण्डं, दशनविहीनं जातं तुण्डम्।
मार्गे याति गृहीत्वा दण्ड तदपि न मुञ्चत्याशापिण्डम् ॥
भज गोविन्दं, भज गोविन्दं, गोविन्द भज मूढमते।

(श्रीमच्छंकराचार्य)

२—ऐसी करत अनेक जनम गये मन संतोष न पायो।
दिन दिन अधिक दुराशा लागी सकल लोक फिरि आयो ॥

(सूर)

दिनमपि रजनी सायं प्रातः शिशिरवसन्तौ पुनरायातः।
कालः क्रीडति गच्छत्यायुस्तदपि न मुञ्चत्याशावायुः ॥१॥
पुनरपि रजनी पुनरपि दिवसः पुनरपि पक्षः पुनरपि मासः।
पुनरप्ययनं पुनरपि वर्षं तदपि न मुञ्चत्याशामर्षम् ॥२॥

(श्रीमच्छंकराचार्य)

३—कितक दिन हरि सुमिरन बिनु खोये।
पर निन्दा रस में रसना के अपने परत डुबोये ॥

तेल लगाइ कियो रुचि मर्दन वस्त्रहिं मलि मलि धोये ।
तिलक लगाइ चले स्वामी बनि विषयनि के मुख जोये ॥
काल बली ते सब जग कंपिन ब्रह्मादिक हू रोये ।
'सूर' अधम की कहौ कौन गति उदर भरे परि सोये ॥ (सूर)

जटिलो मुण्डी लुञ्चितकेशः, काषायांबर बहुकृतवेषः ।
पश्यन्नपि च न पश्यति मूढ़ः उदरनिमित्तं बहुकृतवेषः ॥
भज गोविन्दं भज गोविन्दं गोविन्दं भज मूढमते ।
प्राप्ते संन्निहिते मरणे नहि नहि रक्षति 'डुकृञ्करणे' ॥
(श्रीमच्छंकराचार्य)

४—क्यों तू गोविन्द नाम बिसरायो ।
अजहूँ चेति भजन करि हरि को काल फिरत सिर ऊपर भार्यो ॥
धन सुत दारा काम न आवै जिनहि लागि आपनपौ खोयो ।
'सूरदास' भगवन्त भजन बिनु चल्यो पछिताय नयन भरि रोयो ॥
(सूरदास)

यावद्वित्तोपार्जनसक्तस्तावन्निजपरिवारो रक्तः ।
पश्चाद्धावति जर्जरदेहे वार्त्तां पृच्छति कोपि न गेहे ॥ भज०
(श्रीमच्छंकराचार्य)

५—कागज धरनि करै द्रुम लेखनि जल सायर मसि घोर ।
लिखैं गनेस जनम भरि ममकृत तऊ दोष नहिं ओर ॥—सूर ।

असितगिरिसमं स्यात् कज्जलं सिंधुपात्रे ।
सुरतरुवरशाखा लेखनी पत्रमुर्वी ॥
लिखति यदि गृहीत्वा शारदा सर्वकालम् ।
तदपि तव गुणानामीश पारं न याति ॥ (श्रीपुष्पदंताचार्य)

६—हरि हरि हरि हरि सुमिरन करो, हरिचरनारविंद उर धरो ।
हरि की कथा होइ जब जहाँ, गंगा हू चलि आवै तहाँ ॥
जमुना सिंधु सुरसरी आवै, गोदावरी बिलंब न लावै ।
सब तीर्थन को बासा तहाँ, 'सूर' हरि-कथा होवै जहाँ ॥

तत्रैव गंगा यमुना च वेणी, गोदावरी सिंधुसरस्वती च ।
सर्वाणि तीर्थानि वसन्ति तत्र, यत्राच्युतोदारकथाप्रसंगः ॥

इनके अतिरिक्त हिन्दी साहित्य के अन्य कवियों तथा संस्कृत के कवियों से भी सूर का बहुत कुछ साम्य है। उक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि 'सूर' और 'तुलसी' के कथन, भाव और प्रयोग प्रायः एक से हैं। अपने पूर्ववर्त्ती अन्य कवियों से भी सूरदासजी के भाव लड़ गये हैं, पर उनकी रोचकता न्यारी है। परवर्त्ती कवियों में से तो केशव, बिहारी, सेनापति ऐसे उच्च कोटि के कवियों तक ने सूर के सैकड़ों सुन्दर भाव अपनाये हैं, औरों की बात ही क्या। हाँ कहीं-कहीं परवर्त्ती कवि बढ़ गये हैं, सो दूसरी बात है। साथ ही यह बात जान लेना भी आवश्यक होगा कि सूरदास जी की अधिकांश कविता का आधार संस्कृत है, और भागवत उनका मुख्य आधार है। अतः उससे मिलने और भावसाम्य दिखाने का अधिक उद्योग नहीं किया गया है।

सारांश यह कि 'साहित्यिक आलोचना' तथा 'तुलनात्मक आलोचना' रूपी कसौटी में कसने पर सूरदास खरे उतरते हैं। इससे यह स्पष्ट है कि 'सूर' एक "महाकवि" थे।

८—सूर का स्थान

किसी कवि का साहित्य में कौन सा स्थान है, यह निर्णय करना कोई आसान काम नहीं है। जब तक उस साहित्य के समस्त कवियों का पूर्ण रूप से अध्ययन एवं मनन न कर लिया जाय, तब तक तो ऐसा करना सिवाय अनधिकार चेष्टा के और क्या कहा जा सकता है। हम पहिले कह चुके हैं कि कवियों के क्षेत्र भिन्न-भिन्न होते हैं, इससे यह कार्य और भी कठिन हो जाता है। हाँ एक ही विषय के दो कवियों के विषय में हम इतना कह सकते हैं कि इन दोनों में से अमुक ने अधिक सफलता पाई है। किन्तु किसी साहित्य के सभी कवियों को एक ही तराजू में तोल कर उनका वज़न मालूम करना भारी भूल है। किसी एक कवि का स्थान निर्धारित करने में अन्यान्य कवियों के साथ घोर अन्याय हो जाता है। इस विचार से सहसा ऐसा कह देना कि अमुक कवि नवरत्नों

में से अमुक रत्न हैं, अमुक पंचरत्न का रत्न है, अमुक बृहत्त्रयी में से है, अमुक लघुत्रयी में से है, अमुक बड़ा है, अमुक छोटा है, आदि नितान्त असमीचीन है। कई लोगों ने ऐसा किया भी है, पर हमारी समझ में ऐसा करने से सेनापति, रहीम ऐसे उच्चकोटि के कवियों के साथ घोर अन्याय हुआ है। इनका नाम तक महाकवियों में नहीं लिया गया है। हम ऐसा किस बिरते पर कह सकते हैं कि बिहारी और देव में से अमुक बड़ा है और अमुक छोटा है! अथवा केशव का दर्जा दास और देव से पहिले या बाद को है इत्यादि कैसे भद्दे और ओछे विचार हैं। किसी कवि का स्थान निर्णय करते समय हमको यह नहीं चाहिये कि उसने कितना लिखा है। बल्कि यह देखना चाहिये कि उसने जो कुछ भी लिखा है वह कैसा लिखा है। न हम किसी कवि के समस्त साहित्य को ही दूसरे कवि के समस्त साहित्य से मिला सकते हैं, इस बात का विशेष ध्यान रखना चाहिये कि कवि की रुचि किस विषय से है। जिस प्रसंग से कवि को एकान्त प्रेम होगा उस विषय को वह खूब मन लगाकर लिखेगा, और वही उसका सर्वोत्तम काव्य (Master-piece) होगा। तब किसी एक कवि के सर्वोत्तम काव्य को उसी विषय के सर्वोत्तम काव्य से मिलाना उपयुक्त होगा। इस सिद्धान्त के अनुसार यदि हम 'सूर' के रामायण और 'तुलसी' के रामचरितमानस को लेकर 'सूर' का स्थान निश्चित करने बैठें तो महात्मा सूरदास जी के साथ महा अन्याय होगा। रामायण उनका सर्वोत्तम विषय (Master-piece) है ही नहीं, मन की तरंग के कारण उन्होंने वह भी लिख डाला होगा। कवि के सर्वोत्तम काव्य (Master-piece) में ही उसका रूप रहता है। सूर का जो रूप हम 'विनय' 'बालकृष्ण' और 'भ्रमरगीत' आदि में पाते हैं, वह सर्वत्र नहीं, इसी प्रकार 'पद्माकर' का 'रामरसायन' लेकर कोई 'तुलसी' से मिलाने लगे तो हम इसे प्रमाद के अतिरिक्त और क्या कह सकते हैं। अतएव सूर को तुलसी से एकदम बढ़कर मानने, या तुलसी को ही सूर से उच्च पदवी देने का हमें कोई अधिकार नहीं है। एवं प्रकारेण

जब हम आचार्य केशवदासजी की ओर देखते हैं तो यह कहना ही पड़ता है कि उनको महाकवि बिहारी या देव से मिलाना और उनके साथ आचार्य केशव का स्थान निर्धारित करना महा अज्ञानता है। और तो और तुलसी और सूर से भी हम केशव का मिलान नहीं कर सकते। उनका क्षेत्र इन सबसे भिन्न है, और उस क्षेत्र में ये अद्वितीय हैं। केशवदासजी आचार्य थे। अतएव उनकी और महाकवि बिहारी की तुलना कैसी। आचार्य केशव की तुलना आचार्य देव से की जा सकती है अवश्य, पर वहाँ आचार्य केशव का पलड़ा बहुत नीचे झुका हुआ जान पड़ता है। देव उनका सामना कर नहीं सकते। खेद है कि इस प्रकार की अनर्गल चेष्टाओं के कारण हिन्दी साहित्य में आज दिन बड़ी अंधाधुन्धी चल रही है, लोगों में भ्रम का अन्धकार दिन-दिन फैलता जा रहा है ; पर इसका प्रतीकार कोई नहीं।

सूर और तुलसी के विषय में भी यह विवाद बहुत दिनों से चला आ रहा है, पर अभी तक इस बात का निर्णय नहीं हो पाया कि कौन श्रेष्ठ है। हो भी तो कैसे ? जब कोई किसी से श्रेष्ठ या घट कर हो तब न ! किन्तु महात्मा तुलसीदासजी की व्यापकता को देखते हुए जब हम सूर को सामने लाते हैं तो 'तुलसी' का पलड़ा कुछ झुका हुआ नजर आता है। तुलसी ने सभी क्षेत्रों का मसाला भरा है, किसी को नहीं छोड़ा। साहित्यिक, सांगीतिक, सामाजिक, साम्प्रदायिक, राजनीतिक, दार्शनिक कोई भी क्षेत्र ऐसा न बचा जो 'तुलसी' की कृपा-कोर से वंचित रहा हो। तुलसी का लक्ष्य इतना संकुचित नहीं था कि वे कविता या संप्रदाय तक ही सीमित रहते। कवि का धर्म है कि वह अपने समय की सभी प्रकार की—साहित्यिक, सामाजिक, नैतिक आदि—विशृङ्खलताओं को दूर करे। तुलसी ने यही किया भी। इसके विपरीत सूर का हृदय एकान्त प्रेमी था। इसी कारण उन्होंने एक मात्र प्रेम का ही वर्णन किया। प्रेम के सभी अंगों का खूब विस्तृत वर्णन किया। यद्यपि दोनों महात्माओं और महाकवियों ने जो भी कविता की सब 'स्वान्तःसुखाय' की, किन्तु तुलसी' के स्वान्तःसुखाय ने सारे समाज को, मानव-समुदाय

से संबंध रखनेवाले प्रत्येक समाज को, बहुत लाभान्वित किया, सुख पहुँचाया; और सूर ने केवल काव्य को, सम्प्रदाय को तथा सहृदय रसिक समाज को ही आनन्दाम्बु से आप्लावित किया। परन्तु यह मानना पड़ेगा कि सूर ने प्रेम के जिन अंगों उपांगों का, अणु-परमाणु तक का दर्शन किया और कराया वह हिन्दी-संसार में ही नहीं संसार के साहित्य में भी नसीब नहीं है।

सुतराम् हिन्दी-साहित्य संसार में महात्मा सूरदासजी का स्थान निर्द्धारित करते हुए एक श्री गोस्वामी तुलसीदासजी ही ऐसे हैं जो उनसे दो-एक कदम आगे बढ़े हुए दिखाई देते हैं। अन्य कोई भी कवि ऐसा नहीं है जो किसी भी सिद्धान्त को दृष्टिकोण में रख कर 'सूर' पर विजय प्राप्त कर सके।

सूरदासजी भक्ति-काव्य और गीतकाव्य के महाकवि हैं। भगवद्भजन का सुलभ मार्ग, और गाने के लिये ललित कोमल कान्त पदावली जो चाहिये सो 'सूर' के काव्य में मिल सकता है। प्रेम की सच्ची अभिव्यक्ति बालविनोद का मधुर आनन्द, माता के वात्सल्य का सच्चा अनुभव, दाम्पत्य प्रेम का अपूर्व सुख, एवं इन्हीं सब के द्वारा भगवत्प्राप्ति का सर्व सुलभ उपाय, यदि आपको अभीष्ट हो तो आपको इसके लिये कहीं दूर न भटकना पड़ेगा। बस अब हम अपने समस्त अनुभव और परिश्रम का फल सूत्र रूप में बता देना चाहते हैं—

"यदि आप अलौकिक एवं अविरल आनन्द का अनुभव करना चाहते हैं, तो महात्मा सूरदासजी के पदों को पढ़ कर स्वयं भी काव्यानंद लूटिये और अपने कलकंठ से गाकर औरों को भी अपना सहभागी बनाइये।"

किसी कवि ने महात्मा सूरदासजी के पदों की मनोमोहकता के बारे में क्या ही सुन्दर उक्ति कही है—

"किधौं सूर को सर लग्यो, किधौं सूर की पीर।
किधौं 'सूर' को पद लग्यो, रहि रहि धुनत सरीर॥"

आनृक्षितीया }
सं० १६८४ वि० }

'दीन'
'मोहन'

पहला रत्न

—:o:—

(विनय)

१—राग टोड़ी

अजहूँ सावधान किन होहि ।
माया विषय भुजगिनि कौ विष उतरयो नाहिन तोहि ॥
कृष्ण सुमन्त्र सुद्ध बनमूरी जिहि जन मरत जिवायो ।
बार बार स्रवनन समीप होइ गुरु गारुड़ी सुनायो ॥
जाग्यो, मोह मैर मति छूटी, सुजस गीत के गाए ।
'सूर' गई अज्ञान मूरछा ज्ञान सुभेषज खाये ॥

२—राग सारंग

अपनी भक्ति दे भगवान ।
कोटि लालच जो दिखावहु नाहिनै रुचि आन ॥

---

(१) बनमूरी—जड़ी (विषमारक जड़ी) । गारुड़ी—मंत्र से सर्प-विष उतारनेवाला । जाग्यो—चैतन्य हो गया । मैर—लहर (जो सर्प दंशित जन को आती है) । मोह मैर मति छूटी—मोह की लहर से मति छूट गई, बुद्धि का मोह जाता रहा । भेषज—दवा । (२) नाहिनै—नहीं है ।

जरत ज्वाला, गिरत गिरि ते, स्वकर काटत सीस।
देखि साहस सकुच मानत राखि सकत न ईस॥
कामना करि कोपि कबहूँ करत कर पसु घात।
सिंह सावक जात गृह तजि, इन्द्र अधिक डरात॥
जा दिना तें जनमु पायो यहै मेरी रीति।
विषय विष हठि खात नाहीं डरत करत अनीति॥
थके किंकर जूथ जम के टारे टरत न नेक।
नरक कूपनि जाइ जमपुर परयो बार अनेक॥
महा माचल मारिबे की सकुच नाहिन मोहिं।
परयों हौं पन किये द्वारे लाज पन की तोहिं॥
नाहिने काँचो कृपानिधि करौ कहा रिसाइ।
'सूर' कबहूँ न द्वार छाँड़ै डारिहौ कढ़राइ॥

३—राग धनाश्री

अपने को को न आदर देय?
ज्यों बालक अपराध कोटि करै मात न मारै तेय॥
ते बेली कैसैं दहियतु है जे अपने रस भेय।
श्रीसंकर बहु रतन त्यागि कै विषहि कंठ लपटेय॥
माता अछत छीर बिनु सुत मरै अजा कंठ कुच सेय।
यद्यपि 'सूर' महा पतित है पतितु पावन तुम तेय॥

४—राग बिलावल

अपने जान मैं बहुत करी।
कौन भाँति हरि कृपा तुम्हारी सो स्वामी समुझि न परी॥

माचल—मचलनेवाला, हठी। सकुच—लज्जा। डारिहौं कढ़राइ—घसीट कर फेंकना होगे। (३) तेय—तिसको, उसको। भेय—सींची है। अछत—होते हुए। लपटेय—लिपटाया। अजाकंठ कुच—बकरे के गले के थन। तेय—वे ही (जो प्रसिद्ध हैं)।

दूरि गयो दरसन के ताईं व्यापक प्रभुता सब बिसरी।
मनसा वाचा कर्म अगोचर सो मूरति नहिं नैन धरी॥
गुन बिनु गुनी, सुरूप रूप बिनु, नाम लेत श्रीस्याम हरी।
कृपासिंधु अपराध अपरिमित छमो 'सूर' ते सब बिगरी॥

५—राग बिलावल

अब के माधव मोहि उधारि।
मगन हौं भवअंबुनिधि में कृपासिंधु मुरारि॥
नीर अति गंभीर माया, लोभ लहरि तरंग।
लिए जात अगाध जल में गहे ग्राह अनंग॥
मीन इन्द्रिय अतिहि काटत मोट अघ सिर भार।
पग न इत उत धरन पावत उरझि मोह सेवार॥
काम क्रोध समेत तृष्णा पवन अति झकझोर।
नाहिं चितवन देत तिय सुत नाम-नौका ओर॥
थक्यो बीच बेहाल बिहवल सुनहु करुनामूल।
स्याम भुज गहि काढ़ि डारहु 'सूर' ब्रज के कूल॥

---

(४) दरसन के ताईं—दर्शनों के लिए। अगोचर—जो ज्ञानेन्द्रियों से समझी न जा सके। गुनबिनु...स्याम हरी—(अन्वय) श्रीस्याम हरी नाम लेत बिनु गुन गुनी (होत) बिनुरूप सुरूप (होत)—श्रीकृष्ण जी का नाम लेते ही निर्गुणजन भी गुणवान हो जाता है (जैसे गोपीगण) और कुरूप भी सुरूप हो जाता है (जैसे कुबरी)। (५) उधारि—उद्धार करो, बचा लो। मगन हौं—डूबा हूँ। अंबुनिधि—समुद्र। ग्राह—मगर। अनङ्ग—कामदेव। मोट—मोटरी, बोझ। भार—भारी। उरझि—फँसकर। सेवार—जल के अंदर उगने वाले घासफूस के पौधे। कूल—किनारा। इस पद में साँगरूपक अलंकार है।

६—राग सोरठ

अब की राखि लेहु भगवान ।
अब अनाथ बैठे द्रुम डरिया पारधि साँधे बान ॥
याके डर भाज्यो चाहत हौं ऊपर ढुक्यो सचान ।
दुऊ भाँति दुख भयो आनि यह कौन उबारै प्रान ॥
सुमिरत ही अहि डस्यो पारधी सर छूटे संधान ।
'सूरदास' सर लग्यो सचानहिं जय जय कृपानिधान ॥

७—राग धनाश्री

अब मैं जानी देह बुढ़ानी ।
सीस पाँव कर कह्यो न मानै तन की दसा सिरानी ॥
आन कहत आनै कहि आवत नैन नाक बहै पानी ।
मिट गइ चमक दमक अंग अंग की गई जु सुमति हिरानी ॥
नाहि रही कछु सुधि तन मन की है गई बात बिरानी ।
'सूरदास' प्रभु अबहिं चेत लो भज ले सारँगपानी ॥

८—राग धनाश्री

अब मोहिं भीजत क्यों न उबारो ।
दीनबंधु करुनामय स्वामी जन के दुःख निवारो ॥
ममता घटा, मोह की बूँदें, सलिता मैन अपारो ॥
बूड़त कतहुँ थाह नहिं पावत गुरु जन ओट अधारो ॥

---

(६) द्रुम—पेड़ । पारधी—शिकारी, वधिक । साँधे—संधान किये हुए है । ढुक्यो—घात लगाये हुए है । सचान—बाज पक्षी । उबारै—बचावै । अहि—सर्प । (७) तन की दसा सिरानी—शरीर की शक्ति जाती रही है । आन—अन्य (बात) । गई जु सुमति हिरानी—सुबुद्धि खो गई है । है गई बात बिरानी—दूसरों के हाथों शरीर का निर्वाह होने लगा । सारँगपानी—शारंगपाणि भगवान । (८) सलिता—(सरिता) नदी । मैन—काम । अधारो—आधार ।

गरजत क्रोध, लोभ के नारो सूझत कहुँ न उधारो।
तृसना तड़ित चमकि छिन ही छिन अहनिसि यह तन जारो॥
यह सब जल कलिमलहिं गहे है बोरत सहस प्रकारो।
'सूरदास' पतितन के संगी बिरदहिं नाथ सम्हारो॥

९—राग धनाश्री

अब हौं कहौ कौन दर जाउँ।
तुम जगपाल चतुर चिंतामनि दीनबंधु सुनि नाउँ॥
माया कपट रूप कौरव दल लोभ मोह मद भारी।
परवस परी सुनहु करुनामय मम-मति पतिव्रतधारी॥
काम दुसासन गहे लाज-पट मरन अधिक पति मेरी।
सुर नर मुनि-कोउ निकट न आवत 'सूर' समुझि हरि चेरी॥

१०—राग धनाश्री

अब हौं नाच्यौ बहुत गोपाल।
काम क्रोध को पहिरि चोलना, कंठ विषय की माल॥
महा मोह के नूपुर बाजत, निंदा शब्द रसाल।
भरम भरो मन भयो पखावज, चलत कुसंगति चाल॥
तृसना नाद करति घट भीतर, नाना विधि दे ताल।
माया को कटि फैंटा बाँध्यो, लोभ तिलक दियो भाल॥

नारो—नाला। उबारो—उद्धार, बचाव। तड़ित—बिजली। अह-निसि—दिन रात। कलिमल—पाप। बिरदहिं नाथ सम्हारो—हे नाथ! अपने विरुद की सँभार कीजिये (आप अपने पतितपावन बाने की रक्षा कीजिये) रूपक अलंकार। (९) दर—द्वार, ठौर। चतुर चिंतामनि—चतुरों के लिये चिंतामणि रूप सर्व कामनाओं के पूरक। पति—प्रतिष्ठा। मरन अधिक पति मेरी—मर जाना ही मेरे लिये अधिक प्रतिष्ठा की बात है। इस पद में सांग रूपक अलंकार है। (१०) चोलना—पेशवाज। भरम—(भ्रम) धोखा। पखावज—मृदंग।

कोटिक कला काछि दिखराई जल, थल, सुधि नहिं काल।
'सूरदास' की सबै अविद्या, दूरि करहु नँदलाल॥

११—राग मारू

अवसर हारो रे तैं हारो।
मानुष जनम पाइ नर बौरे हरि को भजन बिसारो॥
रुधिर बूँद तें साज कियो तन सुंदर रूप सँवारो।
अंध अचेत मूढ़ मति बौरो सो प्रभु क्यों न सम्हारो॥
पहिरि पटंबर करि आडंबर यह तन हाट सिंगारो।
काम क्रोध मद लोभ त्रिया रति बहु बिधि काज बिगारो॥
मरन बिसारि जीव नहिं जान्यो बहु उद्यम जिय धारो।
सुतदारा के मोह अँचै विष हरि अमृत फल डारो॥
झूठ साँच करि माया जोरी रचि रचि भवन ओसारो।
काल घरी पूरन भई जा दिन तन को त्याग सिधारो॥
प्रेत प्रेत तेरो नाम परयो झट झोरी बाँधि निकारो।
जिहि सुत के हित विमुख गोविंद तें प्रथमैं मुख तिन जारो॥
भाई बंधु कुटुंब सहोदर सब मिल यहैं बिचारो।
जैसे कर्म लही फल तैसे तिनका तोरि पवारो॥

कोटिक कला काछि दिखराई—रूप बदल बदल कर अनेक स्वांग दिखलाए (अर्थात् अनेक जन्म लिये) सुधि नहिं काल—न जाने कितना समय बीत गया। अविद्या—अज्ञान (माया) (११) अवसर हारो—मौका चूक गया। साज कियो—बनाया। पटंबर—(पाटम्बर) रेशमी कपड़ा। आडंबर—(आडम्बर) दिखावा। अँचै विष—जहर पीकर। डारो—फेंक दिया। माया—दौलत, धन। ओसारो—आँगन की दालान। सहोदर—सगा भाई। तिनका तोरि पवारो—प्रेम सम्बन्ध तोड़ कर फेंक दिया।

(नोट) दाह-क्रिया के अंत में तृण तोड़कर फेंका जाता है जिसका अर्थ यह होता है कि आज से मृतजन से सब संबंध टूटा।

सतगुरु को उपदेश हृदय धरि जिय दुख सकल निवारो ।
हरि भजु विलंबु छोड़ि 'सूरज' प्रभु ऊँचे टेरि पुकारो ॥

१२—राग कान्हरो

अविगत गति कछु कहत न आवै ।
ज्यों गूँगेहि मीठे फल को रस अन्तरगत ही भावै ॥
परम स्वाद सब ही जु निरन्तर अमित तोष उपजावै ।
मन बानी को अगम अगोचर सो जानै जो पावै ॥
रूप रेख गुन जाति जुगुति बिनु निरालम्ब मन चक्रत धावै ।
सब विधि अगम बिचारहिं तातें 'सूर' सगुन लीला पद गावै ॥

१३—राग सारंग

आछो गात अकारथ गारयो ।
करी न प्रीति कमल लोचन सों जनम जनम ज्यों हारयो ॥
निसि दिन विषय बिलासनि बिलसत फूटि गईं तब चारयो ।
अब लाग्यो पछितान पाइ दुख दीन दई को मारयो ॥
कामी कृपन कुचील कुदरसन को न कृपा करि तारयो ।
तातें कहत दयालु देव पुनि काहे 'सूर' बिसारयो ॥

ऊँचे टेरि पुकारो—ऊँची आवाज़ से पुकार कर कहता है । (१२) अवि-गत—जो जाना न जाय (अर्थात् निर्गुण ब्रह्म) । गति—हालत, दशा । कहत न आवै—कहने में नहीं आ सकती, कही नहीं जा सकती । अंतरगत—मन में । जुगुति—युक्ति । निरालम्ब—आधार रहित । चक्रत—चकित, विस्मय युक्त । (१३) आछो गात—अच्छा शरीर (मनुष्य तन) अकारथ—व्यर्थ । गारयो—खराब किया । चारयो फूटि गईं—चारो आँखें फूट गईं (दो आँखें प्रत्यक्ष दो हृदय की) । दई को मारयो—(दईमारो) अदृष्ट द्वारा नष्ट किया हुआ, बदनसीब, अभागा । कुचील—(कुचैल) बुरे वस्त्रवाला । कुदरसन—बदसूरत ।

१४—राग धनाश्री

इत उत चितवत जनम गयो।
इन माया तृस्ना के काजें दुहुँ दृग अंध भयो॥
जनम कष्ट तें मात दुखित भई अति दुख प्रान सह्यो।
वे त्रिभुवन पति बिसरि गये त्यों सुमिरत क्यों न रह्यो॥
श्रीभगवन्त सुन्यौ नहिं कबहूँ बीचहि भटकि मुयो।
'सूरदास' कहै सब जग बूड्यो जुग जुग भगत जियो॥

१५—राग कान्हरो

ऐसो कब करिहो गोपाल।
मनसानाथ मनोरथदाता हौ प्रभु दीनदयाल॥
चित्त निरन्तर चरनन अनुरत रसना चरित रसाल।
लोचन सजल प्रेम पुलकित तन कर कंजनि-दल-माल॥
ऐसे रहत, लिखै छिनु छिनु जम अपनौ मायो जाल।
'सूर' सुजसरागी न डरत मन सुनि जातना कराल॥

१६—राग मलार

ऐसी करत अनेक जनम गये मन संतोष न पायो।
दिन दिन अधिक दुरासा-लागी सकल लोक फिरि आयो॥
सुनि सुनि स्वर्ग रसातल भूतल तहीं तहीं उठि धायो।
काम क्रोध मद लोभ अगिन ते जरत न काहु बुझायो॥
स्रक चन्दन वनिता विनोद सुख यह जुर जरत बितायो।
मैं अजान अकुलाइ अधिक लै जरत माँझ घृत नायो॥

---

(१४) काजें—कारण, वास्ते। (१५) मनसानाथ—मन के प्रेरक। कर कंजनिदल माल—हाथ से कमल दल की माला बनाकर तुम्हें पहनाया करूँ अर्थात् हाथ तुम्हारी सेवा में लगे रहें। जाल—कर्मजाल। सुजसरागी—हरियश गान में अनुरक्त। जातना—मरण के कष्ट। (१६) दुरासा—बुरी आशा। स्रक—फूल माला (सुगंधादि)।

भ्रमि भ्रमि हौं हारयो हिय अपने देखि अनल जग छायो।
'सूरदास' प्रभु तुम्हरि कृपा बिनु कैसे जाय बुतायो॥

१७—राग धनाश्री

ऐसे प्रभु अनाथ के स्वामी।
कहियत दीन दास पर-पीरक सब घट अन्तरजामी॥
करत बिबस्त्र द्रुपद-तनया को 'सरन' शब्द कहि आयो।
पूर्ण अनंत कोटि परिबसननि अरि को गरब गँवायो॥
सुतहित बिप्र, कीर हित गनिका, परमारथ प्रभु पायो।
छन चितवन साप संकट ते गज ग्राह ते छुटायो॥
तब तब पद न देखि अबिगत को जन लगि वेप बनायो।
जो जन दुखी जानि भए ते रिपु हति हति सुख उपजायो॥
तुम्हरि कृपा जदुनाथ गुसाईं किहि न आसु सुख पायो।
'सूरजदास' अंध अपराधी सो काहे बिसरायो॥

१८—राग भैरव

ऐसेहि बसिये ब्रज की बीथिन।
साधुनि के पनवारे चुनि चुनि उदर जु भरिये सीतनि॥
पैंड़े में के बसन बीनि तन छाया परम पुनीतनि।
कुंज कुंज तर लोटि लोटि रचि रज लागै रंगी तनि॥
निसि दिन निरखि जसोदानंदन अरु जमुना जल पीतनि।
दरसन 'सूर' होत तन पावन, दरसन मिलत अतीतनि॥

---

(१७) परपीरक—पराई पीड़ा को समझानेवाले। बिवस्त्र—वस्त्र रहित। परिबसन—चादर, पिछौरी। पद—दर्जा। अविगत—निर्गुण ब्रह्म। आसु—शीघ्र। (१८) पनवारे—पत्तल। सीत—जूठे अन्नकण। पैंड़े में के—रास्ते में पड़े हुए। अतीत—वीतराग पुरुष।

१९—राग सोरठ

और न जानै जन की पीर ।
जब जब दीन दुखित भये, तब तब कृपा करी बल-बीर ॥
गज बलहीन बिलोकि चहूँ दिसि तब हरि सरन परो ।
करुना-सिंधु दयालु दरस दै सब संताप हरो ॥
मागध मथो, हरो नृप बंधन, मृतक बिप्र-सुत दीनो ।
गोपी गाय गोपसुत लगि प्रभु सात द्यौस गिरि लीनो ॥
श्रीनृसिंह बपु धारि असुर हति भगत-बचन प्रतिपारो ॥
सुमिरत नाम द्रुपद-तनया कहँ पट समूह तन धारो ।
मुनि मद मेटि दास ब्रत राख्यो अंबरीष हितकारी ॥
लाखागृह में शत्रु सैन ते पांडव बिपति निवारी ।
बरुणपास ब्रजपति मुकराये दावानल दुख टारो ।
श्री वसुदेव देवकी के हित कंस महा खल मारो ॥
सोइ श्रीपति जुग जुग सुमिरन बस बेद बिसद जस गावै ।
असरन-सरन 'सूर' जाँचत है कोऊ सुरति करावै ॥

२०—राग धनाश्री

कबहूँ नाहिन गहरु कियो ।
सदा सुभाव सुलभ सुमिरन बस भगतनि अभय दियो ।
गाय गोप गोपीजन कारन, गिरि कर कमल लियो ।
अघ अरिष्ट केसी काली मथि, दावा अनल पियो ॥
कंस बंस वधि, जरासंध हति, गुरुसुत आनि दियो ।
करषत सभा द्रुपदतनया को अंबर आनि छियो ॥
'सूर' स्याम सरवज्ञ कृपानिधि करुना-मृदुल-हियो ।
काके सरन जाउँ जदुनंदन नाहिन और बियो ॥

---

(१९) मागध—जरासंध । मुनि—दुर्वासा । ब्रजपति—नंदजी । मुकराये —छुड़ाया । (२०) गहरु—देरी । बियो—दूसरा ।

२१—राग धनाश्री

करैं गोपाल के सब होय।
जो अपनो पुरुषारथ मानै अति ही झूठो सोय॥
साधन मंत्र यंत्र उद्यम बल ये सब राखै धोय।
जो कछु लिखि राख्यो नँदनंदन मेटि सकै नहिं कोय॥
दुख सुख लाभ अलाभ सहज तुम कतहिं मरत हो रोय।
'सूरदास' स्वामी करुनामय स्याम चरन मन पोय॥

२२—राग बिलावल

कहा कमी जाके राम धनी।
मनसानाथ मनोरथ-पूरन सुखनिधान जाकी मौज घनी॥
अर्थ धर्म अरु काम मोक्ष फल चार पदारथ देत छनी।
इन्द्र समान हैं जाके सेवक मो बपुरे की कहा गनी॥
कहौ कृपन की माया कितनी करत फिरत अपनी अपनी।
खाइ न सकै खरच नहिं जानै ज्यों भुअंग सिर रहत मनी॥
आनँद मगन रामगुन गावैं दुख संताप की काटि तनी।
'सूर' कहत जे भजत राम को तिन सों हरि सों सदा बनी॥

२३—राग नट

कहावत ऐसे त्यागी दानि।
चारि पदारथ दए सुदामहिं अरु गुरु को सुत आनि॥
रावन के दस मस्तक छेदे सर हति सारँगपानि।
बीभीषण को लंका दीनी पूरवली पहिचानि॥
मित्र सुदामा कियो अजाचक प्रीति पुरातन जानि।
'सूरदास' सों कहा निठुरई नैननि हूँ की हानि॥

---

(२१) अलाभ—हानि। सहज—स्वाभाविक। कतहिं—क्यों। पोय-पोह दो, लगा दो (२२) मौज—मन की उमंग। छनी—क्षण भर में। बपुरा—बेचारा। भुअंग—स ँ। तनी—रस्सी। (२३) पूरवली–पहले की (पुर्वजे की)।

२४—राग धनाश्री

काहू के कुल नाहिं बिचारत।
अविगति की गति कहौं कौन सों सब पतितन कों तारत ॥
कौन जाति, को पाँति बिदुर की जिनके प्रभु ब्यौहारत।
भोजन करत तुष्टि घर उनके राजमान-मद-टारत ॥
ओछे जनम करम के ओछे ओछे ही अनुसारत।
यहै 'सूर' के प्रभु को बानो भगत-बछल प्रन पारत ॥

२५—राग धनाश्री

कितक दिन हरि सुमिरन बिनु खोये।
परनिंदा रस में रसना के जपने परत डबोये ॥
तेल लगाइ कियो रुचि मर्दन बस्त्रहिं मलि मलि धोये।
तिलक लगाय चले स्वामी बनि विषयनि के मुख जोये ॥
काल बली ते सब जग कंपत ब्रह्मादिक हू रोये।
'सूर' अधम की कहौ कौन गति उदर भरे परि सोये ॥

२६—राग कान्हरा

कीजै प्रभु अपने बिरद की लाज।
महापतित कबहूँ नहिं आयो नेक तुम्हारे काज ॥
माया सबल धाम धन बनिता बाँध्यो हौं इहि साज।
देखत सुनत सबै जानत हौं तऊ न आयो बाज ॥
कहियत पतित बहुत तुम तारे श्रवननि सुनी अवाज।
दई न जात खार उतराई चाहत चढ़न जहाज ॥

---

(२४) अविगत—ईश्वर। (जो समझा न जा सके) ब्योहारत—प्रेम का व्यवहार करते हैं। ओछे—नीच। अनुसारत—सेवते हैं। पारत—पालते हैं। (२५) कितक—बहुत। जपने परत—जप करनेवाले पर्त, ज़बान के वे पर्त जिनसे ईश्वर नाम का जप करना चाहिये। मुख जोये—आशा लगाई। (२६) नेकु—तनक। बाज आना—छोड़ देना। खार—छोटा जलाशय।

लीजै पार उतारि 'सूर' को महाराज ब्रजराज।
नई न करन कहत प्रभु तुम सों सदा गरीब-निवाज॥

२७—राग सारंग

कौन गति करिहौ मेरी नाथ।
हौं तो कुटिल कुचाल कुदरसन रहत विषय के साथ॥
दिन बीतत माया के लालच कुल कुटुम्ब के हेत।
सारी रैन नींद भरि सोवत जैसे पशू अचेत॥
कागज धरनि करै द्रुम लेखनि जल सायर मसि घोर।
लिखैं गनेश जनम भरि ममकृत तऊ दोष नहिं ओर॥
गज गनिका अरु विप्र अजामिल अगनित अधम उधारे।
अपथै चलि अपराध करे मैं तिनहूँ ते अति भारे॥
लिखि लिखि मम अपराध जनम के चित्रगुप्त अकुलाश्रो।
भृगुऋषि आदि सुनत चकित भये यम सुनि सीस डुलाश्रो॥
परम पुनीत पवित्र कृपानिधि पावन नाम कहायो।
'सूर' पतित जब सुन्यो विरद यह तब धीरज मन आयो॥

२८—राग विलावल

क्यों तू गोविंद नाम विसारयो।
अजहूँ चेत भजन करि हरि को काल फिरत सिर ऊपर भारयो
धन सुत दारा काम न आवै जिनहि लागि आपनपौ खोयो
'सूरदास' भगवंत भजन विनु चल्यौ पछिताय नयन भरि रोयो

२६—राग टोड़ी

गरब गोविंदहिं भावत नाहिं।
कैसी करी हिरण्यकसिप को रती न राखी राखनि माहिं

(२७) सायर—सागर, समुद्र। ओर—अंत, खातमा। (२८
आपनपौ—अपना स्वतंत्र अस्तित्व।

जग जानी करतूति कंस की नरकासुर मारथो बल बाँहि।
बरुण, बिरंचि, सक्र, सिव, मनसिज, नर तृन की मनसा गहि गाँहि॥
जोवन, रूप, राज, धन, धरती, जानत जैसी जलद की छाँहि।
'सूरदास' हरि भजे न जे ते बिमुख अंत अंतकपुर जाँहि॥

३०—राग टोड़ी

गोविंद पद भज मन वच क्रम करि।
रुचि रुचि सहज समाधि साधि सठ दीनबंधु करुनामय उर धरि॥
मिथ्या वादविवाद छाँड़ि सठ विषय लोभ मद मोहै परिहरि।
चरन प्रताप आन उर, अंतर और सकल सुख या सुख तरहरि॥
वेदनि कह्यो सुमृति इमि भाख्यो पावन पतित नाम है निजु हरि।
जाके सुजस सुनत अरु सुमिरत ह्वै है पाप वृन्द तजि नर हरि॥
परम उदार स्याम सुन्दर बर सुखदाता संतन-हितु हरि धरि।
दीनदयाल गुपाल गोपपति गावत गुन आवत ढिग ढरि ढरि॥
अजहूँ मूढ़ चेत, चहुँ दिसि तें उपजी कली-अगिनि झक झर-हरि।
जब जमजाल पसार परेगो हरि बिनु कौन करैगो धर-हरि॥
सूर काल-बल-ब्याल ग्रस्यो जित श्रीपति चरन परहिं किन फरहरि।
नाम प्रताप आनि हिरदै महँ, सकल विकार जाहिं सब टरहरि॥

---

(२९) तृन की मनसा गहि गाँहि—तृण के समान ग्रहण करते हैं (समझते हैं)। बरुण...गाहि—मनुष्य ऐसे अहंकारी होते हैं कि वरुण, ब्रह्मा शिवादि को भी तृण समान समझते हैं। जलद की छाँहिं—अति शीघ्र मिटनेवाली। अतक—यमराज। (३०)क्रम—कर्म (अपभ्रंश प्राकृत में 'कर्म' शब्द का यही रूप पाया जाता है)। तरहरि—नीचे दर्जे के। निजु—निश्चय। हरि—इन्द्र। ढरि ढरि—प्रसन्न हो होकर। कली-अगिनि—कलिकाल की अग्नि (पाप)। झक झरहरि—झकोरे देनेवाली। धरहरि—बीचबचाव, रक्षा। फरहरि—प्रेम से। टरहरि जाहिं—टल जायें, दूर हो जायें।

३१—राग सारंग

गोविंद प्रीति सबन की मानत।
जो जेहि भाय करै जन सेवा अंतरगत की जानत॥
बेर चाखि कटु तजि लै मीठे भिलनी दीनों जाय।
जूठन की कछु शंक न कीन्हीं भच्छ किये सद भाय॥
संतत भगत मीत हितकारी स्याम विदुर के आये।
प्रेम विकल विदुराइन अरपित कदली छिलका खाये॥
कौरव काज चले ऋषि सापन साग के पात अघाये।
'सूरदास' करुना-निधान प्रभु जुग जुग भगत बढ़ाये॥

३२—राग सोरठ

गोविंद आहैं मन के मीत।
गज अरु व्रज प्रहलाद द्रौपदी सुमिरत ही निश्चीत।
लाखागृह पाँडवन उबारे, शाक पत्र सुख खाए।
अंबरीष हित स्राप निवारे व्याकुल चले पराए॥
नृप कन्या को व्रत प्रतिपारा कपट भेष इक धारो।
तामें प्रकट भये श्रीपति जू अरिगन गर्व प्रहारो॥
गुरु-बाँधव हित मिले सुदामहि तंदुल रुचि सों जाँचत।
प्रेम विकलता लखि गोपिन की विविध रूप धरि नाचत॥
संकट हरन चरन हरि प्रगटे वेद विदित जसु गावै।
'सूरदास' ऐसे प्रभु तजि कै घर घर देव मनावै॥

---

(३१) अंतरगत की—हृदय की। ऋषि - (यहाँ) दुर्वासाजी। (३२) आहैं—हैं निश्चीत—निश्चिंत, चिंतारहित। चले पराए—पलाय चले, भाग चले। नृपकन्या—भक्तमाल में कथा है कि एक राजकुमारी के लिये ईश्वर ने चतुर्भुजी रूप धर कर कन्या के पिता के शत्रु की सेना को परास्त किया था।

३३—राग बिलावल

चरन कमल बंदौं हरिराई ।
जाकी कृपा पंगु गिरि लंघै अंधे कूँ सब कछु दरसाई ॥
बहिरो सुनै मूक पुनि बोलै रंक चलै सिर छत्र धराई ।
'सूरदास' स्वामी करुनामय बार बार बंदौं तेहि पाई ॥

३४—राग सारंग

छाँड़ि मन हरि बिमुखन को संग ।
जाके संग कुबुद्धि उपजै परत भजन में भंग ॥
कहा भयो पय पान कराये विष नहिं तजत भुजंग ।
काम क्रोध मद लोभ मोह में निसि दिन रहत उमंग ॥
कागहिं कहा कपूर खवाए, स्वान न्हवाये गंग ।
खर को कहा अरगजा लेपन मरकट भूषण अंग ॥
पाहन पतित बान नहिं भेदत रीतो करत निषंग ।
'सूरदास' खल कारी कामरि चढ़ै न दूजो रंग ॥

३५—राग धनाश्री

जनम सिरानो अटके अटके ।
सुत संपति गृह राज मान को फिरो अनत ही भटके ॥
कठिन जवनिका रची मोह की तोरी जाय न चटके ।
ना हरिभजन न तृपिति विषय की रह्यो बीच ही लटके ॥
सब जंजाल सु इन्द्रजाल सम ज्यों बाजीगर नट के ।
'सूरदास' सोभा न सोभियतु पिय बिहून धन मटके ॥

---

(३३) पंगु—लंगड़ा । मूक—गूँगा । रंक—निर्धन । पाई—पाँव, चरण । (३४) पय—दूध । भुअंग—साँप । रीतो—(रिक्त) खाली । निषंग—तरकस । (३५) जवनिका—पर्दा । पिय बिहून—बिना पति की । धन—स्त्री ।

३६—राग देवगंधार

जाको मनमोहन अंग करै ।
ताको केस खसै नहिं सिर तें जो जग बैर परै ॥
हिरनकसिपु परहारि थक्यो प्रहलाद न नेकु डरै ।
अजहूँ सुत उत्तानपाद को राज करत न टरै ॥
राखी लाज द्रुपदतनया की कुरुपति चीर हरै ।
दुर्योधन को मान भंग करि बसन प्रवाह भरै ॥
विप्रभगत नृग अंधकूप दियो, बलि पढ़ि बेद छरै ।
दीनदयालु कृपाल दयानिधि कापै कह्यो परै ॥
जब सुरपति कोप्यो ब्रज ऊपर काहि हू कछु न सरै ।
राखे ब्रजजन नँद के लाला गिरिधर बिरद धरै ॥
जाको बिरद है गर्वप्रहारी सो कैसे बिसरै ।
'सूरदास' भगवंत भजन करि, सरन गहे उधरै ॥

३७—राग केदारो

जाको हरि अंगीकार कियो ।
ताके कोटि विघ्न हरि हरि कै अभय प्रताप दियो ॥
दुरबासा अँबरीष सतायो सो हरि सरन गयो ।
परतिज्ञा राखी मनमोहन फिरि तापै पठयो ॥
निकसि खंभ ते नाथ निरंतर निज जन राखि लियो ।
बहुत सासना दई प्रहलादहिं ताहि निसंक कियो ॥
मृतक भये सब सखा जिवाए विष जल जाय पियो ।
'सूरदास' प्रभु भगत-बछल हैं उपमा कौन दियो ॥

---

(३६) परहारि थक्यो—मार पीट कर थक गया। उत्तानपाद को सुत—ध्रुव। कह्यो परै—कहा जा सकता है। (३७) सासना—सज़ा, दंड। भगतबछल—(भक्तवत्सल) भक्त पर वात्सल्य (प्यार) करने वाले।

३८—राग झझोंटी

जा दिन मन पंछी उड़ि जैहै।
ता दिन तेरे तन-तरुवर के सबै पात झरि जैहैं॥
या देही को गर्व न करिये स्यार काग गिधि खैहैं।
तीन नाम तन विष्ठा कृमि ह्वै अथवा खाक उड़ैहैं॥
कहँ वह नीर, कहाँ वह शोभा, कहँ रँग रूप दिखैहैं।
जिन लोगन सों नेह करतु है तेही देखि घिनैहैं॥
घर के कहत सबारे काढ़ो भूत होय घर खैहै॥
जिन पुत्रनहिं बहुत प्रतिपारयो देवी देव मनैहैं॥
तेइ लै बाँस दयो खोपड़ी में सीस फेरि बिखरैहैं।
अजहूँ मूढ़ करो सतसंगति संतन में कछु पैहै॥
नर वपु धारि जाने नहिं हरि को जम की मार जु खैहै।
'सूरदास' भगवंत भजन बिनु वृथा सुजन्म गँवैहै॥

३६—राग सारंग

जापर दीनानाथ ढरै।
सोइ कुलीन बड़ो सुन्दर सोइ जिन पर कृपा करै॥
राजा कौन बड़ो रावन तें गर्वहि गर्व गरै।
राँकल कौन सुदामा हू ते आपु समान करै॥
रूपल कौन अधिक सीता तें जनम वियोग भरै।
अधिक कुरूप कौन कुबिजा तें हरि पति पाइ वरै॥
जोगी कौन बड़ो संकर तें ताको काम छरै।
कौन विरक्त अधिक नारद सों निसिदिन भ्रमत फिरै॥

---

(३८) सबारे—शीघ्र। काढ़ो—घर से निकालो। मार खैहै—दंड भोगेगा। (३६) गरै—गल जाता है, नष्ट हो जाता है। राँकल—(रङ्कल) धनहीन। रूपल—रूपवती। जनम भरै—जीवन बितावे। छरै—छलै।

अधम सु कौन अजामिल हू त जम तहँ जात डरै।
'सूरदास' भगवंत भजन बिनु फिरि फिर जठर जरै॥

४०—राग धनाश्री

जिनु तनु ना हरि भजन कियो।
सूकर कूकर खग मृग मानो यहि सुख कहा जियो॥
जो जगदीस ईस सबहि को कबहुँ न लागु हियो।
निपट निकट जदुनाथ बिसार्यो माया मदहि पियो॥
चारि पदारथ के प्रभु दाता नहिं चित चरन दियो।
'सूरदास' भगवंत भजन बिनु बादिहिं जनम लियो॥

४१—राग धनाश्री

जैसे और बहुत खल तारे।
चरन प्रताप भजन-महिमा को को कहि सकै तुम्हारे॥
दुखित गयंद, दुष्ट-मति गनिका, नृपै कूप उद्धारे।
बिप्र बजाइ चल्यो सुत के हित काटि महा अघ भारे॥
गीध, व्याध, गौतमतिय, मृग, कपि, कौन कौन व्रत धारे।
कंस, केसि, कुवलयगज, मुष्टिक सब सुखधाम सिधारे॥
उरजनि को बिष बाँटि लगायो जसुमति की गति पाई।
रजक मल्ल चानूर, दवानल-दुख भंजन सुखदाई॥
नृप सिसुपाल विषयरस बिहवल सर औसर नहिजान्यो।
अघ, बक, वृषभ, तृनाव्रत, धेनुक गुन गहि दोष न मान्यो॥
पांडुवधू पटहीन सभा महँ कोटिन बसन पुजाये।
बिपतिकाल सुमिरत जेहि औसर जहाँ, तहाँ उठि धाये॥

जठर—गर्भ। (४०) चारि पदारथ—अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष / बादि—व्यर्थ। (४१) कुवलय—कुवलया गज। उरज—कुच, स्तन। सर औसर—मौका बेमोका। पांडुवधू—द्रौपदी। पुजाये—पूर्ण किये।

गोपि गाय गोसुत जल त्रासित गोवर्धन कर धारयो।
संतत दीन हीन अपराधी काहे 'सूर' बिसारयो॥

४२—राग कल्याण

जैसेहि राखौ तैसेहि रहौं।
जानत हौ दुख सुख सब जन कौ मुख करि कहा कहौं॥
कबहुँक भोजन देत कृपा करि कबहुँक भूख सहौं।
कबहुँक चढ़ौं तुरंग महा गज कबहुँक भार वहौं॥
कमल नयन घनस्याम मनोहर अनुचर भयो रहौं।
'सूरदास' प्रभु भगत कृपानिधि तुम्हरे चरन गहौं॥

४३—राग धनाश्री

जो जग और बियो हौं पाऊँ।
तो यह बिनती बार बार की हौं कत तुमहिं सुनाऊँ॥
सिव बिरंचि सुर असुर नाग मुनि सु तो जाँचि जन आयो।
भूल्यौ भ्रम्यो तृषातुर मृग लौं, काहू स्रम न गँवायो॥
अपथ सकल चलि चाहि चहूँ दिसि भ्रम उघटत मतिमंद।
थकित होत रथ चक्रहीन ज्यौं निरखि करम गुन फंद॥
पौरुष रहित अजित-इन्द्रियनवस, ज्यौं गज पंक परयो।
विषयासक्त नटी के कपि ज्यौं, जोइ कह्यो सु करयो॥
अपने ही अभिमान दोष तें रविहिं उलूक न मानत।
अतिसय सुकृत रहित अघ व्याकुल वृथा स्रमित रज छानत॥
सुनि त्रैताप-हरन करुनामय संतत दीन दयाल।
'सूर' कुटिल राखौ सरनाई व्याकुल यहि कलिकाल॥

---

(४२) मुखकरि—मुख से, मुख द्वारा। अनुचर—सेवक, दास। (४३) बियो—दूसरा। हौं—मैं। चाहि—देखकर। उघटत—कहता है। अजित—अजेय। सुकृत—पुण्य। सरनाई—शरण में।

४४—राग कान्हरो

जो पै तुमही विरद बिसारो।
तो कहो कहाँ जाऊँ करुनामय कृपन करम को मारो॥
दीनदयालु पतितपावन जसु वेद बखानत चारो।
सुनियत कथा पुराननि गनिका, व्याध, अजामिल तारो॥
राग, द्वेष, बिधि, अविधि, असुचि, सुचि जिन प्रभु जितै सँभारो।
कियो न कहूँ विलंब कृपानिधि सादर सोच निवारो॥
अगनित गुन हरि नाम तुम्हारे आज अपन पन धारो।
'सूरदास' प्रभु चितवत काहे न करत करत स्रम हारो॥

४५—राग विहागरो

जो पै राम नाम धन धरतो।
टरतौ नहीं जनम जनमान्तर कहा राज जम करतो॥
लेतो करि व्योहार सबनि सों मूल गाँठ में परतो।
भजन प्रताप सदाई घृत मधु, पावक परे न जरतो॥
सुमिरन गोन वेद विधि वैठो बिप्र-परोहन भरतो।
'सूर' चलत वैकुंठ पेलि कै बीच कौन जो अरतो॥

४६—राग धनाश्री

जो हम भले बुरे तौ तेरे।
तुम्हें हमारी लाज बड़ाई विनती सुनि प्रभु मेरे॥

---

(४४) सँभारो—स्मरण किया। (४५) धरतो संचित करता। टरतो नहीं—कम न होता। राज जम—यमराज। गाँठ में परतो—पल्ले पड़ता, अपने पास रहता। सुमिरन गोन—रामनाम स्मरण रूपी गठिया। गोन—वे दोनों गठिया जो भरकर बैल पर लादे जाते हैं। विप्रपरोहन—ब्राह्मण शरीर रूपी बैल। पेलिकै—जबरई। बीच कौन जो अरतो—ऐसा कौन है जो बीच में रोकता।

सब तजि तुम सरनागत आयो निजकर चरन गहे रे।
तुम प्रताप बल बदत न काहू निडर भये घर चेरे॥
और देव सब रंक भिखारी त्यागे बहुत अनेरे।
'सूरदास' प्रभु तुम्हरी कृपा पाये सुख जु घनेरे॥

४७—राग केदारो

जो मन कबहूँ हरि को जाँचै।
आन प्रसंग उपासन छाँड़े, मन बच क्रम अपने उर साँचै॥
निस-दिन नाम सुमिरि जसु गावै, कलपनि मेटि प्रेम रस माँचै।
यह व्रत धरै लोक महँ बिचरै, सम करि गनै महामनि काँचै॥
सीत उपम सुख दुख नहिं जानै, आये गये सोकनहिं आँचै।
जाय समाय 'सूर' महानिधि में, बहुरि न उलटि जगत महँ नाँचै॥

४८—राग नट

जो लौं सत्य स्वरूप न सूझत।
तौलौं मनु मनि कंठ बिसारे फिरतु सकल बन बूझत॥
अपनो ही मुख मलिन मंद मति देख दरपन माँह।
ता कलिमा मेटिबे कारन पचत पखारत छाँह॥

---

(४६) बदत न काहू—किसी को कुछ नहीं समझता। अनेरे—दूर। (४७) क्रम—कर्म। कलपन मेटि—अनेक कल्पनाओं को त्याग कर। माँचै—मंथन करे। समकरि...काँचै—महामणि और काँच को बराबर समझे। उपम—गरमी। सोक नहिं आँचै—शोक से संतप्त न हो। महानिधि—मोक्ष। (४८) मनु—मानो। बूझत फिरत—पूछता फिरता है। पचत—हैरान होता है। पखारना—(प्रक्षालन) धोना। छाँह—प्रतिबिंब।

तेल तूल पावक पुटि भरि धरि बनै न दिया प्रकासत ।
*कहत बनाय दीप की बातैं कैसे हो तम नासत ॥
'सूरदास' जब यह मति आई वे दिन गए अलेखे ।
कह जाने दिनकर की महिमा अंध नयन बिनु देखे ॥

४९—राग धनाश्री

तुम कब मोसो पतित उधारयो ।
काहे को प्रभु बिरद बुलावत बिनु मसकत को तारयो ॥
गीध व्याध पूतना जो तारी तिन पर कहा निहोरो ।
गनिका तरी आपनी करनी नाम भयो प्रभु तोरो ॥
अजामील द्विज जनम जनम को हुतो पुरातन दास ।
नेक चूक तें यह गति कीन्हीं पुनि बैकुंठहि बास ॥
पतित जानि कैं सब जन तारे रही न काहू खोट ।
तौ जानौं जो मो कहँ तारो 'सूर' कूर कवि ढोट ॥

५०—राग विलावल

तुम गोपाल मोसों बहुत करी ।
नर देही दीनी सुमिरन को मो पापी ते कछु न सरी ॥
गरभ-वास अति त्रास अधोमुख तहाँ न मेरी सुधि बिसरी ।
पावक जठर जरन नहिं दीनों कवन सी मेरी देह करी ॥
जग में जनमि पाप बहु कीने आदि अन्त लौं सब बिगरी ।
'सूर' पतित तुम पतित उधारन अपने बिरद की लाज धरी ॥

पुट—(संपुट) दिया, सरवा ।* (तुलसी) निसि गृह मध्य दीप की बातन तम निवृत्त नहीं होई (विनय-पत्रिका) अलेखे—व्यर्थ (किसी हिसाब में न आये) (४९) बिरद बुलावत—प्रशंसा करवाते हो । मसकत—(फा० मशक्कत) परिश्रम । निहोरो—एहसान । खोट—दोष । ढोट—बालक, सुकृतहीन । (५०) कछु न सरी—कुछ करते न बना । जठर—पेट, गर्भ ।

५१—राग सारंग

तुम्हारी भक्ति हमारे प्रान
छूटि गये कैसे जन जीवहिं ज्यों प्रानी बिनु प्रान ॥
कैसे मगन नाद बन सारँग बधै बधिक तनु बान।
ज्यों चितवै ससि ओर चकोरी देखत ही सुख मान ॥
जैसे कमल होत परफुल्लित देखत दरसन भान।
'सूरदास' प्रभु हरिगुन मीठे नितप्रति सुनियत कान ॥

५२—राग कान्हरो

तुम्हरी कृपा गोविन्द गुसाँई हौं अपने अग्यान न जानत।
उपजत दोस नयन नहिं सूझत रवि की किरन उलूक न मानत ॥
सब सुखनिधि हरि नाम महामनि सो पायो नाहिन पहिचानत।
परम कुबुद्धि तुच्छ रस लोभी कौड़ी लगि सठ मग-रज छानत ॥
सिव को धन संतन को सरवसु, महिमा वेद पुरान बखानत।
इते मान यह 'सूर' महासठ हरि-नग बदलि महा-खल आनत ॥

५३—राग केदारो

तुम्हरो कृपन कहत कह जात।
बिछुरे मिलन बहुरि कब ह्वै है ज्यों तरवर को पात ॥
सीत वायु कफ कंठ बिरोध्यो रसना टूटी बात।
प्रान लिये जम जात मूढ़ मति देखत जननी तात ॥

---

(५१) बन-सारंग—बन का मृग। (५२) तुम्हारी......जानत—मैं अपनी नादानी से तुम्हारी कृपा का रूप नहीं समझ सकता (नोट) पहली दो लाइनों में दृष्टान्त अलंकार है। इते मान—इतना बड़ा। हरि-नग—ईश्वर रूपी हीरा। महा-खल—पत्थर का बड़ा टुकड़ा (५३) बिरोध्यो—रुक गया। बात टूटी—बात नहीं निकलती।

छिनु एक माँह कोटि जुग बीतत, नरक की पाछे बात।
यह जग प्रीति सुआ सेमर ज्यों चाखत ही उड़ि जात॥
जम की त्रास नियर नहिं आवत चरनन चित्त लगात।
गावत 'सूर' वृथा या देही इतनौ कत इतरात॥

५४—राग धनाश्री

तेऊ चाहत कृपा तुम्हारी।
जिहि के बस अनिमिख अनेक गन अनुचर आग्याकारी॥
प्रबहत पवन, भ्रमत दिनकर दिन, फनिपति सिर न डुलावै।
दाहक गुन तजि सकत न पावक, सिंधु न सलिल बढ़ावै॥
सिव बिरंचि सुरपति समेत सब सेवत पद प्रभु जाने।
जो कछु कहत करन सोइ कीजतु कहियतु अति अकुलाने॥
तुम अनादि अविगत अनंत गुन पूरन परमानन्द।
'सूरदास' पर कृपा करौ प्रभु श्रीवृन्दावन-चन्द॥

५५—राग केदारो

थोरे जीवन भयो तनु भारो।
कियो न संत समागम कबहूँ लियो न नाम तुम्हारो॥
अति उनमत्त निरंकुस मैगल निस-दिन रहै असोच।
काम क्रोध मद लोभ मोह बस रहौं सदा अपसोच॥
महा मोह अग्यान तिमिर में मगन भयो सुख जानि।
तैलक वृष ज्यों भ्रम्यों भ्रमहिं भ्रम भज्यो न सारँग-पानि॥

सुआ/सेमर ज्यों—जैसे सुग्गा के लिये सेमल वृक्ष (व्यर्थ) विफल। नियर—निकट। लगात—लगाते ही। इतरात—घमंड करते हो। (५४) अनिमिख—देवता। प्रबहत—सदा चंचल रहता है। (५५) मैगल—हाथी। असोच—अशौच, अपवित्र। अपसोच—बिना चिन्ता का, बेफिक्र, बेपरवाह। तैलक वृष—तेली का बैल।

गीध्यो ढीठ हेम तसकर ज्यों अति आतुर मतिमंद ।
लुबध्यो स्वादु मीन आमिख ज्यों अवलोक्यों नहिं फंद ॥
ज्वाला प्रीति प्रगट सनमुख ह्वै हठि पतंग वपु जारो ।
विषयासक्त अमित अघ व्याकुल सो मैं कछु न सम्हारो ॥
ज्यों कपि सीत हुतासन गुंजा सिमिटि होत लैलीन ।
त्यों सठ वृथा तजै नहिं अग हठ रह्यो विषय आधीन ॥
सेंवर फल सुरंग सुक निरखत मुदित भयो खग-भूप ।
परसत चोंच तूल उघरत मुख, तृन छादित पसु कूप ॥
और कहाँ लगि कहौं कृपानिधि या तन के कृत काज ।
'सूर' पतित तुम पतित-उधारन गहौ बिरद की लाज ॥

५६—राग धनाश्री

दया निधि तेरी गति लखि न परै ।
धर्म अधर्म, अधर्म धर्म करि अकरन करन करै ॥
जय अरु विजय पाप कह कीनो ब्राह्मन साप दिवायो ।
असुर जोनि दीनी ता ऊपर धरम उछेद करायो ॥
पिता वचन खंडे सो पापी सो प्रहलादै कीन्हो ।
तिनके हेत खंभ ते प्रगटे नर हरि रूप जु लीन्हो ॥
द्विजकुल-पतित अजामिल विषयी गनिका प्रीति बढ़ाई ।
सुत हित नाम नरायन लीनो तिहि ध्रुव पदवी पाई ॥

गीध्यो—परच गया, लहट गया । हुतासन—अग्नि । ज्यों कपि...... लैलीन—जैसे कोई बंदर सरदी के मारे गुञ्जाओं को अग्निकण समझ उन्हें एकत्र करके तापने में लग जाय मुदित ..भूप—इतना हर्षित हुआ कि मैं ही पक्षियों का राजा हूँ । उघरत—उघराय जाती है । (५६) अकरन—अकरणीय कर्म । करन—करणीय कर्म । उछेद—उच्छेद ।

जग्य करत वैरोचन को सुत वेद विहित विधि कर्म।
तिहि हठि बाँधि पतालहि दीनो कौन कृपानिधि धर्म॥
पतिव्रता जालंधर जुवती प्रगटि सत्य तें टारी।
अधम पुँसचली दुष्ट ग्राम की सुआ पढ़ावत तारी॥
दानी धर्म भानुसुत सुनियत तुमतें विमुख कहावैं।
वेद विरुद्ध सकल पांडवसुत सो तुम्हरे जिय भावैं॥
मुक्ति हेत जोगी बहु स्रम करै, असुर विरोधे पावै।
अकथित कथित तुम्हारी महिमा 'सूरदास' कह गावै॥

५७—राग कल्याण

धोखे ही धोखे डहकायो।
समुझि न परी विषय रस गीधौ हरि हीरा घर माँझ गँवायो॥
ज्यों कुरंग जल देखि पिवन को प्यास न गई दसो दिसि धायो।
जनम जनम बहु कर्म किये हैं जन जन पै आपुनप बँधायो॥
ज्यों सुक सेंवर सइ आस लागि निसिबासर हठि चित्त लगायो।
रीतौ परौ जबै फल चाख्यौ उड़ि गयो तूल तँवारो आयो॥
ज्यों कपि डारि बाँधि बाजीगर कन कन को चौहटे नचायो।
'सूरदास' भगवंत भजन बिनु काल ब्याल पै छपै खवायो॥

५८—राग धनाश्री

नाथ जू अब कै मोहिं उबारो।
पतितन में विख्यात पतित हौं पावन नाम तुम्हारो॥

वैरोचन को सुत—राजा बलि। भानुसुत—राजा कर्ण। (२७)
डहकायो—छला गया। गीधो—संलग्न रहा। आपुनप—अपनपौ, दृढ़ रिश्ता। तँवारो आयो—मूर्छा आ गई। काल ब्याल पै छपै खवायो—छिपे हुए कालरूपी सर्प से डसवा दिया (मर गया)।

बड़े पतित नाहिन पासंगहु अजामेल को हो जु बिचारो।
भाजै नरक नाउँ मेरो सुनि जमहु देय हठि तारो॥
छुद्र पतित तुम तारे श्रीपति अब न करो जिय गारो।
'सूरदास' साँचो तब माने जब होय मम निस्तारो॥

५९—राग धनाश्री

पतितपावन हरि बिरद तुम्हारो कौने नाम धर्यो।
हौं तो दीन दुखित अति दुर्बल द्वारे रटत पर्यो॥
चारि पदारथ दए सुदामहिं तंदुल भेंट धर्यो।
द्रुपदसुता को तुम पति राखी अंबर दान कर्यो॥
संदीपन-सुत तुम प्रभु दीने विद्यापाठ कर्यो।
'सूर' की बिरियाँ निठुर भये प्रभु मोतें कछु न सर्यो॥

६०—राग केदारो

प्रभु तुम दीन के दुख हरन।
स्याम सुन्दर मदनमोहन बानि असरन-सरन॥
दूरि देखि सुदाम आवत धाय द्रुत पर्यो चरन।
लच्छ सों बहु लच्छि दीना बानि अवढर ढरन॥
बधे कौरव, भंजि सुरपति, बने गिरवर-धरन।
'सूर' प्रभु की कृपा जाकर भक्त जन सब तरन॥

६१—राग गुर्जरी

प्रभु बिनु कोऊ काम न आयो।
यह झूठी माया के लागे रतन सो जनम गँवायो॥

---

(५८) पासंग—तराजू में पलरों की कसर। जमहु......तारो—यमराज भी नरक के ताले बंद कर लें। गारो—गौरव, घमंड। निस्तार—मोक्ष (५९) तंदुल—चावल। अंबर—कपड़ा। बिरियाँ—समय, बारी। (६०) बहु—अधिक। लच्छि—लक्ष्मी, धन। अवढर ढरन—बेकायदा कृपा करने वाले। भंजि सुरपति—इन्द्र का मान भंग करके। (६१) लागे—वास्ते।

कंचन कलस विचित्र चित्र किये रचि रचि भवन बनायो ।
तामें तें ततखन गहि काढ्यौ पलु एक रहन न पायो ॥
हौं तुम्हरे सँग जाऊँगी कहि तिय धुति धुनि धन खायो ।
चलत रही मुख मोरि चोरि सब एकौ पगु नाहिन पहुँचायो ॥
बोलि बोलि सुत स्वजन मित्र जन लीन्हों सुजस सुहायो ।
परयो जू काम अंत अंतक सौ उहि ढिग कोउ न बँधायो ॥
कोटि जनम भ्रमि भ्रमि हौं हारयो हरिपद चित न लगायो ।
और पतित तुम बहुत उधारे 'सूर' कहाँ बिसरायो ॥

६२—राग धनाश्री

प्रभु मेरे अवगुन न बिचारो ।
धरि जिय लाज सरन आये की रबिसुत त्रास निवारो ॥
जो गिरिपति मसि घोरि उदधि में लै सुरतरु जिन हाथ ।
मम कृत दोस लिखै बसुधा भरि तऊ नहीं मिति नाथ ॥
कपटी कुटिल कुचालि कुदरसन अपराधी मति हीन ।
तुम्हहिं समान और नहिं दूजो जाहि भजौं है दीन ॥
जोग जग्य जप तप नहिं कीनो बेद बिमल नहिं भाख्यो ।
अति रसलुब्ध स्वान जूठन ज्यों अनतै ही मन राख्यो ॥
जिहि जिहि जोनि फिरो संकट बस तिहि तिहि यहै कमायो ।
काम क्रोध मद लोभ ग्रसित हैं विषै परम विष खायो ॥
अलख अनंत दयालु दयानिधि अघमोचन सुखरासा ।
भजन प्रताप नाहिनै जान्यो बँध्यो काल की फाँसा ॥
तुम सरबग्य सबै बिधि समरथ असरन-सरन मुरारि ।
मोह समुद्र 'सूर' बूड़त है लीजै भुजा पसारि ॥

चित्र किये—चित्रित किये । ततखन—इसी समय, तुरंत । धुति धुति—छल छल कर । अंतक—यमराज । (६२) रबिसुत—यमराज । मिति—हद ।

बड़े पतित नाहिन पासंगहु अजामेल को जो जु बिचारो।
भाजै नरक नाउँ मेरो सुनि जमहु देय हठि तारो॥
छुद्र पतित तुम तारे श्रीपति अब न करो जिय गारो।
'सूरदास' सांचो तब मानै जब होय मम निस्तारो॥

५९—राग धनाश्री

पतितपावन हरि बिरद तुम्हारो कौने नाम धरयो।
हौं तो दीन दुखित अति दुर्बल द्वारे रटत परयो॥
चारि पदारथ दए सुदामहिं तंदुल भेंट धरयो।
द्रुपदसुता को तुम पति राखी अंबर दान करयो॥
संदीपन-सुत तुम प्रभु दीने विद्यापाठ करयो।
'सूर' की बिरियाँ निठुर भये प्रभु मेरो कछु न सरयो॥

६०—राग केदारो

प्रभु तुम दीन के दुख हरन।
स्याम सुन्दर मदनमोहन बानि असरन-सरन॥
दूरि देखि सुदाम आवत धाय द्रुत परयो चरन।
लच्छ सों बहु लच्छि दीनी बानि अवढर ढरन॥
बधे कौरव, भंजि सुरपति, बने गिरवर-धरन।
'सूर' प्रभु की कृपा जाकर भक्त जन सब तरन॥

६१—राग गुर्जरी

प्रभु बिनु कोऊ काम न आयो।
यह झूठो माया के लागे रतन सो जनम गँवायो॥

---

(५८) पासंग—तराजू में पलरों की कसर। जमहु.....तारो—यमराज भी नरक के ताले बंद कर लें। गारो—गौरव, घमंड। निस्तार—मोक्ष। (५९) तंदुल—चावल। अंबर—कपड़ा। बिरियाँ—समय, बारी। (६०) बहु—अधिक। लच्छि—लक्ष्मी, धन। अवढर ढरन—बेकायदा कृपा करने वाले। भंजिसुरपति—इन्द्र का मान भंग करके। (६१) लागे—वास्ते।

कंचन कलस विचित्र चित्र किये रचि रचि भवन बनायो ।
तामें तें ततखन गहि काढ्यौ पलु एक रहन न पायो ॥
हौं तुम्हरे सँग जाऊँगी कहि तिय धुति धुनि धन खायो ।
चलत रही मुख मोरि चोरि सब एकौ पगु नाहिन पहुँचायो ॥
बोलि बोलि सुत स्वजन मित्र जन लीन्हों सुजस सुहायो ।
परयो जू काम अंत अंतक सौ उहं ढिग कोउ न बँधायो ॥
कोटि जनम भ्रमि भ्रमि हौं हारयो हरिपद चित न लगायो ।
और पतित तुम बहुत उधारे 'सूर' कहाँ बिसरायो ॥

६२—राग धनाश्री

प्रभु मेरे अवगुन न बिचारो ।
धरि जिय लाज सरन आये की रबिसुत त्रास निवारो ॥
जो गिरिपति मसि घोरि उदधि में लै सुरतरु जिन हाथ ।
मम कृत दोस लिखैं बसुधाभरि तऊ नहीं मिति नाथ ॥
कपटी कुटिल कुचालि कुदरसन अपराधी मति हीन ।
तुम्हहि समान और नहिं दूजो जाहि भजौं है दीन ॥
जोग जग्य जप तप नहिं कीनो बेद बिमल नहिं भाख्यो ।
अति रसलुब्ध स्वान जूठन ज्यों अनतै ही मन राख्यो ॥
जिहि जिहि जोनि फिरो संकट बस तिहि तिहि यहै कमायो ।
काम क्रोध मद लोभ ग्रसित हैं विषै परम विष खायो ॥
अलख अनंत दयालु दयानिधि अघमोचन सुखरासा ।
भजन प्रताप नाहिनै जान्यो बँध्यो काल की फाँसा ॥
तुम सरबग्य सबै बिधि समरथ असरन-सरन मुरारि ।
मोह समुद्र 'सूर' बूड़त है लीजै भुजा पसारि ॥

चित्र किये—चित्रित किये । ततखन—इसी समय, तुरंत । धुति धुति—छल छल कर । अंतक—यमराज । (६२) रबिसुत—यमराज । मिति—हद ।

६३—राग नट

प्रभु मेरे औगुन चित न धरो।
समदरसी प्रभु नाम तिहारो अपने पनहि करो॥
इक लोहा पूजा में राखत इक घर बधिक परो।
यह दुविधा पारस नहिं जानत कंचन करत खरो॥
एक नदिया एक नार कहावत मैलो नीर भरो।
जब मिलिकै दोउ एक बरन भए सुरसरि नाम परो॥
एक जीव इक ब्रह्म कहावत 'सूर' स्याम झगरो।
अबकी बेर मोहि पार उतारो नहि पन जात टरो॥

६४—राग सारंग

प्रभु हौं बड़ी बेर को ठाढ़ो।
और पतित तुम जैसे तारे तिनहीं में लिखि काढ़ो॥
जुग जुग यहै बिरद चलि आयो टेरि कहत हौं ताते।
मरियत लाज पाँच पतितन में हौंऽब कहौ घटि का ते॥
कै प्रभु हारि मानि कै बैठहु कै करौ बिरद सही।
'सूर' पतित जो झूठ कहत है देखो खोलि बही॥

६५—राग धनाश्री

प्रभु हौं सब पतितन को टीको।
और पतित सब द्यौस चारि के हौं जनमान्तर ही को॥
बधिक अजामिल गनिका तारी और पूतना ही को।
मोहि छाँड़ि तुम और उधार मिटै सूल क्यों जी को॥
कोउ न समरथ अघ करिबे को खैंचि कहत हौं लीको।
मरियत लाज 'सूर' पतितनि में मोहू तैं को नीको॥

---

(६४) ऽब—अब। बही—कागज (हिसाब का)। (६५) द्यौस चारि के—थोड़े दिनों के। लीक खैंचि कै कहत हौं—शर्त करके कहता हूँ।

६६—राग नट

प्रभु मैं सब पतितन को राजा।
को करि सकत बराबरि मेरी पाप किए तर-ताजा ॥
सहज सुभाव चलै दल आगे काम क्रोध को बाजा।
निंदा छत्र ढुरै सिर ऊपर कपट कोटि दरवाजा ॥
नाम मोर सुनि नरकहु काँपै जमपुर होत अवाजा।
'सूर' पतित को ठाँव नहीं है तुम ही पतित-नेवाजा ॥

६७—राग सारंग

प्रभु हौं सब पतितन को राजा।
पर निन्दा मुख पूरि रह्यो, जग यह निसान नित बाजा ॥
तृसना देस रु सुभट मनोरथ इन्द्रिय खड्ग हमारे।
मंत्री काम कुमत दैबे को क्रोध रहत प्रतिहारे ॥
गज अहँकार चढ्यो दिग-विजयी लोभ छत्र धरि सीस।
फौज असत-संगति की मेरी ऐसो हौं मैं ईस ॥
मोह मदै बन्दी गुन गावत मागध दोष अपार।
'सूर' पाप को गढ़ दृढ़ कीनो मुहकम लाइ किवार ॥

६८—राग केदारो

बन्दौं चरन सरोज तुम्हारे।
जे पदपदुम सदा सिव के धन सिंधुसुता उर तें नहिं टारे ॥
जे पदपदुम परसि भई पावन सुरसरि दरस कटत अघ भारे।
जे पदपदुम परसि ऋषिपत्नी, बलि, नृग, व्याध, पतित बहु तारे ॥

---

(६६) तरताजा—नये। अवाजा—शोर। पतितनेवाज—पतितोद्धारक। (नोट) रूपक अलंकार। (६७) कुमत—बुरी सलाह। प्रतिहार—दरबान। मुहकम—(फा०) दृढ़। (६८) सिंधुसुता—लक्ष्मी। ऋषिपत्नी—अहल्या।

हौं पतित अपराधपूरन भर्‌यो कर्म बिकार।
काम कुटिल रु लोभ चितवनि नाथ तुमहिं बिसार।
उचित अपनी कृपा कीजै तबहिं जान्यो जाय।
सोइ करहु जेहि चरन सेवै 'सूर' जूठनि खाय॥

८३—राग सारग

मेरे जिय ऐसी आनि बनी।
छाँड़ि गोपाल और जो सुमिरो तो लाजै जननी॥
मन क्रम बचन और नहिं चितवौं, जब तक स्याम धनी।
बिषय को मेरु कहा लै कीजै, अमृत एक कनी॥
का लै करौं काँच को संग्रह त्यागि अमोल मनी।
'सूरदास' भगवंत भजन को तजी जाति अपनी॥

८४—राग देवगंधार

मेरो मन अनत कहाँ सुख पावै।
जैसे उड़ि जहाज को पंछी फिरि जहाज पर आवै॥
कमल नैन को छाँड़ि महातम और देव को ध्यावै।
परम गंग को छाँड़ि पियासो दुरमति कूप खनावै॥
जिन मधुकर अंबुज रस चाख्यो क्यों करील फल खावै।
'सूरदास' प्रभु कामधेनु तजि छेरी कौन दुहावै॥

८५—राग धनाश्री

मेरो मन मतिहीन गुसाईं।
सब सुखनिधि पदकमल बिसारे भ्रमत स्वान की नाईं॥
वृथा भ्रमत भोजन अवगाहत सूने सदन अजान।
यहि लालच अटक्यौ कैसे हू तृपिति न पावत प्रान॥

---

(८३) लाजै जननी—माता को धिक्कार है। (८४) जहाज को पंछी—(जैसे काग जहाज को सूझत और न ठौर—तुलसी)। अंबुज—कमल। छेरी—बकरी। (८५) अवगाहत—तलाश करता है।

जहँ जहँ जात तहीं भय त्रासत असम, लकुटि, पदत्रान।
कौर कौर कारन कुबुद्धि जड़ किते सहत अपमान॥
परमदयालु विश्वपालक प्रभु सकल हृदै निज नाथ।
ताहि छाँड़ि यह 'सूर' महाजड़ भ्रमत भ्रमनि के साथ॥

८६—राग कल्याण

मैं अघ-सागर पैरन लीन्हो।
उन पतितन की देखा-देखी पीछे सोच न कीन्हो॥
अजामील गनकाहि आदि दै पैरि पार गह्यो पैलो।
संग लगाय बीचही छाँड्यो निपटहि नाथ अकेलो॥
मो देखत सब हँसत परस्पर तारी दै दै घाट।
कीनी कथा पाछिलनु की सी गुरु दिखाय दइ ईंट॥
अत्र गंभीर नीर नहिं सूझतु क्योंकरि उतरो जाव।
नहीं अधार नाम अवलंबनु तिहि हित डुबकी खात॥
तुम कृपालु करुनामय श्मव अब हौं बूड़त माँह।
कहत 'सूर' चितवो अब स्वामी दौरि पकरि ल्यो बाहँ॥

८७—राग टोड़ी

मो सो पतित न और गुसाईं।
अवगुन मो तें अजहुँ न छूटत, भली तजी अब ताईं॥

असम—(अश्म) पत्थर। (८६) पैरन लीन्हो—पैरने लगा हूँ। पैलो-पार—वह किनारा, दूसरी ओर का तट। घंट—(धृष्ट) वेश्या। गुरु दिखाय ईंट देना—(मुहावरा है) अच्छी आशा दिला कर बुरा बर्ताव करना। तिहि हित—इसी कारण। माह—(मध्य), बीचोबीच। (८७) भली—भलाई, अच्छे गुण।

जनम जनम यों ही भ्रमि आयो कपि गुंजा की नाईं।
परसत सीत जात नहिं क्योंहूँ लै लै निकट बनाईं॥
मोह्यो जाइ कनक कामिनि सों ममता मोह बढ़ाई।
जिह्वया स्वाद मीन ज्यों उरझा सूझत नाहिं फँदाई॥
सोवत मुदित भयो सपने में पाई निधि जु पराई।
जागि परयो कछु हाथ न आयो यह जग की प्रभुताई॥
परसे नाहिं चरन गिरिधर के बहुत करी अन्याई।
'सूर' पतित को ठौर और नहिं राखि लेहु सरनाई॥

८८—राग देवगंधार

मोहि प्रभु तुम मो होड़ परी।
ना जानौ करिहौ जु कहा तुम नागर नवल हरी॥
पतित समूहनि उद्धरिबे को तुम जिय जक पकरी।
मैं जु राजिवनैननि दुरि गयो पाप-पहार दरी॥
एक अधार साधु संगति को रचि पचि कै सँचरी।
भई न सोचि सोचि जिय राखी अपनी धरनी धरी॥
मेरी मुकति बिचारत हौ प्रभु पूँछत पहर घरी।
स्रम ते तुम्हे पसीनो ऐहैं कत यह जकनि करी॥
'सूरदास' बिनती कहा बिनवै दोसहि देह भरी।
अपनो बिरद सँभारहुगे तब यामें सब निनुरी॥

कपिगुंजा की नाईं—जंगल में जाड़े के दिनों में बंदर गुंजा एकत्र करके उन्हें अग्निकण समझ कर तापते रहते हैं (ऐसी कवि कल्पना है) धोखे में पड़ा हुआ। फँदाई—फंदा, जाल व वंशी की कँटिया। अन्याई—अन्याय, अत्याचार, पाप। सरनाई—शरण में (८८) दरी—कंदरा। जक—हठ। कत.....करी—ऐसी हठ क्यों की है। निनुरी—निभ जायगी।

८६—राग धनाश्री

रे बौरे छाँड़ि विषै को रचिबो।
कत तू सुआ होत सेंवर को अंत कपासन पचिबो॥
कनक कामिनी अनंग तरंगन हाथ रहैगो लचिबो।
तजि अभिमान कृस्न कहि बौरे न नरक ज्वाला तचिबो॥
सद्गुरु कह्यौ कह्यौं हौं तासों कृस्न रतन धन सचिबो।
'सूरदास' स्वामी सुमिरन बिनु जोगी कपि ज्यों नचिबो॥

९०—राग टोड़ी

रे मन कृस्न नाम कहि लीजै।
गुरु के वचन अटल करि मानहु साधु समागम कीजै॥
पढ़िये गुनिये भगति भागवत और कहा कथि कीजै।
कृस्न नाम बिनु जनम बादि ही वृथा जिवन कहा जीजै॥
कृस्न नाम रस बह्यो जात है तृषावंत ह्वै पीजै।
'सूरदास' हरि सरन ताकिये जनम सफल करि लीजै॥

९१—राग गुर्जरी

रे मन मूरख जनम गँवायो।
करि अभिमान विषय सों राच्यौ स्याम सरन नहिं आयो॥
यह संसार फूल सेंवर को सुन्दर देखि भुलायो।
चाखन लग्यो रुई उधरानी हाथ कछू नहिं आयो॥
कहा भयो अब के मन सोचे पहले नाहिं कमायो।
कहै 'सूर' भगवंत भजन बिनु सिर धुनि धुनि पछितायो।

---

(८९) सेंवर को सुआ—धोखे में पड़ा हुआ व्यक्ति। कपासन—भुआओं में। सचिबो—संचित करना। (९१) जनम—जीवन। राच्यो—अनुरक्त रहा। सेंवर—सेमल (शाल्मली वृक्ष)। उधरानी—उड़ने लगी।

६२—राग रामकली

सरन गये के। को न उबार्‌यो।
जब जब भीर परी भगतन पै चक्र सुदरसन तहाँ सँमार्‌यो॥
भयो प्रसाद जु अम्बरीष पै दुरबासा को क्रोध निवार्‌यो।
ग्वालन हेतु धर्‌यो गोबरधन प्रगट इन्द्र के। गर्व प्रहार्‌यो॥
करी कृपा प्रह्लाद भगत पै खंभ फारि उर नखन बिदार्‌यो।
नरहरि रूप धर्‌यो करुना करि छिनक माँहि हिरनाकुस मा्‌यो॥
ग्राह ग्रसित गज की जल बूड़त नाम लेत तुरतै दुख टार्‌यो।
'सूर' स्याम बिन और करै को रंगभूमि में कंस पछार्‌यो॥

६३—राग कल्याण

सबनि सनेहो छाँड़ि दयो।
हा जदुनाथ जरा तन ग्राम्यो रूपउ उतरि गयो॥
सोइ तिथि बार नक्षत्र सोइ करन जोग ठटयो।
अब वे आँक फेरि नही बाँचत गत स्वारथ समयो॥
बरस घोस में होत पुरानो फिर सब लिखत नयो।
हरो गहत निर्माल्य इस ज्यों अति यहि तापु तयो॥
सोइ धन धामु नामु सो कुल सोइ मोइ बपु सब बिढ़यो।
अब तौ सबको बदन स्वान लौं चितवत दूरि भयो॥
दारा सुत हित चित सज्जन सब काहु न सांचि लयो।
संसृत दोस बिचारि 'सूर' धनि जो हरि सरन गयो॥

---

(६२) प्रसाद भयो—प्रसन्नता हुई। हिरनाकुस हिरण्यकश्यप। (६३) रूपउ उतरि गयो—रूप भी जाता रहा। गत स्वारथ समयो—वह समय चला गया जिससे स्वार्थसाधन होता था। निर्माल ईश—शिव पर चढ़ाई हुई वस्तु जो अग्राह्य होती है। बिढ़यो—कमाया।

९४—राग धनाश्री

सबै दिन एकै से नहिं जात।
सुमिरन भगति लेहुकरि हरि की जौ लगि तन कुसलात॥
कबहुँक कमला चपल पाय कै टेढ़ेइ टेढे जात।
कबहुँक मग मग धूरि बटोरत भोजन कों बिलखात।
बालापन खेलत ही खोयो भगति करत अरसात।
'सूर' दास स्वामी के सेवत पैहो परम पद तात॥

९५—राग धनाश्री

सबै दिन गये विषय के हेतु।
देखत ही आपुनपौ खोयो केस भये सब सेत॥
रुध्यो स्वाँस मुख बैन न आवत चंद्रा लगीं सँकेत।
तजि गंगोदक पिये कूप जल पूजत गाड़े प्रेत॥
करि प्रमाद गोबिन्द बिसारे बूड्यौ सबनि समेत।
'सूर दास' कछु खरचु न लागतु कृस्न सुमिर किन लेत॥

९६—राग धनाश्री

सोइ भलो जो हरि जस गावै।
स्वपच गरिस्ट, हेति रजसेवक, बिनु गोपाल द्विज जन्म नसावै॥
जोग जग्य जप तप तीरथ भ्रमे जहँ जहँ जाय तहाँ डहकावै।
होय अटल भगवंत भजन तें अन्य आस नस्वर फल पावै॥
कहूँ न ठौर चरन पंकज बिनु जो दसहू दिसि फिर फिर आवै।
'सूरदास' प्रभु साधु संग तें आनन्द अभय निसान बजावै॥

---

(९४) जौलगि—जबतक। कुसलात—खैरियत, भला चंगा (९५) चन्द्रा लगना—मरने के समय की दशा। संकेत—संकटमय। गाड़े प्रेत—मुर्दा प्रेतादि। (९६) रजसेवक—धोबी। निसान—डङ्का, नगाड़ा

९७—राग कान्हरो

सोइ रसना जो हरिगुन गावै।
नैननि की छबि यहै, चतुर सोइ जो मुकुन्द दरसन हित धावै॥
निर्मल चित्त सो, सोई साँचो, कृस्न बिना जिहिं अवरु न भावै।
स्रवनन की जु यहै अधिकाई हरिजस नितप्रति स्रवनन प्यावै॥
कर तेई जु स्याम कों सेवैं चरननि चलि बृन्दावन जावै।
'सूरदास' है बलि ताकी जो संतन सों प्रीति बढ़ावै॥

९८—राग धन श्री

हमें नँदनंदन मोल लियो।
जम की फाँसि काटि मुकरायो अभय अजात कियो॥
मूँड़ मुँड़ाय कंठ बनमाला चक्र के चिन्ह दियो।
माथे तिलक स्रवन तुलसीदल मेटेव अंग बियो॥
सब कोउ कहत गुलाम स्याम को सुनत सिरात हियो।
'सूरदास' प्रभु जू को चेरो जूठनि खाय जियो॥

९९—राग नट

हरि सों ठाकुर और न जन को।
जेहि जेहि विधि सेवक सुख पावै तेहि बिधि राखत तिनको॥
भूखे बहु भोजन जु उदर कों तृषा, तोय, पट तन को।
लग्यो फिरत सुरभी ज्यों सुत सँग उचित गमन गृह बन को॥
परम उदार चतुर चिंतामनि कोटि कुबेर निधन को।
राखत हैं जन की परतिग्या हाथ पसारत कन को॥
संकट परे तुरत उठि धावत परम सुभट निज पन को।
कोटिक करैं एक नहिं मानै 'सूर' महा कृतघन को॥

---

(९८) मुकरायो—छोड़ाया। अजात—जो न जन्मै (मुक्त)। अंग बियो—दूसरा शरीर, दूसरा जन्म। (९९) तोय—जल। कन—भिक्षा। कृतघन को—कृतघ्न का बेटा।

१००—राग धनाश्री

हरि सो मीत न देख्यौं कोई।
अंतकाल सुमिरत तेहि अवसर आनि प्रतिच्छो होई॥
ग्रह गहे गजपति मुकरायो हाथ चक्र लै धायो।
तजि वैकुंठ गरुड़ तजि श्री तजि निकट दास के आयो॥
दुरवासा को साप निवार्यो अंबरीष पति राखी।
ब्रह्मलोक परयंत फिरयौ तहँ देव मुनीजन साखी॥
लाखागृह तें जरत पांडु-सुत बुधि बल नाथ उबारे।
'सूरदास' प्रभु अपने जन के नाना त्रास निवारे॥

१०१—राग बिलावल

हरि हरि हरि हरि सुमिरन करौ।
हरि चरनारबिंद उर धरौ॥
हरि की कथा होइ जब जहाँ।
गंगा हू चलि आवैं तहाँ॥
जमुना सिंधु सुरसती आवै।
गोदावरी बिलम्ब न लावै॥
सब तीर्थन को बासा तहाँ।
'सूर' हरि-कथा होवै जहाँ॥

१०२—राग सारंग

हरि के जन सब तें अधिकारी।
ब्रह्मा महादेव तें को बड़ तिनके सेवक भ्रमत भिखारी॥
जाँचक पै जाँचक कह जाँचै जो जाँचै तौ रसना हारी।
गनिका पूत सोभ नहिं पावत जिन कुल कोऊ नहीं पिता री॥

---

(१००) प्रतिच्छो होई—प्रत्यक्ष होते हैं। मुकरायो—छोड़ाया।

तिनकी साखि देखि हिरनाकुस रावन कुटुम समेत भे ख्वारी।
जन प्रहलाद प्रतिग्या पारी बिभीखन जु अजहूँ राजा री॥
सिला तरी जलमाँझ सेतु बँधि बलि बहि चरन अहिल्या तारी॥
जे रघुनाथ सरन तकि आये तिनकी सकल आपदा टारी॥
जिहि गोबिन्द अचल ध्रुव राख्यो प्रह् दहिनाप्रत देत सदा री।
'सूरदास' भगवंत भजन बिनु धरती जननि बोझ कत मारी॥

१०३—राग गौरी

हरि दासनि की सबै बड़ाई।
अंबरीष हित द्विज दुरवासा चक्र छाँड़ि, कै कूक पराई॥
दानव दुष्ट असुर को बालक ता हित सब मरजादा ढाई।
भगतराज कुंती के सुत हित रथ चढ़ि आपुन लीनि लड़ाई॥
सिव ब्रह्मा जाकों बर दीनों अंत सबनि की खोज कढ़ाई।
हरि पद कमल प्रताप तेज तें ध्रुव पदवी लै सिखर चढ़ाई॥
अजामिल गनिकारत द्विजसुत सुत सुमिरत जम त्रास हटाई।
गज दुख जानि तबहि उठि धाये ग्राह मुखनि ते बिपति छोड़ाई॥
कौरव राज-पंथ रचना करि श्रीपति को शोभा दिखराई।
आपुन बिदुर सदन पगु धारे सदा सुभाव साधु सुखदाई॥
सकल लोक कीरति भली गावै हरि जन प्रेम निसान उड़ाई।
कहँ लौं कहौं कृपासागर को 'सूरदास' नाहिन सुघराई॥

१०४—राग सारंग

हरि हौं सब पतितन को नायक।
को करि सकै बरापरि मेरी और नहीं कोउ लायक॥

---

(१०२) ख्वारी—खराब, नष्ट। (१०३) बालक—प्रहलाद। खोज कढ़ाई—निशान मिटा दिया। सिव ब्रह्मा......कढ़ाई—इसमें रावण-हिरण्यकश्यपादि की ओर इशारा है। कौरव......दिखराई—कौरवों के विभव की ओर इशारा है। हरिजन......उड़ाई—दासों की ख्यात की।

जैसो अजामिल को दीनो सोइ पटो लिखि पाऊँ।
तौ बिस्वास होइ मन मेरे औरो पतित बुलाऊँ॥
यह मारग चौगुनो चलाऊँ तौ पूरो ब्योपारी।
वचन मानि लै चलौं गाँठि दै पाऊँ सुख अति भारी॥
यह सुनि जहाँ तहाँ ते सिमटैं आइ होइँ इक ठौर।
अब की तौ अपनी लै आयौं, बेर बहुरि की और॥
होड़ाहोड़ी मन हुलास करि किये पाप भरि पेट।
सबै पतित पाँयन तर डारौं इहै हमारी भेंट॥
बहुत भरोसो जानि तुम्हारो अघ कीन्हे भरि भाँड़ो।
लीजै नाथ निबेरि तुरतहिं 'सूर' पतित को टाँड़ो॥

१०५—राग केदारो

है हरि नाम को आधार।
और यह कलिकाल नाहिन रह्यो विधि ब्यौहार॥
नारदादि सुकादि संकर कियो यहै बिचार।
सकल श्रुति-दधि मथत पायो इतनोई घृत सार॥
दसहु दिसि गुन कर्म रोक्यो मीन को ज्यों जार।
'सूर' हरि को भजन करतहिं मिटि गयो भव भार॥

१०६—राग नट

हैं प्रभु! मोहू तें बढ़ि पापी?
घातक कुटिल चवाई कपटी मोह क्रोध संतापी॥
लपट भूत पूत दमरी को विषय जाप नित जापी।
काम बिबस कामिनि ही के रस हठ करि मनसा थापी॥

---

(१०४) पटो—पट्टा, सनद। भरि भाँड़ो—भाँड़े भर (बहुत) से। टाँड़ो—बरदी, बनजारे के बैलों का समूह।

भच्छ अभच्छ अपै पीवन को लोभ लालसा घापी।
मन क्रम बचन दुसह सबहिन सों कटुक बचन आलापी॥
जेते अधम उधारे प्रभु तुम मैं तिन्हकी गति मापी।
सागर 'सूर' बिकार जल भरो बधिक अजामिल बापी॥

१०७—राग सारंग

हौं तो पतित सिरोमनि माधो!
अजामिल बातन ही तारयौ सुन्यो जो मोतें आधो॥
कै प्रभु हार मानि कै बैठहु कै अबहीं निसतारो।
'सूर' पतित को ठौर और नहिं है हरिनाम सहारो॥

१०८—

मो सम कौन कुटिल खल कामी।
जिन तनु दियो ताहि बिसरायो ऐसो नोनहरामी॥
भरि भरि उदर विषय को धावौं जैसे सूकर ग्रामी।
हरिजन छाँड़ि हरिबिमुखन की निस दिन करत गुलामी॥
पापी कौन बड़ो है मो तें सब पतितन में नामी।
'सूर' पतित को ठौर कहाँ है, सुनिये श्रीपति स्वामी॥

---

(१०६) अपै—अपेय पदार्थ। घापी—दौड़ी। आलापी—बोलनेवाला। बापी—बावड़ी।

दूसरा रत्न

—:o:—

बालकृष्ण

१—राग बिलावल

नंदराइ के नवनिधि आई।
माथे मुकुट, स्रवन मनि कुंडल, पीत बसन भुज चारि सुहाई॥
बाजत ताल मृदंग जंत्र गति सुरुचि अरगजा अंग चढ़ाई।
अच्छत दूब लिए सिर वंदत, घर घर बंदनवार बँधाई॥
छिरकत हरद दही हिय हरषत, गिरत अंक भरि लेत उठाई।
'सूरदास' सब मिलत परसपर दान देत नहिं नंद अघाई॥

---

(१) ताल—मंजीरा। जंत्र—वे बाजे जिनमें तार लगे होते हैं (सितार, सारंगी इत्यादि)। सुरुचि—अच्छा। अरगजा—एक प्रकार का सुगंधित लेप। अच्छत—चावल। अच्छत दूब लिये सिर—चावल और दूब सिर पर रख कर। वंदत—सबको नमस्कार करते हैं। हरद—हल्दी। गिरत......उठाई—हल्दी और दही की अधिकता से कीचड़ में रपट कर जो लोग गिर जाते हैं, उन्हें लोग अँकवार भर कर उठा लेते हैं।

(नोट)—ऐसे उत्सव के समय में हल्दी और दही इतनी अधिकता से खर्च होता है कि भूमि पर गिर कर कीचड़ तक हो जाता है। इसको दधिकाँदो कहते हैं। (देखो पद नं० ५)।

२—राग रामकली

हौं एक बात नई सुनि आई।
महरि जसोदा ढोटा जायो घर घर होत बधाई॥
द्वारे भीर गोप गोपिन की महिमा बरनि न जाई।
अति आनंद होत गोकुल में रतन भूमि सब छाई॥
नाचत तरुन वृद्ध अरु बालक गोरस कीच मचाई।
'सूरदास' स्वामी सुख-सागर सुन्दर स्याम कन्हाई॥

३—राग रामकली

हौं सखि नई चाह इक पाई।
ऐसे दिनन नंद के सुनियत उपजे पूत कन्हाई॥
बाजत पनव निसान पंचविधि रुंज, मुरज, सहनाई।
महर महरि ब्रज हाट लुटावत आनँद उर न समाई॥
चलौ सखि हमहूँ मिलि जैये वेगि करौ अतुराई।
कोउ भूषन पहिर्‌यो कोउ पहिरति कोउ वैसेहि उठि धाई॥
कंचन थार दूब दधि रोचन गावत चलीं बधाई।
भाँति भाँति बनि चलीं जुवतिगन यह उपमा मोपै नहिं आई॥
अमर विमान चढ़े नभ देखत जै-धुनि सबद सुनाई।
'सूरदास' प्रभु भगत हेतु-हित, दुष्टन के दुखदाई॥

---

(२) ढोटा—बेटा। भूमि रतन छाई—भूमि पर बहुत से रत्न छिटके पड़े हैं। गोरस कीच मच ई—दही इतना लुढ़का है कि कीचड़ हो गया है (३) चाह—खबर, सूचना। ऐसे दिनन—बुढ़ापे में। पनव—ढोल। निसान—नगाड़े। पंचविधि—पाँच तरह के (तन्त्री, ताल, झाँझ, नगाड़ा, तुरही)। रुंज—झाँझ (वह बाजा जो झंकार देता हो)। मुरज—पखावज, मृदंग। महर—नंदजी। महरि—यशोदाजी। वेगि करो—शीघ्रता करो। अतुराई—उत्सुक होकर। रोचन—पिसी हुई हल्दी। भगत हेतु-हित—भक्तों के लिये हितुवा।

४—राग धनाश्री

आजु नंद के द्वारे भीर।
एक आवत एक जात बिदा होई एक ठाढ़े मंदिर के तीर॥
कोउ केसर कोउ तिलक बनावत कोऊ पहिरत कंचुकि चीर।
एकन को दै दान समरपत एकन को पहिरावत चीर॥
एकन को भूषन पाटंबर एकन को जु देत नग हीर।
एकन को पुहुपन की माला एकन को चंदन घसि बीर॥
एकन को तुलसी की माला एकन को राखत दै धीर।
'सूरस्याम' घनस्याम सनेही धन्य जसोदा पुन्य सरीर॥

५—राग काफी

आजु हो बधायो बाजै नन्द गोपराइ के।
जेहि घर माधव जनम लियो आइ के॥
आनंदित गोपी ग्वाल, नाचैं कर दै दै ताल,
अति अहलाद भयो जसुमति माइ के।
सिर पर दूब धरि, बैठे नंद सभा मधि,
दुजन को गाइ दीनी बहुत मँगाइ के॥
कंचन माटो मँगाइ हरद दही मिलाय,
छिरकैं परसपर छल बल धाइ के।
आठैं कृस्नपच्छ भादौं, महर के दधिकाँदो,
मोतिन बँधायो बार महल मैं जाइ के॥

---

(४) तीर—निकट। कंचुकि—कुर्ता, मिरजई इत्यादि। समरपत—सौंपते हैं। पाटंबर—रेशमी कपड़े। हीर—हीरा। पुण्यशरीर—पुण्यश्लोक, धर्मात्मा, सुकृती। (५) अहलाद—आनंद। माटो—(माट) घड़ा, कलश। दधिकाँदो—(सं० दधिकर्दम) दही का कीचड़। पुत्रजन्मोत्सव में हल्दीयुक्त दही लोगों पर छिड़का जाता है, गरीबों को दही मिठाई भी खिलाई जाती है। इसी उत्सव को दधिकाँदो कहते हैं।

ढाढ़ी औ ढाढ़िनि गावैं, द्वार पै ठाढ़े बजावैं,
हरषि असीस देत मस्तक नवाइ के।
जोई जोई माँग्यो जिन, सोई सोई पायो तिन,
दीजै 'सूर' दरसन निकट बुलाइ के॥

६—राग जैतश्री

आजु बधाई नंद के माई।
सुंदर नंद महर के मंदिर। प्रगट्यो पूत सकल सुखकंदर॥
जसुमति ढोटा व्रज की सोभा। देखि सखी कछु औरै लोभा॥
लछिमी सी जहँ मालिन बोलै। बंदन-माला बाँधत डोलै॥
द्वार बुहारत फिरत अस्ट सिधि। कौरेन सथिया चीतत नवनिधि॥
घर घर तें गोपी गवनी जब। रँगी गलिन बिच भीर भई तब॥
सुबरन थार रहे हाथन लसि। कमलन चढ़ि आए मानो ससि॥
उमगी प्रेम नदी छबि पावै। नंद-नंद सागर को धावै॥
कंचन कलस जगमगे नग के। भागे सकल अमंगल जग के॥
डोलत ग्वाल मनो रन जीते। भए सबहि के मन के चीते॥
अति आनंद नंद रस भीने। परबत सात रतन के दीने॥
कामधेनु तें नेक नवीनी। द्वै लख धेनु द्विजन कौं दीनी॥

बार—द्वार। ढाढ़ी—एक पौनी विशेष जो मंगल कार्यों में जजमान के द्वारे नाचते हैं। (देखो पद नं० ८ और ९) (६) सुखकंदर—सुखकंद (सुख बरसानेवाला बादल)। कौरे—द्वारे का पक्खा। सथिया—स्वस्तिक चिह्न, जो मंगल कार्यों के समय दीवारों में बनाया जाता है। चीतत—चित्रित करती हैं, बनाती हैं। नंदनंद—कृष्ण। भए........मन के चीते—मन के अभिलाष पूरे हुए। परबत......दीने—बहुत से रत्न दान में दिये।

७—राग धनाश्री

दुःख गयो सुख आयो सबन्ह को दियो पुत्रफल मानौ।
तुमरो पुत्र प्रान सबहिन को भवन चतुरदस जानौ॥
हौं तो तुम्हरे घर को ढाढी नावँ 'सेन' सज पाऊँ।
गृह गोवर्धन बास हमारो घर तजि अनत न जाऊँ॥
ढाढ़िनि मेरी नाचै गवै हौं ही खड़ी बजावौं।
हमरो चीत्यो भयो तुम्हारे जो माँगौं सो पावौं॥
अब तुम मोको करो अजाँची जो घर बार बिसारौं।
द्वारे रहौं देहु एक मंदिर स्याम स्वरूप निहारौं॥
हँसि ढाढ़िनि ढाढ़ी सों बोली अब तू बरनि बधाई।
ऐसो दियो न दैहै 'सूर' कोउ ज्यौं जसुमति पहिराई॥

८—राग धनाश्री

ढाढ़िनि दान मान की भाई।
नंद उदार भये पहिरावत बहुत भली बनि आई॥
जब जब जनम धरौं ढाढ़ी को जन्म करम-गुन गाऊँ।
अरथ, धरम, कामना मुकुति फल चारि पदारथ पाऊँ॥
लै ढाढ़िनि कंचन मनि मुकता नाना बसन अनूप।
हीरा रतन पटंबर हमको दीन्हैं व्रज के भूप॥
भली भई नारायन दरसे नैन निरखि निधि पाई।
जहँ तहँ बंदनवार बिराजत घर घर बजत बधाई॥

---

(७) नाँव 'सेन' सज पाऊँ—सेन नाम से शोभा पाता हूँ। मेरा नाम 'सेन' है। चीत्यो—इच्छित, मनचाहा। अजाँची—जो किसी से कुछ न माँगे (अर्थात् धन संपत्ति से पूर्ण) ज्यौं जसुमति पहिराई—जैसे यशोदा ने मुझे पहरावनी दी है—अर्थात् वस्त्र दिये हैं। (८) ढाढ़िनि दान मान की भाई—यह ढाढ़िनि केवल दान मान की भूखी रहती है। इसे दान मान ही भाता है। व्रज के भूप—नंद जी।

जो जाँच्यो सोई तिन पायो तुम्हरिच भई विदाई।
अगति देहुँ, पालने झुलावौं 'सूरदास' बलि जाई॥

९—राग धनाश्री

जसोदा हरि पालने झुलावै।
हलरावै दुलराइ मल्हावै जोइ सोई कछु गावै॥
मेरे लाल की आउ निदरिया काहें न आनि सुवावै॥
तू काहे न वेगि सी आवै तोको कान्ह बुलावै।
कबहुँ पलक हरि मूंदि लेते हैं कबहुँ अधर फरकावै।
सोवत जानि मौन ह्वै रहि रहि करि करि सैन बतावै॥
इहि अंतर अकुलाइ उठे हरि जसुमति मधुरे गावै।
जो सुख 'सूर' अमर मुनि दुरलभ सो नँदभामिनि पावै॥

१०—राग गौरी

हालरो हलरावै माता। बलि बलि जाउँ घोष-सुखदाता॥
जसुमति अपनो पुन्य विचारै। बार बार सिसु बदन निहारै॥
अँग फरकाय अलप मुसुकाने। या छवि पर उपमा को जाने॥

---

(९) हलरावै—हिलाती है। मल्हावै—चित बहलाती है, ऐसी बातें करती है जिससे बच्चे का मन प्रसन्न हो जाय। निदरिया—निद्रा। बेगि सी—अति शीघ्र (मुहावरा) मौन ह्वै...बतावै—मौन धारण करके थोड़ी थोड़ी देर में नौकर चाकरों को घर का काम हाथ के इशारे से बतलाती हैं, बात करने से शोर होगा और बच्चा जग जायगा। नँदभामिनि—यशोदा।

(नोट)—पाठक देखें कि इस पद में बच्चों की प्रकृति तथा वात्सल्य प्रेम का कैसा वर्णन है।

(१०) हालरो—बच्चे को गोद में लेकर हिलाने झुलाने की क्रिया। इससे बच्चे प्रसन्न होते हैं और रोना बंद करके सो जाते हैं। घोष—अहीरों की बस्ती।

(नोट)—इस पद में माताओं की एक क्रिया विशेष और बालकों की प्रकृति का वर्णन है।

हलरावति गावति कहि प्यारे । बालदसा के कौतुक भारे ॥
महरि निरखि मुख हिय हुलसानो । 'सूरदास' प्रभु सारंग-पानी ॥

११—राग धनाश्री

देखो यह विपरीत भई ।
अदभुत रूप नारि करि आई, कपट हेत क्यों सहै दई ॥
कान्है लै जसुमति कोरा तें रुचि करि कंठ लगाई ।
तब वह देह धरी जोजन लौ स्याम रहे लपटाई ॥
बड़े भाग हैं नंद महर के बड़ भागिन नँदरानी ।
'सूर' स्याम उर ऊपर पारे यह सब घर घर जानी ॥

१२—राग विहागरो

नेक गोपालै मोकों दै री ।
देखौं कमलबदन नीके करि ता पाछे तू कनियाँ लै री ॥
अति कोमल करचरन सरोरुह अधर दसन नासा सोहै री ।
लटकन सीस कंठ मनि भ्राजत मनमथ कोटि बारने गैरी ॥
बासर निसा विचारत हौं सखि यह सुख कबहुँ न पायो मैंरी ।
निगमन-धन, सनकादिक सरबसु, भाग बड़े पायो हैं तैं री ॥
जाके रूप जगत के लोचन कोटि चन्द्र रवि लाजत है री ।
'सूरदास' बलि जाई जसोदा गोपिन-प्रान पूतना वैरी ॥

---

(११) विपरीत भई—उलटी बात हुई । नारि—स्त्री वेषधारिणी पूतना राक्षसी । कपट हेत—छल मय प्रेम । दई—ईश्वर । कोरा—(सं० क्रोड) गोद । जोजन—(योजन) चार कोस या आठ मील का एक योजन होता है । पारे—पड़े हुए हैं । (१२) कनियाँ—(सं० कंध) गोद वा कंधा । निगमन धन—वेदों के धन । लटकन—घुँघुरुओं के झब्बे । बारने गै—निछावर है । जाके रूप—जिसके रूप से । जगत के लोचन—यह वाक्यांश चन्द्र और रवि का विशेषण है (चन्द्र सूर्य को 'लोकलोचन' कहते हैं) । लाजत भै—लज्जित भये (हुए) । गोपिन-प्राण, पूतना-वैरी—कृष्णजी ।

१३—राग बिलावल

गुपालै माई पालने झुलाए।
सुर मुनि कोटि देव तैंतीसौ देखन कौतुक छाए॥
जाको अंत न ब्रह्मा जानत सिव सनकादि न पाए।
सो अब देखो नंद जसोदा हरषि हरषि हलराए॥
हुलसत हुलसि करत किलकारी मन अभिलाष बढ़ाए।
'सूर' स्याम भगतन हित कारन नाना भेस बनाए॥

१४—राग बिलावल

कर गहि पग अँगूठा मुख मेलत।
प्रभु पौढ़े पालने अकेले हरषि हरषि अपने रँग खेलत॥
शिव सोचत, विधि बुद्धि बिचारत वट बाढ़्यो, सागर जल झेलत।
बिड़रि चले घन प्रलय जानि कै दिगपति दिगदंतिय न सकेलत॥
मुनिमन भीत भए भव कंपित, सेष सकुचि सहसौ फन फेलत।
उन ब्रजबासिन बात न जानी समुझे 'सूर' सकट पगु पेलत॥

---

(१३) छाए—ब्रज में आ बसे हैं। भगतन हित कारन—भक्तों के हित के लिये। (१४) अपने रँग—अपनी इच्छा के अनुसार। सागर जल झेलत—समुद्र अपने जल को उछालने लगा। बिड़रि चले—भाग चले। दिगपति—दिशाओं के स्वामी (इन्द्र, वरुण, यम, कुबेरादि)। दिग-दंती—दिग्गज। दिगपति......सकेलत—दिगपाल गण दिग्गजों को नहीं समेट सकते। फेलत—डोलाते हैं। सकट—गाड़ी; पगु पेलत—पैर से धक्का देते हैं। सकट पगु पेलत—'सकटासुर वध' लीला का वर्णन है।

(नोट)—इस पद में 'कर' पगु गहि अँगूठा मुख मेलत' ही, वैसे ही प्रलयकाल के लक्षण दिखाई पड़ने लगे जैसे मारकंडेय के प्रलय के समय हुए थे।

१५—राग बिलावल

चरन गहे अँगुठा मुख मेलत।
नंद घरनि गावति हलरावति पलना पर किलकत हरि खेलत ॥
जो चरनारविंद श्री भूषन उरते नेकु न टारति।
देखैा धैां का रसु चरनन मैं मुख मेलत करि आरति ॥
जा चरनारविंद के रस को सुर नर करत विवाद।
यह रस तो है मोको दुरलभ ताते लेत सवाद ॥
उछलत सिंधु, धराधर कांप्यो, कमठ पीठि अकुलाइ।
सेस सहसफन डोलन लागे हरि पीवत जब पाइ ॥
बढ़्यो वृक्ष बर, सुर अकुलाने गगन भयो उतपात।
महा प्रलय के मेघ उठे करि जहाँ तहाँ आघात ॥
करुना करी छाँड़ि पगु दीनो जानि सुरन मन संस।
'सूरदास' प्रभु असुर निकंदन दुष्टन के उर गंस ॥

१६—राग बिहाग

जसोदा मदन गुपाल सुवावै।
देखि सपन गत त्रिभुवन कंप्यो ईस बिरचि भ्रमावै ॥
असित अरुन सित आलस लोचन उभै पलक पर आवै।
जनु रबि गत संकुचित कमलयुग निसि अलि उड़न न पावै ॥
चौंकि चौंकि सिसु दसा प्रगट करैं छबि मन में नहिं आवै।
जानौ निसिपति धरि कर अमृत छिति भंडार भरावै ॥

---

(१५) करि आरति—बड़े शौक से। आघात—शब्द, गरज। संस—भय। दुष्टन के उर गंस—दुष्टों के हृदय में गाँसी से चुभनेवाले (कृष्ण)।
(१६) सपनगत—सोते हुए। रविगत—सूर्य डूबने पर। जानौ निसिपति......भरावे—मानो चद्रमा अमृतमय किरणों से पृथ्वी का भंडार भर रहा है।

स्वास उदर उछरत यों मानो दुग्धसिंधु छबि पावै।
नाभि सरोज प्रकट पदमासन उतर नाल पछितावै॥
कर सिर तर करि स्याम मनोहर अलक अधिक सोभावै।
'सूरदास' मानो पन्नगपति प्रभु ऊपर फन छावै॥

१७—राग बिलावल

अजिर प्रभातहिं स्याम को पलना पौढ़ाए।
आपु चली गृहकाज को, तहँ नंद बुलाए॥
निरखि हरषि मुख चूमि कै मंदिर पगु धारी।
आतुर नँद आए तहाँ जहँ ब्रह्म मुरारी॥
हँसे तात मुख हेरि कै कर पग चपलाई।
किलकि झटकि उलटे परे देवन-मुनिराई॥
सो छवि नंद निहारि कै तहँ महरि बुलाई।
निरखि चरित गोपाल के 'सूरज' बलि जाई॥

१८—राग रामकली

हरषे नंद टेरत महरि।
आइ सुत मुख देखि आतुर डारि दै दधि टहरि॥

उछरत—ऊपर को उठता है। नाभि सरोज... ..पछितावे—मानो ब्रह्मा नारायण की नाभि की कमलनाल में उतर कर पछताते हैं (कभी नीचे जाते हैं कभी ऊपर आते हैं) (नोट) नारायण की नाभी से निकले हुए कमल की नाल में ब्रह्मा के आने जाने की कथा को स्मरण कीजिए तो अर्थ स्पष्ट हो जाय। सोभावै—सोहावै। पन्नगपति - शेषनाग। (१७) अजिर—आँगन। प्रभात—सवेरे। चपलाई—चंचलता (हाथ पैर का चलाना)। झटकि—शीघ्र। उलटे परे—उलट गये, करवट लेकर पेट के बल हो गये। महरि—यशोदा (नोट)—इस पद में बालक की प्रथम उलटन का वर्णन है। दधि टहरि—दही टहल, दधिमंथन।

मथति दधि जसुमति मथानी ध्वनि रही घर घहरि।
स्रवन सुनति न महरि बातैं जहाँ तहँ गई चहरि॥
यह सुनत तब मातु धाई गिरे जाने भहरि।
हँसत नंदमुख देखि धीरज, तब गह्यो ज्यो ठहरि॥
स्याम उलटे परे देखे बढ़ी सोभा लहरि।
'सूर' प्रभु कर सेज टेकत, कबहुँ टेकत ढहरि॥

१९—राग रामकली

महरि मुदित उलटाइ कै मुख चूंवन लागी।
चिरु जीवो मेरो लाड़िलो मैं भई सभगी॥
एक पाख त्रय मास का मोरो भयो कन्हाई।
पट करानि उलटे परे मैं करौं बधाई॥
नंद घरनि आनन्द भरी बोलीं ब्रजनारी।
यह सुख सुनि आईं सबै 'सूरज' बलिहारी॥

२०—राग बिलावल

नंद घरनि आनंदभरी सुत स्याम खिलावै।
कबहिं घुटुरुवनिचलहिंगे कहि बिधिहिं मनावै॥
कबहि दतुली द्वै दूध की देखौं इन नैननि।
कबहि कमलमुख बोलिहैं सुनिहौं इन बैननि॥
चूमति कर पग अधर पुनि लटकति लट चूमति।
कहा बरणि 'सूरज' कहै कहाँ पावै सो मति॥

चहरि—शोर। भहरि—भहरा कर। ज्यो—जी में, मन में। ठहरि=सांत्वना, तसल्ली। ढहरि—देहरी—(यहाँ पर वह लकड़ी जो पालने में आड़ के वास्ते लगी रहती है जिससे बच्चा गिर नहीं सकता)। (१९) पट करानि—पेट के बल हो जाना, चित से पट्ट हो जाना, पीठ के बल से बदल कर पेट के बल हो जाना। बोलीं—बुलवाईं। (२०) (नोट)—इस पद में माता की अभिलाषाओं का वर्णन है।

२१—राग बिलावल

मेरो नान्हरिया गोपाल हो, बेगि बड़ो किनि होहि।
इहि मुख मधुरे बयन हो, कब 'जननि' कहोगे मोहि॥
यह लालसा अधिक दिन दिन प्रति कबहूँ ईस करै।
मो देखत कबहूँ हँसि माधव पगु द्वै धरनि धरै॥
हलधर सहित फिरै जब आँगन चरन सबद सुनि पाऊँ।
छिन छिन छुधित जानि पय कारन हौं हठि निकट बुलाऊँ
आगम निगम नेति करि गायो सिव उनमान न पायो।
'सूरदास' बालक रस लीला मन अभिलाष बढ़ायो॥

२२—राग बिलावल

जसुमति मन अभिलाष करै।
कब मेरो लाल घुटुरुवन रेंगै कब धरनी पग द्वैक धरै॥
कब द्वै दंत दूध के देखौं कब तुतरे मुख बैन झरै।
कब नंदहि कहि बाबा बोलै कब जननी कहि मोहि ररै॥
कब मेरो अँचरा गहि मोहन जोइ सोइ कहि मोसों झगरै।
कब धों तनक तनक कछु खैहै अपने कर सों मुखहि भरै॥
कब हँसि बात कहैगो मोसों छबि पेखत दुख दूरि टरै।
स्याम अकेले आँगन छाँड़े आपु गई कछु काज घरै॥
एहि अंतर अँधवाइ उठी इक गरजन गगन सहित थहरै।
'सूरदास' ब्रज लोग सुनत धुनि जो जहँ तहँ सब अतिहि डरै॥

---

(२१) नान्हरिया—नन्हा सा। उनमान—अनुमान। इस पद में भी माता की अभिलाषाओं का वर्णन है। (२२) रेंगना—चलना। ररै—रटै अँधवाइ—आँधी, अंधड़। थहरै—काँपता है (नोट) इस पद में 'तृणावत' बध लीला की ओर इशारा है।

२३—राग धनाश्री

हरि किलकत जसुदा की कनियाँ ।
निरखि निरखि मुख हँसति स्याम को मो निधनी के धनियाँ ॥
अति कोमल तनु स्याम को बार बार पछितात ।
कैसो बच्यो जाऊँ बलि तेरी तृनावर्त के घात ॥
ना जानौ धौं कौन पुन्य तें को करि लेत सहाइ ।
वैसो काम पूतना कीनो इहि ऐसो करो आइ ॥
माता दुखित जानि हरि बिहँसे नान्हीं दँतुरि दिखाइ ।
'सूरदास' प्रभु माता चित तें दुख डार्‌यो बिसराइ ॥

२४—राग धनाश्री

सुतमुख देखि जसोदा फूली ।
हरषित देखि दूध की दँतियाँ प्रेम मगन तनु की सुधि भूली ॥
बाहिर ते तब नंद बुलाए देखौ धौं सुन्दर सुखदाई ।
तनक तनक सी दूध की दँतियाँ देखौ नैन सुफल करो आई ॥
आनँद सहित महर तब आए मुख चितवत दोऊ नैन अघाई ।
'सुर' स्याम किलकत द्विज देख्यो मनो कमल पर बीजु जमाई ॥

२५—राग बिलावल

कान्ह कुँवर को करो अनपसनी कछु दिन घटि षट मास गए ।
नंदमहर यह सुनि पुलकित जिय हरि अनप्रासन जोग भए ॥

---

(२३) कनियाँ—कँधैया, कोरा । निधनी—गरीब । धनियाँ—धनी, पालक । घात—चोट । (२४) द्विज—दाँत । बीज—(विद्यु) बिजली । जमाई—जम गई है । (२५) अनपसनी—अन्नप्राशन, बच्चे को पहले पहल अन्न खिलाने की रीति । यह रीति प्रायः छठे महीने में होती है ।

विप्र बोलाइ नाम लै बूझ्यो रासि सोधि इक दिनहिं धर्यौ।
आछो दिन सुनि महरि जसोदा सखिन बोलि सुभ गान कर्यो॥
जुवति महरि को गारी गावति आन महर को नाम लियो।
ब्रज घर घर आनन्द बढ़्यो अति प्रेम पुलक न समात हियो॥
जाको नेति नेति स्रुति गावत ध्यावत शिव मुनि ध्यान धरे।
'सूरदास' तिन को ब्रज-जुवती झकझोरति उर अंक भरे॥

२६—राग सारंग

अजु कान्ह करिहैं अनप्रासन।
मनि कंचन के थार भराए भाँति भाँति के बासन॥
नंद घरनि सब बधू बुलाईं जे सब अपनी जाति।
कोउ ज्योंनार करति कोउ घृतपक षटरस के बहु भाँति॥
बहुत प्रकार किये सब व्यंजन बरन बरन मिष्टान।
अति उज्जल कोमल सुठि सुन्दर महरि देखि मन मान॥
जसुमति नंदहि बोलि कह्यो तब महर बोलि बहु भाँति।
आप गये नंद सकल महर घर लै आये सब ज्ञाति॥
आदर कर बैठाइ सबनि को भीतर गये नँदराइ।
जसुमति उबटि न्हवाइ कान्ह को पट भूषन पहिराइ॥
तन झंगुली सिर लाल चौतनी कर चूरा दुहुँ पाइ।
बार बार मुख निरखि जसोदा पुनि पुनि लेत बलाइ॥

रासि सोधि—राशि के नाम हिसाब लगाकर। दिन धरना—शुभ मुहूर्त निश्चित करना। आन महर को—किसी दूसरे पुरुष का। झकझोरति—ज़ोर से झकोरती है, हिलाती है। अंकभरे—अँकवरा में लेकर। (२६) ज्योंनारि करति—रसोई बनाती है। घृतपक—घी के पकवान। चौतनी—टोपी। चूर—कड़े।

घरी जानि सुत मुख जुठरावन नंद बैठे लै गोद।
महर बोलि बैठारि मंडली आनँद करत बिनोद॥
कंचन थार लै खीर धरी भरि तापर घृत मधु नाइ।
नँद लै लै हरि मुख जुठरावत नारि उठीं सब गाइ॥
षटरस के परकार जहाँ लगि लै लै अधरछुवावत।
विस्वंभर जगदीस जगतगुरु परसत मुख करुवावत॥
तनक तनक जल अधर पोंछिकै जसुमति पै पहुँचाए।
हरषवंत जुवती सब लै लै मुख चूमति उर लाए॥
महर गोप सबही मिलि बैठे पनवारे परुसाये।
भोजन करत अधिक रुचि उपजी जो जेहि के मन भाए॥
यह बिधि सुख विलसत ब्रजबासी धनि गोकुल नर नारी।
नंद सुवन की या छवि ऊपर 'सूरदास' बलिहारी॥

२७—राग सारंग

लालन तेरे मुख पर हौं वारी।
बाल गोपाल लगौ इन नैननि रोगु बलाइ तुम्हारी॥
लट लटकन मोहन मसि बिंदुका तिलक भाल सुखकारी।
मनहुँ कमल अलि सावक पंगति उड़त मधुर छवि भारी॥
लोचन ललित कपोलनि काजर छवि उपजत अधिकारी।
मुख सनमुख औरै रुचि बाढ़ति हँसत दै दै किलकारी॥

मुख करुवावत—मुँह बनाते हैं, मुँह टेढ़ा मेढ़ा करते हैं। पनवारे—पत्तल। (२७) वारी होना—निछावर होना। बलाई—बिपत्ति। लटकन—लटों में गुहने के घुँघुरू। मसि-बिंदुका—अंजन, दिठौना।

चारु कपोल लोल लोचन गोरोचन तिलक किये।
लट लटकनि मनो मत्त मधुप गन मादक मदहि पिये॥
कठुला कंठ, वज्र, केहरि-नख राजत रुचिर हिये।
धन्य 'सूर' एको पल या सुख, का सत कल्प जिये॥

३२—राग बिलावल

बाल-बिनोद खरो जिय भावत।
मुख प्रतिबिंब पकरिबे कारन हुलसि घुटुरुवनि धावत॥
छिनक माँझ त्रिभुवन की लीला सिसुता माँहि दुरावत।
सबद एक बोल्यो चाहत हैं प्रगट बचन नहिं आवत॥
कमल नैन माखन माँगत हैं ग्वालिन सैन बतावत।
'सूर' स्याम सु सनेह मनोहर जसुमति प्रीति बढ़ावत॥

३३—राग धनाश्री

हौं बलि जाउँ छबीले लाल की।
धूसरि धूरि घुटुरुवन रेंगनि, बोलनि बचन रसाल की॥
छिटकि रहीं चहुँदिसि जु लटुरियाँ लटकन-लटकनि भाल की।
मोतिन सहित नासिका नथुनी, कंठ कमलदल-माल की॥
कछुके हाथ; कछू मुख माखन चितवनि नैन बिसाल की।
'सूर' सुप्रभु के प्रेम मगन भई ढिग न तजनि ब्रज-बाल की॥

वज्र—हीरे का पदिक। केहरि नख—बघनहाँ। (३२) खरो जिय भावत—मन को खूब अच्छा लगता है। त्रिभुवन की लीला—तीनों लोक रचने की शक्ति। कमल नैन—कृष्णजी। सैन—इशारा। जसुमति प्रीति बढ़ावत—यशोदा के मन में प्रेम बढ़ाते हैं। (३३) धूसर धूरि—धूल लगने से अंग मैले हो गये हैं। छिटकि रही—फैल रही है। लटुरियाँ—छोटी अलकें। लटकन—भाल पर की लटों में गुहने के घुँघरू। कछुके—थोड़ा है; था। ढिग न तजनि—अलग न हटने की वृत्ति।

३४—राग धनाश्री

कहाँ लौं बरनौ सुन्दरताई ।
खेलत कुंवर कनक आँगन में नैन निरखि छवि छाई ॥
कुलहि लसत सिर स्याम सुभग अति बहुविधि सुरँग बनाई ।
मानो नव घन ऊपर राजत मघवा धनुप चढ़ाई ॥
अति सुदेस मृदु चिकुर हरत मन मोहन मुख बगराई ।
मानो प्रगट कंज पर मंजुल अलि अवली फिरि आई ॥
*नील सेत पर पीत लालमनि लटकन भाल लुनाई ।
सनि गुरू-असुर देवगुरु मिलि मनौ भौम सहित समुदाई ॥
दूध दंत दुति कहि न जाति अति अद्भुत एक उपमाई ।
किलकत हँसत दुरत प्रगटत मनौ घन में बिज्जु छपाई ॥
खंडित बचन देत पूरन सुख अलप जलप जलपाई ।
घुटुरुन चलत रेनु तनु मंडित 'सूरदास' बलिजाई ॥

३५—राग नटनारायन

हरि जू की बाल छवि कहौं बरनि ।
सकल सुख की सींव कोटि मनोज सोभा हरनि ॥
भुज भुजंग सरोज नयननि बदन बिधु जित्यो लरनि ।
रहे बिबरन, सलिल, नभ, उपमा अपर दुरी डरनि ॥

---

(३४) कुलहि—(फा० कुलाह) एक प्रकार की टोपी । सुदेस—सुन्दर । चिकुर—बाल । बगराई—छिटक कर । मोहनमुख बगराइ—कृष्ण के मुख पर छिटक कर । लुनाई—सुन्दरता । गुरु-असुर—(असुर-गुरु) शुक्र । देवगुरु—बृहस्पति । भौम—मंगल । *भाल बिसाल ललित लटकन वर बाल दसा के चिकुर सोहाए । मनु दोउ गुरु सनि कुज आगे करि ससिहिं मिलन तम के गन आये । (तुलसी) । जलपाई—बोलने का ढंग । रेनु तनु मंडित—धूल धूसरित शरीर ।

मंजु मेचक मृदुल तनु अनुहरत भूपन-भरनि।
मनहुँ सुभग सिंगार-सिसुतरु फर्यौ अदभुत फरनि॥
लसत कर प्रतिबिंब मनि आँगन घुटुरुवन चरनि।
जलज संपुट सुभग छवि भर लेत उर जनु धरनि॥
पुन्यफल अनुभवति सुतहिं बिलोकि कै नँद-घरनि।
'सूर' प्रभु की बसी उर किलकनि ललित लरखरनि॥

३६—राग धनाश्री

किलकत कान्ह घुटुरुवन आवत।
मनिमय कनक नंद के आँगन मुख प्रतिबिंब पकरिबे धावत॥
कबहुँ निरखि हरि आप छाँइ को पकरन को चित चाहत।
किलकि हँसत राजत द्वै दंतियाँ पुनि पुनि तिहिं अवगाहत॥
कनक-भूमि पर कर पग छाया यह उपमा एक राजत।
प्रति कर प्रति पद प्रतिमनि बसुधा कमल बैठकी साजत॥
बालदसा-सुख निरखि जसोदा पुनि पुनि नंद बुलावति।
अँचरा तर लै ढाँकि 'सूर' प्रभु जननी दूध पियावति॥

३७—राग बिलावल

सिखवत चलन जसोदा मैया।
अरबराइ कर पानि गहावत डगमगाइ धरनी धरै पैया॥

---

(३५) मेचक—स्याम। लरखरनि—चलने में लरखराना।

(नोट—आश्चर्य की बात है कि ठीक यही पद (कुछ हेरफेर से) तुलसीकृत गीतावली में भी पाया जाता है। देखिये बालकांड पद नं० २४।

(३६) पकरिबे—पकड़ने को। धावत—दौड़ते हैं। अवगाहत—देखते हैं। छाया—प्रतिबिंब। प्रतिमनि—प्रतिमाओं को। बसुधा—पृथ्वी। बैठकी साजत—आसन देती है। अँचरा—अंचल। (३७) अरबराइ—जल्दी से, घबरा कर। पैया—पैर।

कबहुँक सुंदर बदन विलोकति उर आनँद भरि लेत बलैया।
कबहुँक बलको टेरि बुलावति इहि आँगन खेलो दोउ भैया॥
कबहुँक कुल देवता मनावति चिरजीवै मेरो बाल कन्हैया।
'सूरदास' प्रभु सब सुखदायक अति प्रताप बालक नँदरैया॥

३८—राग धनाश्री

आँगन खेलैं नंद के नंदा। जदुकुल-कुमुद सुखद चारु चंदा॥
संग संग बल मोहन सोहैं। सिसुभूषन सबको मन मोहैं॥
तनुदुति मोरचन्द्र जिमि झलकै। उमँगि उमँगिअँगअँग छबिछलकै॥
कटि किंकिनि पग नूपुर बाजै। पंकज-पानि पहुँचियाँ राजैं॥
कठुला कंठ बघनहा नीके। नयन सरोज मयन-सरसी के॥
लटकन ललित ललाट लटूरी। दमकत द्वै द्वै दँतुरिया रूरी॥
मुनि मनहरत मंजु मसिबिंदा। ललित बदन बल-बालगोबिंदा॥
कुलही चित्र-बिचित्र झँगूली। निरखि जसोदा रोहिनी फूली॥
गहि मनि खंभ डिंभ डग डोलैं। कल बल बचन तोतरे बोलैं॥
निरखत छबि झाँकत प्रतिबिंबैं। देत परम सुख पितु अरु अंबैं॥
ब्रज-जन देखत हिय हुलसाने। 'सूर' स्याम-महिमा को जाने॥

३९—राग धनाश्री

कान्ह चलत पग द्वै द्वै धरनी।
जो मन में अभिलाष करत ही सो देखत नँदघरनी॥

बल—बलदाऊजू। बालकन्हैया—बालकृष्ण। अति......रैया—नंदराय का अत्यन्त प्रतापी बालक। (३८) बल—बलदाऊजू। सरसी—तलैया। लटकन—माथे पर की लटों में गुहने के घुँघरू। लटूरी—लटें। मसिबिंदा—दिठौना। कुलही—टोपी। डिंभ—बच्चे। अंबा—माता। (नोट)—आश्चर्य है कि यही पद कुछ हेर फेर से तुलसीकृत गीतावली में भी पाया जाता है। (देखो गीतावली पद नं० ३८)। (३९) करत ही—करती थी। नँदघरनी—(नंदगृहिणी) नंद की स्त्री, यशोदा।

रुनुक झुनुक नूपुर बाजत पग यह अति है मन हरनी।
बैठ जात पुनि उठत तुरत ही सो छबि जाय न बरनी॥
ब्रज युवती सब देखि थकित भईं सुन्दरता की सरनी।
चिरजीवो जसुदा को नंदन 'सूरदास' को तरनी॥

४०—राग गौरी

भीतर ते बाहिर लौं आवत।
घर आँगन अति चलन सुगम भयो देह देहरी में अटकावत॥
गिरि-गिरि परत जात नहि उलँघी, अति स्रम होत, न धावत।
अहुठ पैग वसुधा सब कीन्हो धाम अवधि बिरमावत॥
मनही मन बल बीर कहत हैं ऐसे रंग बनावत।
'सूरदास' प्रभु अगनित महिमा भगतन के मन भावत॥

४१—राग धनाश्री

चलत देखि जसुमति सुख पावै।
ठुमुक ठुमुक धरनी-धर रेंगत जननिहि खेल दिखावै॥
देहरी लौं चलि जात बहुरि फिरि फिरि इतही को आवै।
गिरि गिरि परत बनत नहि नाँघत सुर मुनि सोच करावै॥
कोटि ब्रह्माण्ड करत छिन भीतर हरत बिलंब न लावै।
ताको लिये नंद की रानी नाना रूप खिलावै॥
तब जसुमति कर टेकि स्याम को क्रम क्रम कै उतरावै।
'सूरदास' प्रभु देखि देखि कै सुर नर बुद्धि भुलावै॥

सरनी—चाल। तरनी—नाव, नौका। (४०) अहुठ पैग—साढ़े तीन पग। अहुठ—(अर्द्ध × चय) साढ़े तीन। धाम अवधि बिरमावत—मकान की हद पर (देहरी पर) रुक जाते हैं, क्योंकि उसे लाँघ नहीं सकते। बलबीर—भाई बलदेवजू। रंग—स्वाँग, तमाशा। (४१) धरनीधर—कृष्ण। क्रमक्रम कै—धीरे धीरे। उतरावै—पार कराती है। बुद्धि भुलावै—बुद्धि भ्रम में पड़ जाती है।

४२—राग भैरव

सो बल कहाँ गयो भगवान ।
जेहि बल मीन रूप जल थाह्यो लियो निगम हति असुर पुरान ॥
जेहि बल कमठ पीठ पर गिरि धरि सजल सिंधु मथि कियो विमान ।
जेहि बल रूप बराह दसन पर राखी पुहुमी पुहुप समान ॥
जेहि बल हिरनकसिपु तनु फारयो भये भगत हित कृपानिधान ।
जेहि बल बलि बंधन करि पठयो त्रैपद वसुधा करी प्रमान ॥
जेहि बल बिप्र तिलक दै थापा रच्छा आपु करी विदमान ।
जेहि बल रावन के सिर काटे कियो बिभीषन नृपति समान ॥
जेहि बल जाँववंत मद मेट्यो, जेहि बल ध्रुव बिनती सुनि कान ।
'सूरदास' अब धाम देहरी चढ़ि, न सकत हरि खरेई अयान ॥

४२—राग सूहो

आँगन स्याम नचावही जसुमति नँदरानी ।
तारी दै दै गावही माधुरी मृदुबानी ॥
पायन नूपुर बाजई कटि किंकिनी कूजै ।
नन्ही एड़िअन अरुनता फल बिंब न पूजै ॥
जसुमति गान सुनै स्त्रवन तब आपुन गावै ।
तारि बजावत देखि कै पुनि तारि बजावै ॥
केहरि नख लस उर पर सुठि सोभाकारी ।
मनो स्याम घन मध्य में नौ ससि उँजियारी ॥

---

(४२) कियो बिमान—घमण्ड तोड़ दिया । पुहुमी—पृथ्वी । पुहुप—(सं० पुष्प) फूल । विप्र तिलक दै थाप्यो—परशुरामावतार में (कश्यप को सारी पृथ्वी दान कर दी)। विदमान—विद्यमान, रहते हुए। जाँववन्त मद मेटयो—कृष्णावतार में। खरेई अयान—बड़े ही नादान हैं। (४२) कूजै—शब्द करती है। फल बिंब न पूजै—बिम्बाफल बराबरी नहीं कर सकता।

गभुआरे सिर केस हैं ते बाँधि सँवारे।
लटकन लटकैं भाल पर बिधु मधि जनु तारे॥
स्याम केस ऊपर तरे मुख हँसनि बिराजै।
कंजन मीन सुक आनि कै मानो परै दुराजै॥
जसुमति सुतहि नचावई छवि देखत जियतें।
'सूरदास' प्रभु स्याम को मुख टरत न हियतें॥

४४—राग बिलावल

मथत दधि, मथनी टेकि खरयो।
आरि करत मटुकी गहि मोहन बासुकि संभु डरयो॥
मंदर डरत सिंधु पुनि काँपत फिरि जनि मथन करै।
प्रलय होय जनि गहो मथानी बिधिमरजाद टरै॥
सुरअरि सुर ठाढे सब चितवैं नैनन नीर ढरै।
'सूरदास' प्रभु मुग्ध जसोदा मुख दधिबिंद गिरै॥

४५—राग बिलावल

बाल गोपाल खेलौ मेरे तात।
बलि बलि जाऊँ मुखारबिंद की अमी बचन बोलत तुतरात॥
दुनिँदे नयन बिसाल की सोभा कहत न बनि आवै कछु बात।
दूर करे सब सखा बुलावत नयन मीड़ि उठि आए प्रभात॥
दुहुं कर माट गह्यो नँदनंदन छिटकि बूँद दधि परत अघात।
मानहु गजमुक्ता मरकत पर सोभित सुभग साँवरे गात॥

गभुवारे—गर्भवारे, छोटे और मुलायम। लटकन—भाल पर की लटों में गुहे हुए घुँघरू। परै दुराजै—दो राजाओं के राज्य में पड़े हैं (दुःखद संकट में पड़े हैं)। (४४) मथनी—मथानी। आरि—हठ। डरयो—डरे हो गये। सुरअरि—असुर, दैत्य। (४५) अपात—(आपान) मथने से।

जननी प्रति माँगत मन मोहन दै माखन रोटी उठि प्रात।
लोटत पुहुमि 'सूर' सुन्दर घन चारि पदारथ जाके हात॥

४६—राग विलावल

बरनौं बाल-भेष मुरारि।
थकित जित तित अमर-मुनि-गन नंदलाल निहारि॥
केस सिर बिन पवन के चहुँ दिसा छिटके झारि।
सीस पर धरे जटा मानौ रूप किय त्रिपुरारि॥
तिलक ललित ललाट केसरि बिंदु सोभाकारि।
अरुन रेखा जनु त्रिलोचन रह्यो निज रिपु जारि॥
कंठ कठुला नीलमनि, अंभोज-माल सँवारि।
गरल ग्रीव, कपाल उर, यहि भाय भये मदनारि॥
कुटिल हरिनख हिये हरि के हरषि निरखति नारि।
ईस जनु रजनीस राख्यो भालहू ते उतारि॥
सदन-रज तन स्याम सोभित सुभग इहि अनुहारि।
मनहु अंग विभूति, राजत संभु सो मधु-हारि॥
त्रिदसपति-पति असन को अति जननि सों कर आरि।
'सूरदास' विरंचि जाको जपत निज मुख-चारि॥

४७—राग बिलावल

सखि री नंदनंदन देखु।
धूरि धूसरि जटा जूटनि हरि किए हर भेषु॥

चारि पदारथ—अर्थ, धर्म काम, मोक्ष। हात—हाथ। (४६) निज रिपु—काम। अंभोज—(यहाँ पर) सफेद कमल। मदनारि—शिवजी। रजनीस—चंद्रमा। मधुहारि—मधुसूदन (कृष्ण)। त्रिदसपति-पति—इन्द्र के भी मालिक अर्थात् कृष्ण। असन—भोजन। आरि—हठ।

(नोट)—बड़ी ही सुन्दर कल्पना है।

'सूरदास' स्वामी की लीला मथुरा राखौं जोरी।
सुन्दर स्याम हँसत जननी सों नंद बबा की सौं री॥

५२—राग रामकली

हरि अपने आगे कछु गावत।
तनक तनक चरनन सों नाचत मनहीं मनहिं रिझावत॥
बाँह उँचाइ काजरी धौरी गैयन टेरि बुलावत।
कबहुँक बाबा नंद बुलावत कबहुँक घर में आवत॥
माखन तनक आपने कर लै तनक बदन में नावत।
कबहुँ चितै प्रतिबिंब खम्भ में लवनी लिये खवावत॥
दुरि देखत जसुमति यह लीला हरष अनंद बढ़ावत।
'सूर' स्याम के बालचरित ये नित देखत मन भावत॥

५३—राग बिलावल

आलि बलि जाउँ मधुर सुर गावहु।
अबकी बार मेरे कुँवर कन्हैया नंदहि नाचि देखावहु॥
तारी देहु आपने कर की परम प्रीति उपजावहु।
आन जंतु धुनि सुनि डरपत कत मो भुज कंठ लगावहु॥
जिन संका जिय करौ लाल मेरे काहे को भरमावहु।
बाँह उँचाइ काजरि को नाउँ धौरी धेनु बुलावहु॥
नाचहु नेकु जाउँ बलि तेरी मेरी साध पुरावहु।
रतनजटित किंकिन पग नूपुर अपने रंग बजावहु॥

कनक खम्भ प्रतिबिंबित सिसु इक लौनी ताहि खवावहु।
'सूर' स्याम मेरे उर ते कहुँ टारे नेक न भावहु॥

५४—राग धनाश्री

पाहुनी करि दै तनक मह्यो।

हौं लागी गृहकाज रसोई जसुमति विनय कह्यो॥
आरि करै मन मोहन मेरो अंचल आनि गह्यो।
व्याकुल मथत मथनियाँ रीती दधि भ्वैं ढरकि रह्यो॥
माखन जात जानि नँदरानी सखियन सम्हरि कह्यो।
'सूर' स्याम मुख निरखि मगन भई दुहुनि सकोच सह्यो॥

५५—राग आसावरी

जसुमति जबहिं कह्यो अन्हवावन रोइ गए हरि लोटत री।
लेत उबटनो आगे दधि कहि लालहिं चोटत पोटत री॥
मैं चलि जाउँ न्हाउ जिनि मोहन कत रोवत बिन काजै री।
पाछे धरि राखौ छपाइ कै उबटन तेल समाजै री॥
महरि बहुत बिनती करि राखति मानत, नहीं कन्हाई री।
'सूर' स्याम अति ही बिरुझाने सुनि सुनि अंत न पाई री॥

५६—राग कान्हरो

ठाढ़ी अजिर जसोदा अपने हरिहि लिये चंदा देखरावत।
रोवत कत बलि जाउँ तुम्हारी देखौ धौं भरि नैन जुड़ावत॥
चितै रहे तब आपुन ससि तन अपने कर लै लै जु बतावत।
मीठो लगत किधौं यह खाटो देखत अति सुंदर मन भावत॥

लौनी—माखन। (५४) पाहुनी—मेहमान (स्त्री)। मह्यो करि दै—दधि मंथन कर दे। आरि—हठ। भ्वैं—(सं० भूमि) भुइँ, ज़मीन। दुहुनि सकोच सह्यो—दोनों सकुच गईं। (५५) उबटन—(सं० उद्वर्तन) शरीर में मलने का बुकवा। चोटत पोटत—चुमकारती है, समझाकर खातिरी करती है।

मनही मन हरि बुद्धि करत हैं माता को कहि ताहि मँगावत
लागी भूख चंद मैं खैहौं देहु देहु रिस करि बिरुझावत
जसुमति कहत कहा मैं कीनो रोवत मोहन अति दुख पावत
'सूर' स्याम को जसुदा बोधति गगन चिरैयाँ उड़त लखावत

५७—राग कान्हरो

किहि बिधि करि कान्है समुझैहौं।
मैं ही भूलि चंद दिखरायो ताहि कहत "मोहि दै मैं खैहौं"
अनहोनी कहुँ होत कन्हैया देखी सुनी न बात।
यह तौ आहि खिलौना सबको खान कहत तेहि तात॥
यहै देत लवनी नित मो को छिन छिन साँझ सबारे।
बार बार तुम माखन माँगत देउँ कहाँ ते प्यारे॥
देखत रहौ खिलौना चंदा आरि न करौ कन्हाई।
'सूर' स्याम लियो लहरि जसोदा नंदहि कहत बुझाई॥

जलपुट आनि धरयो आँगन में मोहन नेक तौ लीजै।
'सूर' स्याम हठि चंदहि माँगै चंद कहाँ ते दीजै॥

५९—राग कान्हरो

बार बार जसुमति सुत बोधति आउ चंद तोहिं लाल बुलावै।
मधु मेवा पकवान मिठाई आपु न खैहैं तोहि खवावै॥
हाथहिं पर तोहि लीने खेलै नहि धरनी बैठावै।
जल-भाजन करलै जु उठावति या में तनु धरि आवै॥
जल पुट आनि धरनि पर राख्यो गहि आन्यो चंद दिखावै।
'सूरदास' प्रभु हँसि मुसकाने बार बार दोऊ कर नावै॥

६०—राग रामकली

मेरो माई ऐसो हठी बालगोविंदा।
अपने कर गहि गगन बतावत खेलन को माँगै चंदा॥
बासन के जल धरयो जसोदा हरि को आनि दिखावै।
रुदन करत ढूँढ़ नहिं पावत धरनि चंद कैसे आवै॥
दूध दही पकवान मिठाई जो कछु माँगु मेरे छौना।
भौंरा चकई लाल पाट को लेडुवा माँगु खिलौना॥
दैत्यदलन गजदंत उपारन कंसकेस धरि फंदा।
'सूरदास' बलि जाइ जसोमति सुखसागर दुख खंदा॥

६१—रागबिहागरो

तुव मुख देखि डरतु ससि भारी।
कर करि कै हरि हेरयो चाहत, भाजि पताल गयो अपहारी॥

जलपुट—जल से भरा बर्तन। (५९) बोधति—समझाती है। जल-पुट—जलभाजन। (६०) दुख खंदा—दुःख को खोद कर बहा देने वाले। लेडुवा—डोरा, लत्ती। (६१) कर करि के—हाथ में लेकर। अपहारी—आप ही हार कर।

यह ससि तो कैसेहु नहिं आवत यह ऐसी कछु बुद्धि बिचारी।
देखि बदनबिधु बिधु अकास मन, नैन कंज, कुंडल उजियारी॥
सुनहु स्याम तुमको ससि डरपतु कहत अहौं मैं सरन तुम्हारी।
'सूर' स्याम बिरुझाने, सोए लिय लगाइ छतियाँ महतारी॥

६७—राग केदारो

सुन सुत एक कथा कहौं प्यारी।
कमलनयन मन आनँद उपज्यो चतुर सिरोमनि देत हुँकारी॥
नगर एक रमनीक अजोध्या बसै महल जहँ अगम अटारी।
बहुत गली पुर बीच बिराजत भाँति भाँति सब हाट बजारी॥
तहाँ नृपति दसरथ रघुबंसी जाके नारि तीन सुखकारी।
कौसिल्या कैकयी सुमित्रा तिनके जनमत भे सुत चारी॥
चारि पुत्र राजा के प्रगटे तिनमें एक राम धनुधारी।
[illegible] धनुषयज्ञ देखि जानकी त्रिभुवन के सब नृपति हँकारी॥
गाधिसुत कौसिक रिषि सौं आवें मुनि सन जनक तहाँ पगुधारी।
धनुष तोरि सब मारि नृपनि को जनकसुता तिनकी बर नारी॥
[illegible] एक ओर नृपनि के सब कैस्यो सुख सेनि निवारी।
[illegible] सूर सौं सब लीनों, रघुबरनि के अभिषेक सँवारी॥

तात वचन सुनि तज्यो राज्य तिन भ्राता सहित घरनि बनचारी।
उनके जात पिता तनु त्यागयो अति व्याकुल करि जीव बिसारी॥
चित्रकूट गये भरत मिलन जब पग-पाँवरि दै करी कृपा री।
जुवती हेतु कनक-मृग मारी राजिवलोचन गरब-प्रहारी॥
रावन हरन करयो सीता को सुनि करुनामय नींद बिसारी।
'सूर' स्याम कहि उठे "चाप कहँ लछमन देहु' जननि भय भारी॥

६३—राग बिलावल

जागिये ब्रजराज कुँवर कमल कुसुम फूले।
कुमुद बृन्द सकुचित भए भृंग लता भूले॥
तमचुर खग रौर सुनहु बोलत बनराई।
राँभति गौ खरिकन में बछरा हित धाई॥
बिधु मलीन रविप्रकास गावत नर-नारी।
'सूर' स्याम प्रात उठौ अंबुज कर धारी॥

६४—राग रामकली

प्रात समय उठि सोवत हरि को बदन उघार्यो नंद।
रहि न सकत, देखन को आतुर नैन निसा के द्वंद॥
स्वच्छ सेज मैं तें मुख निकसत गये तिमिर मिटि मंद।
मानों मथि पय सिंधु फेन फटि दरस दिखायो चंद॥
धायो चतुर चकोर 'सूर' सुनि सब सखि सखा सुछन्द।
रही न सुधिहु सरीर धीर मति पिवत किरन मकरंद॥

---

(६३) रौर—चहचहाना, शोर। बनराइ—वन के बड़े पक्षी (मयूरादि) खरिका—गायें बाँधने का बाड़ा। (६४) नैन निशा के द्वन्द—नेत्रों और रात्रि के झगड़े से (अर्थात् रात्रि ने आकर नेत्रों में निद्रा भर दी जिससे कुछ देर सोना पड़ा और उतनी देर कृष्ण को न देख सके)।

६५—राग ललित

प्रात भयो जागो गोपाल।
नवल सुन्दरी आई बोलन तुमहिं सबै ब्रजबाल॥
प्रगटो भानु, मंद उडुपति भयो फूले तरुन तमाल।
दरसन को ठाढ़ी ब्रजवनिता ल्याई कुसुम बनमाल॥
तुमहिं छोड़ सुन्दर बलिहारी करहु कलेऊ लाल।
'सूरदास' प्रभु आनंद के निधि अंबुज नयन बिसाल॥

६६—राग भैरव

कमल नयन हरि करौ कलेवा।
माखन रोटी सद्य जम्यो दधि भाँति भाँति के मेवा॥
खारिक, दाख, चिरौंजी, किसमिस, मिस्री, गरी, बदाम।
सफरी, सेव, छुहारे, पिस्ता, जे तरबूजा नाम॥
अरु मेवा बहु भाँति भाँति हैं षटरस के मिष्टान।
'सूरदास' प्रभु करत कलेऊ रीझे स्याम सुजान॥

६७—राग रामकली

[illegible] स्याम ग्वालन संग।
[illegible] नाना रंग॥
[illegible] हरि हरि [illegible]।
[illegible]॥
[illegible]।
[illegible]॥

बोलि तब उठे श्री स्रिदामा जाहु तारी मारि।
आगे हरि पाछे स्रिदामा धर्‌यो स्याम हँकारि॥
जानिकै मैं रह्यों ठाढ़ो छुवत कहा जु मोहि।
'सूर' हरि खीझत सखा सों मनहिं कीनो कोहि॥

६८—राग गौरी

सखा कहत है स्याम खिसाने।
आपुहि आपु ललकि भये ठाढ़े अब तुम कहा रिसाने॥
बीचहिं बोलि उठे हलधर तब इनके माय न बाप।
हारि जीति कछु नेक न जानत लरिकन लावत पाप॥
आपुन हारि सखा सों झगरत यह कहि दिये पठाइ।
'सूर' श्याम उठि चले रोइ कै जननी पूँछति धाइ॥

६९—राग गौरी

मैया मोहिं दाऊ बहुत खिझायो।
मोसों कहत मोल को लीनो तोहि जसुमति कब जायो॥
कहा कहौं एहि रिस के मारे खेलन हौं नहिं जातु।
पुनि पुनि कहत कौन है माता को है तुमरो तातु॥
गोरे नंद जसोदा गोरी तुम कत स्याम सरीर।
चुटकी दैदै हँसत ग्वाल सब सिखै देत बलबीर॥
तू मोही को मारन सीखी दाउहि कबहुँ न खीझै।
मोहन को मुख रिस समेत लखि जसुमति सुनिसुनि रीझै॥
सुनहु कान्ह बलभद्र चवाई जनमत ही को धूत।
'सूर' स्याम मोहि गोधन की सौं हौं माता तू पूत॥

हँकारि—ललकार कर। कोहि—क्रोध। (६८) खिसाने—लज्जित हो गये। लावत पाप—दोष लगाते हैं। (६९) दाऊ—बड़े भैया। चवाई—शैतान इधर की उधर लगानेवाला। धूत—ठग। गोधन की सौं—गैयों की कसम।

७०—राग नट

मोहन मान मनायो मेरो।
मैं बलिहारी नंदनँदन की नेक इतै हँसि हेरो॥
कारो कहि कहि मोहि खिझावत बरजत खरो अनेरो।
बदन विमल ससि तें, तनु सुंदर कहा कहै बल चेरो॥
न्यारो जोपै ह्वै, हाँक लै अपनी गैयाँ ढेरो।
मेरो सुत सरदार सबन का तू कान्है ही मेरो॥
बन में जाइ करौ कौतूहल इह अपनो है खेरो।
'सूरदास' द्वारे गावत है विमल विमल जस तेरो॥

७१—राग गौरी

खेलन अब मेरी जात बलैया।
जबहिं मोहिं देखत लरिकन सँग तबहिं खिझत बल भैया॥
मोसों कहत पूत बसुदेव का देवकी तेरी मैया।
मोल लियो कछु दै बसुदेव को करि करि जतन बढैया॥
अब बाबा कहि कहत नंद सों जसुमति को कहै मैया।
ऐसे कहि सब मोहिं खिझावत तब उठि चलौं खिसैया॥
पाछे नंद सुनत हैं ठाढ़े हँसत हँसत उर लैया।
'सूर' नंद बलरामहि धिरयो सुनि मन हरष कन्हैया॥

---

(७०) बरजत खरो अनेरो—मैं तो माना करती हूँ, पर वह बड़ा अन्यायी है, मानता नहीं। बल—बलदेव। चेरो—दास, गुलाम। न्यारो जोपै ह्वै—जो अलग होने की हठ करे। अपनी गैयाँ ढेरो—अपनी गायों का समूह। खेरो—गाँव। (७१) करि करि जतन बढ़ैया—कोई बढ़िया युक्ति करके। खिसैया—लज्जित होकर। धिरयो—डाँटा, धमकाया।

७२—राग विहागरो

खेलन दूरि जात कित कान्हा ।
आजु सुन्यो बन हाऊ आयो तुम नहिं जानत नान्हा ॥
इक लरिका अबही भजि आयो बोलि बुझावहुँ ताहि ।
कान तोरि वह लेत सबन के लरिका जानत जाहि ॥
चलिये बेगि सबेर सबै भजि अपने अपने धाम ।
'सूरदास' यह बात सुनत ही बोलि लिए बलराम ॥

७३—राग जैतश्री

दूरि खेलन जनि जाहु ललारे आयो है बन हाऊ ।
तब हँसि बोले कान्हर मैया इनको किनहिं पठाऊ ॥
अब डरपत सुनि सुनि ये बातैं कहत हँसत बलदाऊ ।
सप्त रसातल सेसासन रहे तब की सुरति भुलाऊ ॥
चारि बेद लै गयो संखासुर जल में रह्यो लुकाऊ ।
मीन रूप धरि कै जब मार्‍यो तबहिं रहे कहाँ हाऊ ॥
मथि समुद्र सुर असुरन के हित मंदर जलधि धँसाऊ ।
कमठ रूप धरि धरनि पीठ पर सुख पायो सुहिराऊ ॥
जब हिरनाच्छ युद्ध अभिलाख्यो मन मैं अति गरबाऊ ।
धरि बाराह रूप रिपु मार्‍यो लै छिति दंत अगाऊ ॥
हिरनकसिप अवतार धर्‍यो जब जो प्रहलादहिं जाऊ ।
धरि नरसिंह जब असुर विदार्‍यो तहाँ न देख्यो हाऊ ॥

---

(७२) हाऊ—हौवा (कोई भयानक व्यक्ति)। नान्हा—छोटे। कान तोरि लेत—कान काट लेता है। (७३) कान्हर—कृष्ण। किनहि पठाऊ—किसने भेजा है। सुरति—स्मृति। धँसाऊ—डाल कर। सुहिराऊ—सोहराने का सा। अभिलाख्यो—चाहा। गरबाऊ—गर्व करके। अगाऊ—अग्र भाग में। जाऊ—पैदा किया।

बामन रूप धर्‌यो बलि छलि कै तीन परग बसुधाऊ।
स्रम-जल ब्रह्म कमंडलु राख्यो चरन दरस परसाऊ॥
मार्‌यो मुनि बिनही अपराधहिं कामधेनु लै जाऊ।
इकइस बार निछत्र भुवि कीनी तहाँ न देखे हाऊ॥
राम रूप रावन जब मार्‌यो दससिर बीस भुजाऊ।
लंक जराय छार जब कीनो तहाँ न देखे हाऊ॥
नृपति भीम सों जुद्ध परस्पर तहँ वह भाव बताऊ।
तुरत चीर द्वै टूक कियो धरि ऐसे त्रिभुवन राऊ॥
जमुना के तट धेनु चरावत तहाँ सघन बन झाऊ।
पैठि पताल ब्याल गहि नाथ्यो तहाँ न देखे हाऊ॥
माटी के मिस बदन बगार्‌यो जब जननी डरपाऊ।
मुख भीतर त्रैलोक दिखायो तबहुँ प्रतीति न आऊ॥
भगत हेतु अवतार धरे सब असुरन मारि बहाऊ।
'सूरदास' प्रभु की यह लीला निगम नेति नित गाऊ॥

७४—राग रामकली

जसुमति कान्है यहै सिखावति।
सुनहु स्याम अब बड़े भये तुम अस्तन पान छुड़ावति॥
ब्रज लरिका तोहिं पीवत देखैं हँसत लाज नहिं आवति।
जैहैं बिगरि दाँत हैं आछे ताते कहि समुझावति॥
अजहूँ छाँड़ि कह्यो करि मेरो ऐसो बात न भावति।
'सूरदास' स्याम यह सुनि मुसुकाने अंचल मुखहिं लुकावति॥

परग—पैग, डग। चरन दरस परसाऊ—चरणों का दर्श स्पर्श देकर। मुनि—जमदग्नि जी। भुवि—भूमि। नृपतिभीम सों युद्ध—जरासंध और भीम के युद्ध में। (७४) अस्तन पान—(स्तन) दूध पीना।

७५—राग रामकली

नंद बुलावत हैं गोपाल।
आवहु बेगि बलैया लेहौं सुंदर नैन बिसाल॥
परस्यो थार धर्‌यो मग चितवत बेगि चलौ तुम लाल।
भात सिरात तात दुःख पावत क्यों न चलौ ततकाल॥
हौं बलि जाउँ नान्ह पाइनि की दौरि दिखावहु चाल।
छाड़ि देहु तुम ललित अटपटी यह गति मंद मराल॥
सो राजा जो अगमन दौरे 'सूर' सुभौन उताल।
जो जैहै बलदेव पहिले ही तौ हँसिहैं सब ग्वाल॥

७६—राग सारंग

जेंवत कान्ह नंद इक ठौरे।
कछुक खात लपटात दुहूँ कर बालक हैं अति भोरे॥
बड़ो कौर मेलत मुख भीतर मिरिच दसन टुक टोरे।
तीछन लगी नयन भरि आए रोवत बाहर दौरे॥
फूँकति बदन रोहिनी माता लिये लगाइ अँकोरे।
'सूर' स्याम को मधुर कौर दै कीन्हें सात निहोरे॥

७७—राग नट

हरि को बालरूप अनूप।
निरखि रहिं ब्रजनारि इकटक अँग अँग प्रति रूप॥
बिथुरि अलकैं रहिं बदन पर, बिनहिं पवन सुभाइ।
देखि खंजन चंद के बस करत मधुप सहाइ॥

---

(७५) अगमन—आगे, अगारी। (७६) मिरिच दसन टुकटोरे—मिर्च को जरा सा दाँत से काटने पर। तीछन लगी—कडुई लगी। फूँकति—फूँक देती हैं। अकोरे—अँकवार, गोद। कीन्हें सात निहोरे—रोना बंद करने के लिये बहुत सी खातिर की।

सुलछ लोचन, चारु नासा परम रुचिर बनाइ।
जुगल खंजन लरत लखि सुक बीच किया बनाइ ॥
अरुन अधरनि दसन भाये कहौं उपमा थोरि।
नीलपुट बिच मोति मानौं धरे बंदन घोरि ॥
सुभग बाल-मुकुंद की छवि बरनि कापै जाइ।
भृकुटि पर मसि-बिंदु सोहै सकै 'सूर' न गाइ ॥

७८—राग कान्हरो

साँझ भई घर आवहु प्यारे।
दौरत कहाँ चोट लगिहै कहुँ पुनि खेलौगे होत सकारे ॥
आपुहि जाइ बाँह गहि ल्याई खेह रही लपटाई।
सुपट झारि तातो जल ल्याई तेल परसि अन्हवाई ॥
सरस बसन तन पोंछि स्याम को भीतर गई लिवाई।
'सूर' स्याम कछु करो बियारू पुनि राख्यौ पौढ़ाई ॥

७९—राग बिहागरो

कमल नयन कछु करौ बियारी।
लुचुई लपसी सद्य जलेबी सोइ जेंवहु जो लगे पियारी ॥
घेवर मालपुवा मुतिलाड़ू सघ रस जूरी सरस सँवारी।
उत्तम बरा दाल ममुरी की दधि-बाटी सुंदर रुचि न्यारी ॥

---

(७७) सुलछ—(सुलच्छण) सुन्दर। बनाइ—बनावट। बीच कियो बनाइ—बीच में पड़कर सुलह करा दी। भाये—मनभावने, सुन्दर। नीलपुट—नीलम का संपुट। बंदन—सिंदुर। (७८) सकारे—प्रातःकाल। खेह—धूल। सरस बसन—गीले कपड़े से। बियारू—रात्रि का भोजन। पौढ़ाय राख्यो—सुला दिया। (७९) बियारी—रात्रि का भोजन। लुचुई—पूरी। लपसी—हलुआ। सद्य—ताज़ी। घेवर—एक प्रकार की मिठाई। जूरी—एक पकवान विशेष। दधि बाटी—दही में भिगाई हुई बड़ी।

आछो दूध औटि धौरी को ल्याई।।है रोहिनि महतारी।
'सूरदास' बलराम स्याम दोउ जेंवैं जननि जाहिं बलिहारी।।

८०—राग विहागरो

बल मोहन दोउ करत बियारी।
प्रेम सहित दोउ सुतनि जिमावति रोहिनि अरु जसुमति महतारी।।
दोउ भैया मिलि खात एक सँग रतन जटित कंचन की थारी।
आलस सों कर कौरा उठावत नैननि नींद झमकि रही भारी।।
दोउ माता निरखत आलस स्यों छबि पर तन मन डारति वारी।
बार बार जमुहात 'सूर' प्रभु इह उपमा कबि कहै कहारी।।

८१—राग केदारो

बल मोहन दोऊ अलसाने।
कछुक खाय दूधौ लै अँचयो मुख जँभात जननी जिय जाने।।
उठहु लाल कहि मुख पखरायो तुमको लै पौढ़ाऊँ।
तुम सोवहु मैं तुमहि सुवाऊँ कछु मधुरे सुर गाऊँ।।
तुरत जाय पौढ़े दोउ भैया सोवत आई निंद।
'सूरदास' जसुमति सुख पावै पौढ़े बाल-गोविंद।।

८२—राग बिलावल

भोर भयो जागौ नँदनंदन। संग सखा ठाढ़े पग-बंदन।।
सुरभी पय हित बच्छ पियावैं। पच्छी तरु तजि चहुँदिसि धावैं।।
अरुन गगन तमचुरनि पुकारे। जागे साधु मलिन भये तारे।।
निसि निघटीरबि-रथरुचि साजी। चंद मलिन चकई भइ राजी।।

धौरी—(धवल) सफेद गाय। (८०) बल—बलभद्र। मोहन—कृष्ण। जिमावति—भोजन कराती हैं। आलस स्यों—आलसयुक्त, अलसाए हुए। वारी डारति—निछावर करती है। जमुहात—जँभाई लेते हैं। (८१) अँचयो—पिया। पखारयो—धुलवाया। निंद—निद्रा। (८२) सुरभी—गाय। तमचुर—मुर्ग़ा। निघटी—खतम हो चुकी।

कुमुदिनि सकुची वारिज फूले। गुंजत फिरत मधुप गन भूले॥
दरसन देहु मुदित नर नारी। 'सूरज' प्रभु दिन देव मुरारी॥

८३—राग नट

खेलत स्याम अपने रंग।
नंदलाल निहारि शोभा निरखि थकित अनंग॥
चरन की छवि निरखि डरप्यो अरुन गगन छपाइ।
जनु रमा की सबै छवि तेहि निदरि लई छँड़ाइ॥
जुगल जंघनि खंभ रंभा नहिन समसरि ताहि।
कटि निरखि केहरि लजाने रहे घन बन चाहि॥
हृदय हरिनख अति बिराजत छवि न बरनी जाइ।
मनौ बालक बारिधर नवचन्द्र लियो छपाइ॥
मुकुतमाल बिसाल उर पर कछु कहौं उपमाइ।
मनौ तारागन नवोदित नभ रहे दरसाइ॥
अधर अरुन अनूप नासा निरखि जन सुखदाइ।
मनौ सुक फल बिंब कारन लेन बैठो आइ॥
कुटिल अलकें बिन पवन के मनौ अलि ससि जाल।
'सूर' प्रभु की ललित सोभा निरखि रहीं ब्रजबाल॥

८४—राग नटनारायण

हरि को टेरत हैं नँदरानी
बहुत अबार कतहुँ खेलत भइ कहाँ रहे मेरे सारँग-पानी॥
सुनतहि टेर दौरि तहँ आये कब के निकसे लाल।
जेंवत नहीं नंद जू तुम बिनु बेगि चलो गोपाल॥

---

(८३) समसरि—बराबरी। चाहि—देखकर, ढूँढ़ कर। नवोदित—नये निकले हुए, टटके, ताजे। (८४) अबार—कुबेला, देरी। टेर—पुकार।

स्यामहि ल्याई महरि जसोदा तुरतहि पाँइ पखारे।
'सूरदास' प्रभु संग नंद के बैठे हैं दोउ बारे॥

८५—राग सारंग

जेंवत स्याम नंद की कनियाँ।
कछुक खात कछु धरनि गिरावत छबि निरखत नंदरनियाँ॥
बरी बरा बेसन बहु भाँतिन व्यंजन बहु अनगनियाँ।
डारत खात लेत अपने कर रुचि मानत दधि-दनियाँ॥
मिसिरी दधि माखन मिस्रित करि मुख नावत छबिधनियाँ।
आपुन खात नंद-मुख नावत सो सुख कहत न बनियाँ॥
जो रस नंद जसोदा बिलसत सो नहिं तिहूँ भुवनियाँ।
भोजन करि नँद अँचवन कीन्हो माँगत 'सूर' जुठनियाँ।

८६—राग कान्हरो

बोलि लेहु हलधर भैया को।
मेरे आगे खेल करौ कछु नैननि सुख दीजै मैया को॥
मैं मूदौं हरि आँखि तुम्हारी बालक रहैं लुकाई।
हरषि स्याम सब सखा बुलाए खेलो आँखि-मुदाई॥
हलधर कहै आँख को मूँदै हरि कह्यो जननि जसोदा।
'सूर' स्याम लिये जननि खेलावति हरि हलधर मन मोदा॥

८७—राग गौरी

हरि तब आपनि आँखि मुँदाई।
सखा सहित बलराम छपाने जहँ तहँ गये भगाई॥

बारे—बालक (८५) कनियाँ—गोद। अनगनियाँ—अगणित। बनियाँ—धन्य। नावत—डालते हैं। (नोट)—इस पद के तुकान्तों में सूर जी ने कुछ जबरदस्ती सी की है। (८६) हलधर—बलदेव। आँखि मुंदाई—आँखमिचौवल नामक खेल।

कान लागि कह्‌ जननि जसोदा वा घर में बलराम।
बलदाऊ को आवन दैहौं श्रीदामा सों है कह काम॥
दौरि दौरि बालक सब आवत छुवत महरि के गात।
सब आए रहे सुबल श्रीदामा हारे अब के तात॥
सोर पारि हरि सुबलहिं धाए गह्यो श्रीदामा जाइ।
दै दै सौं हैं नंद बबा की जननी पै लै आइ॥
हँसि हँसि तारी देत सखा सब भए श्रीदामा चोर।
'सूरदास' हँसि कहति जसोदा जीत्यो है सुत मोर॥

८८—राग कान्हरो

आवहु कान्ह साँझ की बिरियाँ।
गाइन माँझ भए हौ ठाढ़े कहत जननि यह बड़ी कुबेरियाँ॥
लरिकाई कहुँ नेक न छाँड़त सोइ रहौ सुथरी सेजरियाँ।
आए हरि यह बात सुनत ही धाइ लिए जसुमति महतरियाँ॥
लै पौढ़ी आँगन ही सुत को छिटकि रही आछी उजियरियाँ।
'सूरदास' कछु कहत कहत ही बस करि लिए आइ नींदरियाँ॥

८९—राग कान्हरो

आँगन में हरि सोइ गए री।
दोउ जननी मिलि कै हरुये करि सेज सहित तब भवन लए री॥
नेक नहीं घर में बैठत हैं खेलहि के अब रंग रए री।
इहि बिधि स्याम कबहुँ नहिं सोए बहुत नींद के बसहिं भए री॥

---

(८७) अब के—अब की बार। सोर पारि—कुछ शोर करते हुए। (नोट) सुबल और श्रीदामा नाम के कृष्ण के दो प्यारे सखा। (८८) बिरियाँ—बेला, समय। सुथरी—साफ, अच्छी। सेजरियाँ—शय्या। उजियरियाँ—चाँदनी। नींदरियाँ—निद्रा। (८९) हरुये करि—धीरे से। भवन लए री—भीतर उठा ले गईं। रए—रंगे हैं।

कहत रोहिनी सोवन देहु न, खेलत दौरत हारि गए री।
'सूरदास' प्रभु को मुख निरखत ये सुख नित नित होत नए री ॥

६०—राग धनाश्री

मोहन काहे न उगिलो माटी।
बार बार अनरुचि उपजावत महरि हाथ लिए साँटी ॥
महतारी को कह्यो न मानत कपट चतुराई ठाटी।
बदन पसारि दिखाइ आपने नाटक की परिपाटी ॥
बड़ी बार भई लोचन उघरे भ्रम जामिनि नहीं फाटी।
'सूरदास' नँदरानि भ्रमित भई कहत न मीठी खाटी ॥

६१—राग रामकली

मो देखत जसुमति तेरे ढोटा अबहीं माटी खाई।
इह सुनि कै रिस करि उठि धाई बाँह पकरि लै आई ॥
इक कर सों भुज गहि गाढ़े करि इक कर लीने साँटी।
मारति हौं तोहि अबहिं कन्हैया बेगि न उगलो माटी ॥
ब्रज लरिका सब तेरे आगे झूँठी कहत बनाई।
मेरे कहे नहीं तू मानति दिखरावों मुख बाई ॥
अखिल ब्रह्मांडखंड की महिमा देखराई मुख माहीं।
सिंधु सुमेरु नदी बन परबत चकित भई मनमाहीं ॥
कर ते साँटि गिरत नहिं जानी भुजा छाँड़ि अकुलानी।
'सूर' कहै जसुमति मुख मूँदेउ बलि गई सारँग-पानी ॥

हारि गए—थक गए। (६०) अनरुचि—नाराजी। साँटी—छड़ी। ठाटी—की। आपने नाटक की परिपाटी—सृष्टि की रचना। भ्रम जामिनि नहिं फाटी—भ्रम दूर न हुआ। कहत न मीठी खाटी—भला बुरा कुछ नहीं कहती। (६१) ढोटा—बेटा। गाढ़े करि—मज़बूती से। साँटी—छड़ी, गोजी। मुँह बाई—मुख फैला कर।

६२—राग गौरी

मैया री मोहिं माखन भावै।
मधु मेवा पकवान मिठाई मोहिं नहीं रुचि आवै॥
ब्रजजुवती इक पाछे ठाढ़ी सुनति स्याम की बातैं।
मन मन कहति कबहुँ अपने घर देखौं माखन खातैं॥
बैठैं जाय मथनियाँ के ढिक, मैं तब रहौं छिपानी।
'सूरदास' प्रभु अंतरजामी ग्वालि मनहिं की जानी॥

६३—राग बिलावल

प्रथम करी हरि माखन चोरी।
ग्वालिनि मन इच्छा करि पूरन आप भजे हरि, ब्रज की खोरी॥
मन मैं इहै बिचार करत हरि, ब्रज घर घर सब जाऊँ॥
गोकुल जनम लियो सुख कारन सबको माखन खाऊँ॥
बालरूप जसुमति मोहिं जानै गोपिन मिलि सुख भोगू।
'सूरदास' प्रभु कहत प्रेम सों येरो रे ब्रज लोगू॥

६४—राग रामकली

करत हरि ग्वालन संग बिचार।
चोरि माखन खाहु सब मिलि करो बालबिहार॥
यह सुनत सब सखा हरषे भली कही कन्हाइ।
हँसि परसपर देत तारी सौंह करि नँदराइ॥
कहाँ तुम यह बुद्धि पाई स्याम चतुर सुजान।
'सूर' प्रभु मिलि ग्वालबालक करत हैं अनुमान॥

---

(६२) मधु—(मधुर) मीठे। मन मन कहति—अभिलाषा करती है। अंतरजामी—मन की बात जानने वाले। (६३) भजे—भगे। खोरी—गली। (६४) बालबिहार—बाललीला। सौंह—शपथ। करत हैं अनुमान—सोचते हैं कि माखनचोरी के लिये किसके घर चलना चाहिये।

६५—राग गौरी

सखा सहित गए माखन चोरी ।
देख्यो स्याम गवाच्छ पंथ ह्वै गोपी एक मथति दधि भोरी ॥
हेरि मथानी धरी माट ते माखन हो उतरात ।
आपुन गई कमोरी माँगन हरि हू पाई घात ॥
पैठे सखन सहित घर सूने माखन दधि सब खाई ।
छूँछी छाँड़ि मटुकिया दधि की हँसे सब बाहिर आई ॥
आइ गई कर लिये मटुकिया, घर ते निकरे ग्वाल ।
माखन कर दधि मुख लपटाने देखि रही नँदलाल ॥
भुज गहि लियो कान्ह को बालक भागे ब्रज की खोरि ।
'सूरदास' प्रभु ठगि रही ग्वालिनि मनुहरि लियो अँजोरि ॥

६६—राग कान्हरो

चली ब्रज घर घरनि यह बात ।
नँदसुत सँग सखा लीने चोरि माखन खात ॥
कोउ कहति मेरे भवन भीतर अबहिं पैठे धाइ ।
कोउ कहति मुहिं देखि द्वारे गयउ तबहिं पराय ॥
कोउ कहति केहि भाँति हरि को लखौं अपने धाम ।
हेरि माखन देउँ आछो खाहिं जितनो स्याम ॥
कोउ कहति मैं देखि पाऊँ भरि धरौं अँकवारि ॥
कोउ कहति मैं बाँधि राखौं को सकै निरवारि ॥

---

(६५) गवाच्छ—झरोखा । कमोरी—छोटी हाँड़ी । अँजोरि लेना—हर लेना, हरण कर लेना, लूट ले जाना । (मिलाओ) करौं जो कुछ धरौ सचि पचि सुकृत सिला बटोरि । पैठि उर बरबस दयानिधि दंभ लेत अँजोरि । (तुलसी) (६६) यह बात चली—यह चर्चा होने लगी । हेरि-देउँ—खोज द, ढूँढ ढूँढ़ कर दें । को निरवारि सकै—कौन छोड़ा सकता है ।

'सूर' प्रभु के मिलन कारन करत बुद्धि विचार।
जोरि कर विधि सों मनावति पठव नँदकुमार॥

९७—राग गौरी

देखि फिरे हरि ग्वाल दुवारे।
तब इक बुद्धि रची अपने मन भीतर फाँदि परे पिछवारे॥
सूने भवन कहूँ कोउ नाहीं मनौ याहि को राजू।
भाँड़े धरत उघारत मूँदत दधि माखन के काजू॥
रैनि जमाइ धर्यो सो गोरस पर्यो स्याम के हाथ।
लै लै खात अकेले आपुन सखा नहीं कोउ साथ॥
आहट सुनि जुवती घर आई देख्यो नंदकुमार।
'सूर' स्याम मंदिर अँधयारे निरखत बारबार॥

९८—राग गौरी

स्याम! कहा चाहत से डोलत।
बूझे हू तें बदन दुरावत सूधे बोल न बोलत॥
सूने निकट अँध्यारे मंदिर दधि भाजन में हाथ।
अब कहि कहा बनैहौ ऊतर कोऊ नाहिन साथ॥
मैं जान्यो यह घर अपनो है या धोखे मैं आयो।
देखत हौं गोरस में चींटी काढ़न को कर नायो॥
सुनि मृदुबचन निरखि मुखसोभा ग्वालिनि मुरि मुसुकानी।
'सूर' स्याम तुम हौ अति नागर बात तिहारी जानी॥

९९—राग सारंग

जसोदा कहाँ लौं कीजै कानि।
दिनप्रति कैसे सही परति है दूध दही की हानि।

---

(९७) फाँदि परे—कूद पड़े। आहट—चलने का शब्द। (९८) ऊतर—जवाब। मुरि—दूसरी ओर को मुँह करके। (९९) कानि—लिहाज़, संकोच

अपने या बालक की करनी जो तुम देखो आनि।
गोरस खाइ ढूँढ़ि सब बासन भली करी यह बानि॥
मैं अपने मंदिर के कोने माखन राख्यो जानि।
सोई जाइ तुम्हरे लरिका लीनो है पहिचानि॥
बूझी ग्वालिनि घर में आयो नेकु न संका मानी।
'सूर' स्याम तब उतर बनायो चींटी काढ़तु पानी॥

१००—राग धनाश्री

गोपाल दुरे हैं माखन खात।
देखि सखी सोभा जु बनी है स्याम मनहोर गात॥
उठि अवलोकि ओट ठाढ़े ह्वै जिहि बिधि हौं लखि लेत।
चकृत बदन चहूँ दिसि चितवत और सखन को देत॥
सुंदर कर आनन समीप अति राजत इहि आकार।
मनु सरोज बिधु-बैर बंचि कर लिये मिलत उपहार॥
गिरि गिरि परत बदन ते उर पर द्वै द्वै दधि सुत बिंदु।
मानहु सुभग सुधाकन बरषत लखि गगनांगन इंदु॥
बालबिनोद बिलोकि 'सूर' प्रभु सिथिल भई ब्रजनारि।
फुरै न बचन, बरजिबे कारन रही बिचारि बिचारि॥

१०१—राग गौरी

जो तुम सुनहु जसोदा गोरी।
नँदनंदन मेरे मंदिर में आजु करन गये चोरी॥
हौं भइ आनि अचानक ठाढ़ी कह्यो भवन में कोरी।
रहे छपाइ सकुचि रंचक ह्वै भई सहज मति भोरी॥

बानि—आदत। उतर बनायो—बहाना बनाया (१००) बंचिकर—छोड़ कर। दधिसुत—माखन। बदन—मुख। सिथिल भई—स्तंभित हो गई। फुरै न बचन—बचन नहीं निकलता।

जब गहि बाँह कुलाहल कीनो तब गहि चरन निहोरी ।
लगे लेन नैनन भरि आँसू तब मैं कानि न तोरी ॥
मोहि भयो माखन को बिसमय रीती देखि कमोरी ।
'सूरदास' प्रभु करत दिनहि दिन ऐसी लरिक-सलोरी ॥

१०२—राग गौरी

महरि तुम मानौ मेरी बात ।
ढूँढि ढूँढि गोरस सब घर को हरयो तुम्हारे तात ॥
और काढ़ि सींके ते लीनो ग्वाल कँधा दै लात ।
असंभाबु बोलन आई है ढीठ ग्वालिनी प्रात ॥
चाखत नहीं दूध धौरी को तेरे कैसे खात ।
ऐसो तो मेरो न अचगरो कहा बनावति बात ॥
चितवत चकित ओट भए ठाढ़े जसुदा तन मुसकात ।
हैं गुन बड़े 'सूर' के प्रभु के ह्याँ लरिका ह्वै जात ॥

१०३—राग गौरी

सोवतेहि बजात क्यों तू नहीं ।
कहा करौं दिन प्रति की बातैं नाहिन परत सही ॥
माखन खात दूध लै डारत लेपत देह दही ।
ता पाछे घरहू के लरिकन भाजत छिरकि मही ॥

---

(१०१) कानि न तोरी—मुरौवत न तोड़ी, लिहाज़ से कुछ कहा नहीं। कमोरी—मटकी। मोहि..... कमोरी—मुझे आश्चर्य हुआ कि यह छोटा लड़का कमोरी भर माखन कैसे खा गया। लरिक-सलोरी—लड़कों की शरारत (१०२) सींका—छींका, सिकहर। असंभाबु—न कहने योग्य बात, अनुचित बात। तेरे—तेरे यहाँ। अचगरी—शरारती। ह्याँ—यहाँ (यशोदा के निकट) (१०३) नहीं सही परत—सहन नहीं होती। मही—मट्ठा, छाछ।

जो कछु धरहिं दुराय दूर लै जानत ताहि तहीं।
सुनहु महरि तेरे या सुत सों हम पचि हारि रहीं॥
चोर अधिक चतुराई सीखी जाइ न कथा कही।
तापर 'सूर' बछरुवनि ढीलत बन बन फिरत वही॥

१०४—राग धनाश्री

चोरी करत कान्ह धरि पाये।
निसिवासर मोहिं बहुत सतायो अब हरि हाथहिं आये॥
माखनि दधि मेरो सब खायो बहुत अचगरी कीन्ही।
अब तो फंद परे हो लालन तुम्हैं भले मैं चीन्ही॥
दोउ भुज पकरि कह्यो कित जैहो माखन लेउँ मँगाई।
तेरी सौं मैं नेकु न चाख्यो सखा गये सब खाई॥
मुखतन चितै बिहँसि हँसि दीनो रिस तब गई बुझाई।
लियो उर लाइ ग्वालिनी हरि को 'सूरदास' बलि जाई॥

१०५—राग गौरी

कत हो कान्ह काहू के जात।
ये सब बढ़ी गरब गोरस के मुख सम्हारि बोलत नहिं बात॥
जोइ जोइ रुचै सोइ सोइ मो पै माँगि लेहु किन तात।
ज्यों ज्यों बचन सुन्यों त्यों त्यों मुख पावत सब गात॥
कैसी टेव परी इन गोपिन उरहन मिस आवैं प्रात।
'सूर' सबति हठि दोष लगावति घर माखन नहिं खात॥

पचि हारि रहीं—बहुत हैरान हो गई हैं। बन बन फिरत वही—हमें ढूँढ़ने के लिये वन वन मारा फिरना पड़ता है। (१०४) अचगरी—शरारत। हाथहि आये—पकड़ गया है। (१०५) टेव—आदत। उरहन—(उपालंभ) ओलहना। सबति—(सपत्नी) यसोदाजी खफा होकर क्रोध से उसे 'सबति' कहती हैं।

१०६—राग सारंग

जसुदा तू जो कहति ही मोसों।
दिनप्रति देन उरहनो आवति कहा तिहारो कोसों॥
वहै उरहना सत्य करन को गोविंदहि गहि ल्याई।
देखन चली जसोदा सुत को ह्वै गये सुता पराई॥
तेरे हृदय नेक मति नाहीं बदन पेखि पहिचान्है।
सुन री सखी कहत डोलति है या कन्या सों कान्है॥
तैं जो नाम कान्ह मेरे को सूधो ह्वै करि पायो।
'सूरदास' स्वामी यह देखौ तुरत त्रिया ह्वै आयो॥

१०७—राग गौरी

स्याम गये ग्वालिन घर सूनो।
माखन खाइ डारि सब गोरस, बासन फोरि, सोर हठि दूनो॥
बड़ो माट इक बहुत दिनन को तासु किये दस टूक।
सोवत लरिकन छिरकि मही सों हँसत चले दै कूक॥
आई गई ग्वालिनि तिहि औसर निकसत हरि धरि पायो।
देखत घर बासन सब फूटे दही दूध ढरकायो॥
दोउ भुज धरि गाढ़े करि लीन्हे गई महरि के आगे।
'सूरदास' अब बसै कौन ह्यां पति रहिहै ब्रज त्यागे॥

१०८—राग कान्हरो

करत कान्ह ब्रजघरनि अचगरी।
खीझति महरि कान्ह सों पुनि पुनि उरहन लै आवति हैं सिगरी॥
बड़े बाप के पूत कहावत हम वै बास बसत इक नगरी।
नंदहु ते ये बड़े कहैहैं फेरि बसैहैं ये ब्रज नगरी॥

---

(१०६) कहति ही—कहती थी। कोसों—शाप दूँ, बुरा कहूँ। (१०७) माट—मटका। मही—मट्ठा। पति—प्रतिष्ठा। (१०८) अचगरी—शरारत।

जननी के खीझत हरि रोये झूँठेहु मोहिं लगावत धगरी।
'सूर' स्याम मुख पोंछि जसोदा कहति सबै जुवती हैं लँगरी॥

१०९—राग सारंग

लोगन कहत झुकति तू बौरी।
दधि माखन गाँठी दै राखत करत फिरत सुत चोरी॥
जाके घर की हानि होत नित सो नहिं आन कहै री?
जाति पाँति के लोगन त्यागत और बसै है नेरी॥
घर घर कान्ह खान को डोलत आतिहि कृपिन तू है री।
'सूर' स्याम को जब जोइ भावै सोइ तबहीं तू दै री॥

११०—राग मलार

महरि तैं बड़ी कृपिन है माई।
दूध दही विधि को है दीनो सुत डर धरति छिपाई॥
बालक बहुत नाहिं री तेरे एकै कुँवर कन्हाई।
सोऊ तो घर ही घर डोलत माखन खात चुराई॥
वृद्ध वैस पूरे पुन्यनि तें तैं बहुतै निधि पाई।
ताहू को खैबे पियबे को कहा करति चतुराई॥
सुनहु न वचन चतुर नागरि के जसुमति नंद सुनाई।
'सूर' स्याम को चोरी के मिस देखन को यह आई॥

धगरी—बदमाश, पुंश्चली। लँगरी—ढीठ (१०९) झुकति—नाराज होती है, खीझती है। गाँठि दै राखति—छिपा रखती है। और बसै है नेरी—क्या अन्य जाति के लोगों को अपने निकट बसावेगी। (११०) विधि को है दीनो—ईश्वर का दिया बहुत है। डोलत—फिरता है। वृद्ध वैस—बुढ़ापे में। निधि—धन।

१११—राग नट

अनत्त सुत गोरस को कत जात।
घर सुरभी नव लाख दुधारी और गनी नहिं जात॥
नित प्रति सबै उरहने के मिस आवति हैं उठि प्रात।
अन-समुझे अपराध लगावति विकट बनावति बात॥
अतिहि निसंक विवादति सनमुख सुनि मोहि नर रिसात।
मो सों कुपित कहत तेरे गृह ढोटाऊ न अघात॥
करि मनुहारि उठाय गोद लै सुत को बरजति मात।
'सूर' स्याम नित सुनत उरहनो दुख पावत तेरो तात॥

११२—राग नट

स्याम सब भाजन फोरि पराने।
हाँक देत पैठत हैं पैलै नेकु न मनहिं डेराने॥
सींके तोरि मारि लरिकन को माखन दधि सब खाई।
भवन मच्यो दधिकाँदौ लरिकन रोवत पाये जाई॥
सुनहु सुनहु सबहिन के लरिका तेरो सो कहुँ नाहीं।
हाट बाट गलियन कहुँ कोऊ चलत नहीं डरपाहीं॥
ऋतु आये को खेल, कन्हैया सब दिन खेलत फाग।
रोकि रहत गहि गली साँकरी टेढ़ी बाँधत पाग॥
बारे ते सुत ये ढँग लाये मन ही मनहिं सिहात।
सुनहु 'सूर' ग्वालिनि की बतैं सकुचि महरि पछितात॥

---

(१११) अनत—अन्यत्र। दुधारी—(सं० दुग्धालु) खूब दूध देने वाली। निसंक—निडर। बिवादति—विवाद करती है। ढोटा—बेटा। मनुहार करना—खुशामद करना। तेरो तात—तेरे पिता (नन्दजी)। (११२) पैला—नाँद के आकार का बड़ा बरतन जिसमें दूध दही ढका जाता है। दधिकाँदो—दही का कीचड़। फाग खेलना है—फूहड़ हँसी मजाक करता है। सिहाना—प्रशंसा करना (व्रज म)।

११३—राग सारंग

कन्हैया तू नहिं मोहिं डेरात।
षटरस धरे छोड़ि कत पर घर चोरी करि करि खात॥
बकति बकति तोसो पचि हारी नेकहु लाज न आई।
ब्रज परगन सरदार महर, तू ताकी करत नन्हाई॥
पूत सपूत भया कुल मेरो अब मैं जानी बात॥
'सूर' स्याम अबलौं तोहि बकस्यो तेरी जानी घात।

११४—राग गौरी

सुनरी ग्वारि कहौं एक बात।
मेरी सौं तुम याहि मारियो जबहीं पाओ घात॥
अब मैं याहि जकरि बाँधौंगी बहुतै मोहिं खिझाई।
साँटिन्हि मारि करौं पहुनाई चितवत बदन कन्हाई॥
अजहूँ मातु कह्यो सुत मेरो घर घर तू जनि जाहि।
'सूर' स्याम कह्यो कबहुँ न जैहौं माता मुख तन चाहि॥

११५—राग बिलावल

तेरे लाल मेरो माखन खायो।
दुपहर दिवस जानि घर सूनो ढूँढ़ि ढँढोरि आपही आयो॥
खोलि किवार सून मंदिर में दूध दही सब सखन खवायो।
सींके काढ़ि खाट चढ़ि मोहन कछु खायो कछु लै ढरकायो॥

---

(११३) पचिहारी—परेशान हो गई। ब्रज परगन—ब्रज के परगने में। सरदार—मुखिया। महर—नन्दजी। नन्हाई करत—छोटाई करते हो, निंदा कराते हो। बकस्यो—माफ किया। घात—युक्ति (मर्म)। (११४) घात—मौका, सुअवसर। पहुनाई—सत्कार (यहाँ व्यंग से दण्ड का अर्थ है) मुख तन चाहि—मुख की ओर देख कर। (११५) ढंढोरि आना—अच्छी तरह तलाश कर आना। खाट—चारपाई।

दिनप्रति हानि होत गोरस की यह ढोटा कौने ढँग लायो।
'सूरदास' कहती ब्रजनारी पूत अनोखो जसुमति जायो॥

११६—राग रामकली

माखन खात पराये घर को।
नित प्रति सहस मथानी मथिये मेघशब्द दधिमाठ घमर को॥
कितने अहिर जियत हैं मेरे, दधि लै बेंचत मेरे घर को॥
नव लख धेनु दुहत हे नित प्रति बड़ो भाग है नंद महर को।
ताके पूत कहावत हौ जी चोरी करत उघारत फरको।
'सूर' स्याम कितनो तुम खैहो दधि माखन मेरे जहँ तहँ ढरको॥

११७—राग रामकली

मैया! मैं नाहीं दधि खायो।
ख्याल परे ये सखा सबै मिलि मेरे मुख लपटायो॥
देखि तुहीं सीके पर भाजन ऊँचे घर लटकायो।
तुम्ही निरखि नान्हे कर अपने मैं कैसे करि पायो॥
मुख दधि पोंछि कहत नँदनंदन दोना पीठि दुरायो।
डारि साँट मुसकाइ तबहि गहि सुत को कंठ लगायो॥
बाल विनोद मोद मन मोह्यो भगति प्रताप देखायो।
'सूरदास' प्रभु जसुमति के सुख सिव बिरंचि बौरायो॥

११८—राग रामकली

देखो माई या बालक की बात।
बन उपवन सरिता सब मोहे देखत स्यामल गात॥

कौन ढंग लायो—कैसा आचरण सिखाया है। अनोखा—(सं० अन+ईक्ष) जैसा देखा न गया हो, अनूठा, अद्भुत। (११६) दधिमाठ घमर—दही की मटकी की घहरान। फरको,—फटका, द्वार का टट्टर। (११७ ख्याल परे—खेल करने की इच्छा से। नान्हे—छोटे साँट—छड़ी।

मारग चलत अनीति करत हरि हठकै माखन खात।
पीतांबर लै सिरते ओढ़त अंचल दै मुसुकात॥
तेरो सौं कहा कहौं जसोदा उरहन देत लजात।
जब हरि आवत तेरे आगे सकुचि तनक ह्वै जात॥
कौन कौन गुन कहौं स्याम के नेक न काहु डरात।
'सूर' स्याम मुख निरखि जसोदा, कहति कहा यह बात॥

११९—राग सारंग

बाँधौं आजु कौन तोहि छोरै।
बहुत लँगरई कीनी मोसौं भुज गहि रजु ऊखल सों जोरै॥
जननी अति रिस जानि बँधायो चितै बदन लोचन जल ढोरै।
यह सुनि व्रजयुवती उठि धाई कहत कान्ह अब क्यों नहिं चोरै॥
ऊखल सों गहि बाँधि जसोदा मारन को साँटी कर तोरै।
साँटी लखि ग्वालिनि पछितानी विकल भई जहँ तहँ मुख मोरै॥
सुनहु महरि ऐसी न बूझिये सुत बाँधत माखन दधि थोरै।
'सूर' स्याम हमें बहुत सतायो, चूक परी हमतें यहि भोरै॥

१२०—राग आसावरी

जाहु चली अपने अपने घर।
तुमहीं सब मिल ढीठ करायो अब आई बंधन छोरन वर॥

---

(११८) अनीत करत— छेड़छाड़ करते हैं। सौं—शपथ। तनक—छोटे से। गुन—(यहाँ) अवगुण, शरारत नेक न—ज़रा भी नहीं। कहति कहा यह बात—यह ग्वालिन क्या कहती है (असंभव सी बात कहती है)। (११९) लँगरई—ढिठाई। लोचन जल ढोरै—आँसू गिराते हैं, आँसू ढुलकाते हैं। ऐसी न बूझिये—ऐसा न करना चाहिये। चूक परी—गलती हुई (जो हमने उपालंभ दिया)। याहि भोरे—इस धोखे में पड़कर, (१२०) वर—बलपूर्वक, जबरदस्ती।

दूसरा रत्न

मोहिं अपने बाबा की सौंहैं कान्है अब न पत्याऊँ।
भवन जाहु अपने अपने सब लागति हौं मैं पाऊँ॥
मोको जिनि बरजै जुवती कोउ देखौं हरि के ख्याल।
'सूर' स्याम सों कहति जसोदा बड़े नंद के लाल॥

१२१—राग सोरठ

जसोदा तेरो मुख हरि जोवै।
कमल नयन हरि हिचिकिनि रोवै बंधन छोरि जु सोवै॥
जो तेरो सुत खरो अचगरो तऊ कोखि को जायो।
कहा भयो जो घर को ढोटा चोरी माखन खायो॥
कोरी मटकी दही जमायो, जामन पूजि न पायो।
तेहि घर देव पितर काहे को जा घर कान्ह रुवायो॥
जाकर नाम लेत भ्रम छूटै करमफंद सब काटै।
सो हरि प्रेम जेवरी बाँध्यो जननि साँट लै डाटै॥
दुखित जानि दोउ सुत कुबेर के तिन्ह हित आपु बँधायो।
'सूरदास' प्रभु भगत हेतु ही देह धारि तहँ आयो॥

१२२—राग बिहागरो

देखो माई कान्ह हिचकियन रोवै।
तनक मुखहिं माखन लपटान्यो डरनि ते अँसुवन धोवै।
माखन लागि उलूखल बाँध्यो सकल लोग ब्रज जोवै।
निरखि कुरुख उन बालनि की दिसि लाजन अँखियन धोवै॥

बाबा—पिता। सौंह—शपथ। कान्ह—कृष्ण को। न पत्याऊँ—विश्वास न करूँगी। ख्याल—खेल, शरारत। (१२१) खरो अचगरी—बड़ा शरारती। कुबेर के सुत—नल और कूबर (यमलार्जुन) (कथा—कुबेर के दो पुत्र नारद के शाप से अर्जुन वृक्ष होकर नंद के द्वार के निकट खड़े थे इन्हीं को जमलार्जुन कहते हैं)। (१२२) हिचकियन—हिचकी ले ले कर। उलूखल—ओखली।

ग्वाल कहैं धनि जननि हमारी स्वकर सुरभि नित नोवै।
बरबस ही बैठारि गोद में धारैं बदन निचोवै॥
ग्वालि कहैं या गोरस कारन कत सुत की पति खोवै।
आनि देहिं हम अपने घर तें चाहति जितक्कु जसोवै॥
जब जब बंधन छोरयो चाहति 'सूर' कहै यह कोवै।
मन माधव तन, चित गोरस में इहि विधि महरि बिलोवै॥

१२३—राग विहागरो

कुँवर जल लोचन भरि भरि लेत।
बालक बदन बिलोकि जसोदा कत रिस करत अचेत॥
छोरि कमर तें दुसह दाँवरी डारि कठिन वर वेत।
कहि तो को कैसे आवतु है सिसु पर तामस एत॥
मुख आँसू माखन के कनिका निरखि नैन सुख देत।
मनु ससि स्रवत सुधानिधि मोती उडुगन अवलि समेत॥
सरवसु तौ न्यवछावरि कीजै 'सूर' स्याम के हेत।
ना जानौं केहि हेतु प्रगट भये इहि ब्रज नंदनिकेत॥

१२४—राग केदारो

हरि मुख देखि हो नँदनारि।
महरि ऐसे सुभग सुत सों इतो कोह निवारि॥

नोवै—नोइना से गाय के पैर छानती है। धारैं बदन निचोवै—धैया पिलाती है। जसोवै—जशोदा। कहै यह को वै—यसोदा यह कहती है कि तुम कौन हो जो बंधन छोड़ती हो तुम्हा ने तो ओरहने दे देकर बँधवाया है न। बिलौवे—दही मथती है। (१२३) अचेत—अचिन्त्य, बहुत अधिक। दाँवरी—रस्सी। वेत—साटी, छरी। तामस—क्रोध। एत—इतना। निकेत—घर। (१२४) कोह—क्रोध।

जलज मंजुल लोल लोचन सरद चितवत दीन।
मनहुँ खेलत हैं परसपर मकरधुज द्वै मीन॥
ललित कन संजुत कपोलनि ललित कज्जल अंक।
मनहुँ राजत चंद पूरनकला जुत सकलंक॥
बेगि बंधन छोरि तन मन वारि, लै हिय लाइ।
नवल स्याम किसोर ऊपर 'सूरजन' बलि जाइ॥

१२५—राग बिहागरो

कहौ तो माखन ल्याऊँ घर तें।
जा कारन तू छोरति नाहिंन लकुट न डारति कर तें॥
महरि सुनहु ऐसी न बूझिये सकुचि गयो मुख डर तें।
मनहुँ कमल दधि-सुत समयो नहिं फूलत नहिं सर तें॥
ऊखल लाइ भुजा धरि बाँधे मोहन मूरति बर तें।
'सूर' स्याम लोचन जल बरषत जनु मुकता हिमकर तें॥

१२६—राग कल्याण

कहन लगीं अब बढ़ि बढ़ि बात।
ढोटा मेरो तुमहिं बँधायो तनकहिं माखन खात॥
अब मोहिं माखन देति मँगाए मेरे घर कछु नाहीं।
उरहन करि करि साँझ सवारे तुमहिं बँधायो याहीं॥
रिस ही में मोको कहि दीनों अब लागी पछितान।
'सूरदास' हँसि कहत जसोदा बूझा सबको ग्यान॥

१२७—राग धनाश्री

कहा भयो जो घर के लरिका चोरी माखन खायो।
अहो जसोदा कत त्रासति है, यहै कोख को जायो॥

मकरधुज—काम। (१२५) दधि-सुत—(उदधि-सुत) चंद्रमा। बर तें—बल से, जबर्दस्ती। हिमकर—चन्द्रमा।

बालक जौन अजान न जानै केतिक दही लुटायो।
तेरो सखो कहा गयो गोरस गोकुल अंत न पायो॥
हाहा लकुट त्रास देखरावत आपन पास बँधायो।
रुदन करत दोउ नयन रचे हैं मनहुँ कमल तनि छायो॥
पौढ़ि रहे धरनी पर तिरछे बिलखि वदन करि जावहु।
'सूरदास' प्रभु रसिक-सिरोमनि हँसि कै कंठ लगावहु॥

१२८—राग सोरठा

जसोदा तेरो भलो हियो है माई।
कमल नयन माखन के कारन बाँधे ऊखल लाई॥
जो संपदा देव मुनि दुरलभ सपनेहुँ दई न दिखाई।
याही ते तू गरब भुलानी घर बैठे निधि पाई॥
सुत काहु को रोवत देखति दौरि लेत हिय लाई।
अब अपने घर के लरिका सों इती कहा जड़ताई॥
बारम्बार सजल लोचन ह्वै चितवत कुँवर कन्हाई।
कहा करौं बलि जाउँ छोरती तेरी सौंह दिवाई॥
जो मूरति जलथल में व्यापक निगम न खोजत पाई।
सो मूरति तू अपने आँगन चुटकी ददै नचाई॥
सुरपालक सब असुर-संहारक त्रिभुव जाहि डराई।
'सूरदास' प्रभु की यह लीला निगम नेति नित गाई!

१२९—राग रामकली

जसोदा यह न बूझि को काम।
कमल नयन की भुजा देखि धौं तैं बाँधे हैं दाम॥

(१२७) गोकुल अंत न पायो—तेरी गायों का कुछ अंत नहीं है (बहुत)। पास—रस्सी। रचे हैं—लाल हो गये हैं। (१२८) ददै—दे दे कर। (१२९) बूझि—बुद्धि, समझ। धौं—तो।

मेरे प्रान जीवनधन माधव बाँधे बेर भई।
'सूर' स्याम कहँ त्रास दिखावत तुम कहा करत दई॥

१३५—राग कान्हरो

मैं दुहिहौं मोहिं दुहन सिखावहु।
कैसे धार दूध की बाजत सोइ सोइ विधि तुम मोहिं बतावहु॥
कैसे दुहत दोहनी घुटुवन कैसे बछरा थनहि लगावहु।
कैसे लै नोई पग बाँधत कैसे पगैया लै अटकावहु॥
निकट भई अब साँझ कन्हैया गाइन पै कहुँ चोट लगावहु।
'सूर' स्याम सों कहत ग्वाल सब धेनु दुहन प्रातहि उठि आवहु॥

१३६—राग बिलावल

तनक तनक की दोहिनी दै दै री मैया।
तात दुहन सीखन कह्यो मोहिं धौरी गैया॥
अटपटे आसन बैठिकै गोथन कर लीनो।
धार अनत ही देखिकै ब्रजपति हँसि दीनो॥
घर घर ते आई सबै देखन ब्रजनारी।
चितै चोरि चित हरि लियो हँसि गोप-बिहारी॥
विप्रबोलि आसन दियो करि वेद उचारी।
'सूर' स्याम सुरभी दुही संतन हितकारी॥

१३७—राग देवगंधार

बछरा चारन चले गोपाल।
सुबल सुदामा अरु श्रीदामा संग लिए सब ग्वाल।

बेर—देरी। (१३५) नोई—वह रस्सी जिससे दुहते समय गाय के पिछले पैर बाँध दिये जाते हैं जिससे वह कूदती नहीं। गाइन पै—गौओं से। पगैया—पगही (बछड़े की)। लगावहु—लगवाओगे। (१३६) अटपटे—बेढंगा। ब्रजपति—नंदजी।

दनुज एक तहँ आई पहुँचेउ धरे बच्छ को रूप।
तरन चहत ब्रजपति के हाथन मूढ़ परो भव कूप॥
हरि हलधर दिसि चितइ कहत तुम जानत हो यहि बीर।
कह्यो आहि दानौ यहि मारौ धारे बच्छ सरीर॥
तब हरि सींग गह्यो यक करसों यक करसों गहे पाय।
थोरे ही बल सों छिन भीतर दीनो ताहि गिराय॥
गिरत धरनि पर प्रान गए चलि फिरि नहिं आई साँस।
'सूरदास' ग्वालन सँग मिलि हरि लागे करन बिलास॥

१३८—राग सारंग

बन बन फिरत चारत धेनु।
स्याम हलधर सँग हैं बहु गोप-बालक-सेनु॥
तृषित भई सब जानि मोहन सखन टेरत बेनु।
बोलि ल्याओ सुरभि गन सब चलौ जमुन जल देनु॥
सुनत ही सब हाँकि ल्याये गई कर इकठैन।
हेरि दै दै ग्वाल बालक किये जमुन-तट गैन॥
रचि बकासुर रूप माया रह्यो छलिकरि आइ।
चंचु यक पुहुमी लगाई इक आकास समाइ॥
आगे बालक जात हैं ते पाछे आए धाइ।
स्याम सों सब कहन लागे आगे एक बलाई॥
नितहि आवत सुरभि लीने ग्वाल गोसुत संग।
कबहुँ नहिं इहि भाँति देख्यो आज को सो रंग॥

---

(१३७) दानौ—दानव। थोरेक—थोड़े ही। विलास—खेलकूद।
(१३८) सेनु—सेना। इकठैन—इकट्ठे, एकत्र। हेरी देना—ग्वालों के गीत गाना। गैन—गमन। चंचु—चोंच। पुहुमी—पृथ्वी।

मनहिं मन तब कृस्न जान्यो बका-असुर बिहंग।
चोंच फारि बिदारि डारौं पलक में करौं भंग॥
निदरि चले गुपाल आगे बकासुर के पास।
सखा सब मिलि कहन लागे तुम न जिय की त्रास॥
अजहूँ नाहिं डरात मोहन बचे कितने गाँस।
तब कह्यो हरि चलहु सब मिलि मारि करहिं बिनास॥
चले सब मिलि जाइ देख्यो अगम तन बिकरार।
इत धरनि उत ब्योम के बिच गुहा के आकार॥
पैठि बदनु बिदारि डारयो अति भए बिस्तार।
मरत असुर चिकार पारयो "मारयो नंदकुमार"॥
सुनत धुनि सब ग्वाल डरपे अब न उबरै स्याम।
हमहिं बरजत गयो देखो कियो ऐसो काम॥
देखि ग्वालन बिकलता तब कहि उठे बलराम।
बका बदन बिदारि डारयो अबहिं आवत स्याम॥
सखा हरि तब टेरि लीने सबै आवहु धाइ।
चोंच फारि बका संहारयो तुमहुँ करौ सहाइ॥
निकट आए गोप बालक देखि हरि सुख पाइ।
'सूर' प्रभु ये चरित अगनित नेति निगमन गाइ॥

१३१—राग नट

छाक लेने जे ग्वाल पठाए।
तिनसों बूझति महरि जसोदा छाँड़ि कन्हैयहि आए॥
हमहिं पठाय दिये नंदनंदन भूखे अति अकुलाए।
धेनु चरावत हैं बृन्दावन हम यहि कारन आए॥

गाँस—आपदा। ब्योम—आकाश। गुहा—गुफा। चिकार पारयो—चिल्लाया। (१३१) छाक—भोजन (चरवाहों का)।

यह कहि ग्वाल गए अपने गृह वन की खबर सुनाए।
'सूर' स्याम बलराम प्रात ही अधजेंवत उठि धाए॥

१४०—राग सारंग

जोरति छाक प्रेम सों मैया।
ग्वालन बोलि लए अधजेंवत उठि दौरे दोउ भैया॥
तबहीं ते भोजन नहिं कीनो चाहत दियो पठाई।
भूखे भए आजु दोउ भैया आपहिं बोलि मँगाई॥
सद माखन साजो दधि मीठो मधु मेवा पकवान।
'सूर' स्याम को छाक पठावति कहति ग्वाल सों जान॥

१४१—राग सारंग

आई छाक बुलाए स्याम।
यह सुनि सखा सबै जुरि आए सुबल सुदामा अरु श्रीदाम॥
कमलपत्र दोना पलास के सब आगे धरि परुसत जात।
ग्वाल मंडली मध्य स्यामघन सब मिलि भोजन रुचिकर खात॥
ऐसी भूख माँझ इह भोजन पठै दियो करि जसुमति मात।
'सूर' स्याम अपनो नहि जेंवत ग्वालन कर तें लै लै खात॥

१४२—राग सारंग

सखन संग हरि जेंवत छाक।
प्रेम सहित मैया दै पठये सबै बनाए हैं एकताक॥
सुबल सुदामा श्रीदामा सँग सब मिलि भोजन रुचि सों खात।
ग्वालन-कर तें कौर छुड़ावत मुख लै मेलि सराहत जात॥
जो सुख कान्ह करत वृन्दावन सो सुख नहीं लोकहूँ सात।
'सूर' स्याम भगतन-बस ऐसे व्रजहि कहावत हैं नँद-तात॥

---

(१४०) जोरति छाक—भोजन की सामग्री एकत्र करती है। सद—(सद्य) ताजा। साजो—अच्छा। (१४१) एकताक—एक भाँति के अति उत्तम। नंदतात—नंद के पुत्र।

ग्वाल कर तें कौर छुड़ावत।
जूठो लेत सवन के मुख को अपने मुख लै नावत॥
षटरस के पकवान धरे सब तामें नहिं रुचि पावत।
हा हा करि करि माँगि लेत हैं कहत मोहिं अति भावत॥
यह महिमा एई पै जानैं जाते आप बँधावत।
'सूर' स्याम सपने नहिं दरसत मुनिजन ध्यान लगावत॥

१४४—राग सारंग

ब्रजवासी कोउ पटतर नाहिं।
ब्रह्म सनक सिव ध्यान न पावत इनकी जूठनि लै लै खाहिं॥
धन्य नंद धनि जननि जसोदा धन्य जहाँ अवतार कन्हाइ।
धन्य धन्य वृन्दावन के तरु जहँ विहरत त्रिभुवन के राइ॥
हलधर कह्यो छाक जेंवत संग मीठो लगत सराहत जाइ॥
'सूरदास' प्रभु विस्वंभर हैं ते ग्वालिन के कौर अघाइ॥

१४५—राग सारंग

जेंवत छाक गाइ बिसराई।
सखा सुदामा कहत सबनि सों छाकहि में तुम रहे भुलाई॥
धेनु नहीं देखियत कहुँ नियरे भोजन ही में साँझ लगाई।
सुरभि काज जहँ तहँ उठि धाये आप तहाँ उठि चले कन्हाई॥
ल्याये ग्वाल घेरि गो-गोसुत देखि स्याम मन हरष बढ़ाई।
'सूरदास' प्रभु कहत चलौ घर बन में आज अबार कराई॥

---

(१४४) ब्रजवासी कोउ पटतर नाहिं—ब्रजवासी ग्वालों का कोई उपमान नहीं है। (१४५) अबार—कुबेला।

तीसरा रत्न

—:०:—

(रूपमाधुरी)

१—राग मलार

देखो भाई सुन्दरता को सागर।
बुधि विवेक बल पार न पावत, मगन होत मन नागर॥
तनु अति स्याम अगाध अम्बुनिधि, कटि पट-पीत तरंग।
चितवत चलत अधिक रुचि उपजत भँवर परत अँग अंग॥
मीन नैन मकराकृत कुण्डल भुज बल सुभग भुजंग।
मुकुत-माल मिलि मानो सुरसरि द्वै सरिता लिये संग॥
मोर मुकुट मनिगन आभूपन कटि किंकिन नखचंद।
मनु अडोल बारिध मैं बिंबित राका उडुगन वृन्द॥
बदन चन्द्र मंडल की सोभा अवलोकत सुख देत।
जनु जलनिधि मथि प्रगट कियो ससि श्री अरु सुधा समेत॥
देखि सुरूप सकल गोपी जन रहीं निहारि निहारि।
तदपि 'सूर' तरि सकीं न सोभा रही प्रेम पचि हारि॥

---

(१) नागर—चतुर। अम्बुनिधि—समुद्र। रुचि—कांति। अडोल—स्थिर। राका—पूर्णिमा की रात्रि। श्री—लक्ष्मी (सौन्दर्य)। प्रेम पचि—प्रेम से परिपूर्ण होकर। हारि रहीं—थक गईं।

२—राग गौरी

नंदनंदन मुख देखो माई।
अंग अंग छबि मनहु उए रबि, ससि अरु समर लजाई॥
खंजन मीन कुरंग भृंग बारिज पर अति रुचि पाई।
स्रुतिमंडल कुंडल बिबि मकर सुबिलसत मदन सहाई।
कंठकपोत कीर बिद्रुम पर दारिमकननि चुनाई।
दुइ सारँगबाहन पर मुरली आई देत दोहाई॥
मोहे थिर चर बिटप बिहंगम ब्योम बिमान थकाई।
कुसुमांजुलि बरषत सुर ऊपर 'सूरदास' बलिजाई॥

३—राग सारंग

मुख छबि कहौं कहाँ लगि माई।
मनो कंज परकाश प्रात ही रबि ससि दोऊ जात छपाई॥
अधर बिंब, नासा ऊपर मनो सुक चाखन को चोंच चलाई।
बिकसित बदन दसन अति चमकत दामिनि दुति दुरि देत दिखाई॥
सोभित स्रुति कुंडल की डोलनि मकराकृति अति श्री बनि आई।
निसि दिन रटत 'सूर' के स्वामी ब्रज बनिता देह बिसराई॥

४—राग गौरी

देखि सखी हरि को मुख चारु।
मनहुँ छिनाइ लियो नंदनंदन वा ससि को सत सारु॥

---

(२) समर—(सं० स्मर) कामदेव। बारिज—कमल। रुचि—शोभा। स्रुति मंडल—कान। बिबि—दो। मकर—मछली। कीर—तोता (नासिका)। बिद्रुम—मूँगा (ओठ)। दारिमकन—अनार के बीज (दाँत)। सारँगबाहन—हाथ। बिहंगम—पक्षी। ब्योम—आकाश। (३) परकाश—प्रकाश, विकास। श्री—शोभा। देह बिसराई—शरीर की सुधबुध भुलाकर।

रूप तिलक कच कुटिल किरन छवि कुंडल कल विस्तारु ।
पत्रावलि परिवेष सुमन-सरि मिल्यो मनहुँ उड़हारु ॥
नैन चकोर विहंग 'सूर' सुनि पिवत न पावत पारु ।
अब अंबर ऐसो लागत है जैसो जूठो थारु ॥

५—राग धनाश्री

हरिमुख किधौं मोहनी माई ।
बोलत वचन मंत्र सो लागत गति मति जात भुलाई ॥
कुटिल अलक राजत भ्रुव ऊपर जहँ तहँ रही बगराई ।
स्याम फाँसि मन करष्यो हमारो अब समझी चतुराई ।
कुंडल ललित कपोलन झलकत इनकी गति मैं पाई ।
'सूर' स्याम जुवती मन मोहत ये सँग करत सहाई ॥

६—राग सारंग

सुन्दर मुख की बलि बलि जाऊँ ।
लावनिनिधि गुननिधि सोभानिधि निरखि निरखि जीवत सब गाऊँ ॥
अंग अंग प्रति अमित माधुरी प्रगटति रस रुचि ठावैं ठाऊँ ।
तापै मृदु मुसकानि मनोहर न्याय कहत कवि मोहन नाऊँ ॥
नैन सैन दै दै जब हेरत तापै हौं बिन मोल बिकाऊँ ।
'सूरदास' प्रभु मन मोहन छवि यह सोभा उपमा नहिं पाऊँ ॥

---

(४) पत्रावलि—एक प्रकार की शृङ्गार रचना जो चेहरे पर की जाती है। परिवेष—चद्रमा के गिर्द का कुंडलाकार घेरा। सुमनसरि—फूलों की माला। अंबर—आकाश। (५) गति—चलना। मति—बुद्धि। भ्रुव—भौंह। बगराय रही—छिटकी पड़ी हैं। स्याम फाँसि—काली फाँसी। करष्यो—खींचा। गति पाई—मर्म समझ लिया। (६) लावनिनिधि—(लावण्यनिधि) सुन्दरता के समुद्र। न्याय—ठीक ही, सत्य ही। माधुरी—मिठास। रस रुचि—प्रेम की इच्छा।

७—राग सोरठ

देख सखी मोहन मन चोरत।
नैन कटाच्छ विलोकनि मधुरी सुभग भृकुटि बिबि मोरत॥
चंदन खौरि ललाट स्याम के निरखत अति सुखदाई।
मानहु अर्द्धचन्द्र तट अहिनी सुधा चोरावन आई॥
मलयज भाल भृकुटि की रेखा कहि उपमा एक आवत।
मनो एक सँग गंग जमुन नभ तिरछी धार बहावत॥
भृकुटी चारु निरखि ब्रज-सुन्दरि यह मन करत बिचार।
'सूरदास' प्रभु सोभा सागर कोउ न पावत पार॥

८—राग बिलावल

बने हैं विसाल कमल दल नैन।
ताहू में अति चारु विलोकनि गूढ़ भाव सूचित सखि नैन॥
वदन सरोज निकट कुंचित कच मनहु मधुप आये मधु लैन।
तिलक तरनि ससि कहत कछुक हँसि बोलत मधुर मनोहर बैन॥
मदन नृपति को देस महा मद बुधि बल बस न सकत उर चैन।
'सूरदास' प्रभु दूत दिनहि दिन पठवत चरित चुनौती दैन॥

९—राग कल्याण

बने विसाल हरि लोचन लोल।
चितै चितै हरि चारु विलोकनि मानहु माँगत हैं मन ओल॥
अधर अनूप नासिका सुन्दर कुंडल ललित सुदेस कपोल।
मुख मुसकात महा छवि लागत स्रवन सुनत सुठि मीठे बोल॥

---

(७) बिबि—(द्वि) दो। अहिनी—नागिन। मलयज—चंदन। (८) गूढ़ भाव—प्रेम सूचक भाव। कुंचित—घुंघराले। कच—बाल। तरनि—सूर्य। चुनौती देना—युद्ध के लिये ललकारना। (९) विसाल—बड़े। लोल—चंचल। ओल—गिरो रखी हुई वस्तु, जमानत में दी हुई वस्तु। सुदेस—सुन्दर। सुठि—बहुत।

चितवत रहत चकोर चंद्र ज्यों नेक न पलक लगावत डोल।
'सूरदास' प्रभु के बस ऐसे दासी सकल भईं बिन मोल॥

१०—राग गूजरी

देखि री हरि के चंचल नैन।
खंजन मीन मृगज चपलाई नहिं पटतर एक सैन॥
राजिवदल, इन्दीवर, सतदल, कमल, कुसेसय जाति।
निसि मुद्रित, प्रातहिं वे बिकसत, ये बिकसत दिन राति॥
अरुन सेत सिति झलक पलक प्रति को बरनै उपमाइ।
मनु सरसुति गंगा जमुना मिलि संगम कीन्हो आइ॥
अवलोकनि जलधार तेज अति तहाँ न मन ठहरात।
'सूर' स्याम लोचन अपार छबि उपमा सुनि सरमात॥

११—राग रामकली

देखि री देखि कुंडल लोल।
चारु स्रवननि गाहत कीन्ही झलक ललित कपोल॥
बदन मंडल सुधासरवर निरखि मन भयो भोर।
मकर क्रीड़त गुप्त परगट रूप जल झकझोर॥
नैन मीन, भुवंगनी भ्रुव, नासिका थल बीच।
सरस मृगमद तिलक सोभा लसति है जनु कीच॥
मुख बिकास सरोज मानहु जुवति लोचन भृंग।
बिथुरि अलकैं परीं मानहु लहरि लेति तरंग॥

---

(१०) पटतर—बराबर। सैन—कटाक्ष, हेरन। कुसेसय—(कुसेशय) कमल की जाति विशेष। मुद्रित—बंद। सिति—(शिति) नीला। (११) लोल—चंचल। भोर—पागल, बुद्धिहीन। थलबीच—बीच का सूखा स्थान (कहीं कहीं तड़ाग के इसी भाग पर एक स्तम्भ स्थापित किया जाता है)। सरस—सुन्दर।

स्याम तनु छवि अमृत पूरन रच्यो काम तड़ाग।
'सूर' प्रभु की निरखि सोभा ब्रज तरुनि बड़ भाग॥

१२—राग सूहो बिलावल

देखि सखी अधरन की लाली।
मनि मरकत तें सुभग कलेवर ऐसे हैं बनमाली॥
मनो प्रात की घटा साँवरी तापर अरुन प्रकास।
ज्यों दामिनि बिच चमकि रहत है फहरत पीत सुबास॥
कीधौं तरुन तमाल बेलि चढ़ि जुग फल बिंबा पाके।
नासा कीर आय मनो बैठो लेत बनत नहिं ताके॥
हँसत दसन एक सोभा उपजति उपमा जात लजाई।
मनो नीलमनि पुट मुकुतागन बंदन भरि बगराई॥
किधौं बज्रकन लाल नगन खचि, तापर विद्रुम पाँति।
किधौं सुभग बंधूक सुमन पर झलकत जलकन काँति॥
किधौं अरुन अंबुज बिच बैठी सुन्दरताई आइ।
'सूर' अरुन अधरन की सोभा बरनत बरनि न जाइ॥

१३—राग बिलावल

स्याम हृदय वर मोतिन माला। बिथकित भई निरखि ब्रज बाला॥
स्रवन थके सुनि बचन रसाला। नैन थके दरसन नँदलाला॥
कंबुकंठ भुज नैन बिसाला। कर केयूर कंचन नग जाला॥
पल्लवहस्त मुद्रिका भ्राजै। कौस्तुभमनि हृदयस्थल राजै॥

---

(१२) मरकत—नीलम। कलेवर—शरीर। पीत सुबास—पीताम्बर। पुट—संपुट, डिबिया। बंदन—सिन्दूर। बज्रकन—हीरे की कनियाँ। खचि—पचीकारी की हुई। विद्रुम—मूँगा। बंधूक—जपापुष्प। जलकन—ओस के बूँद। (१३) बिथकित भई—निश्चल होकर रह गई। कंबु—शंख। केयूर—भुजबंद, बजुल्ला।

रोमावली बरनि नहिं जाई। नाभिस्थल की सुंदरताई॥
कटि किंकिनी चन्द्रमनि संजुत। पीताम्बर कटितट अति अद्भुत॥
जुगल जंघ की पटतर को है। तरुनी मन धीरज को जो है॥
देखि जानु की छवि न सँभारै। नारि निकर मन बुद्धि बिचारै॥
रतन जटित कल कंचन नूपुर। मंद मंद गति चलत मधुर सुर॥
जुगल कमल पद नख मनि आभा। संतन मन संतत यह लाभा॥
जो जेहि अंग सो तहँ लोभानी। 'सूर' स्याम गति काहु न जानी॥

१४—राग असावरी

स्याम हृदय जलसुत की माला अतिहि अनूपम छाजै री।
मनहुँ बलाक पाँति नव घन पै यह उपमा कछु भ्राजै री॥
पीत हरित सित अरुन मालबन राजत हृदय बिसाल री।
मानहुँ इन्द्रधनुष नभ मंडल प्रगट भयो तेहि काल री॥
भृगुपद चिन्ह उरस्थल प्रगटे कौस्तुभमनि ढिग दरसै री।
बैठे मनु वर-वधू एक सँग अर्धनिसा मिलि हरसै री॥
भुजा बिसाल स्याम सुंदर की चंदन खौरि चढ़ाये री।
'सूर' सुभग अँग अँग की सोभा ब्रज ललना ललचाए री॥

१५—राग कान्हरो

बनी मोतिन की माल मनोहर।
सोभित स्याम सुभग उर ऊपर मनो गिरि तें सुरसरी धंसी धर॥
तट भुजदंड भौंर भृगुरेखा चंदन चित्र तरंगनि सुंदर।
मनि की किरनि, मीनकुंडल छबि, मकर मिलन आवत त्यागेसर॥

पटतर—उपमा। जानु—पैर की मध्यस्थ गाँठ। नूपुर—पैर का घुँघुरू। गति—महिमा (१४) जलसुत—मोती। बलाक—बगुला। मालबन—बनमाला। भृगुपद—भृगुलता का चिन्ह। बर-बधू—पति-पत्नी। (१५) धर—धरा, पृथ्वी।

ता ऊपर रोमावलि राजत मनिवर तीक्षन ज्योति सितावर।
संतन ध्यान नहान करत नित कर्म कीच धोवत नीके कर ॥
जग्योपवीत विचित्र 'सूर' सुनि मध्यधार धारा बानी वर।
संख चक्र गदा पद्म पानि मानो कमल कूल हंसन कीन्हे घर ॥

१६—राग बिहागरो

स्याम भुजा की सुंदरताई।
चंदन खौरि अनूपम राजत सो छवि कही न जाई ॥
बड़े बिसाल जानु लौं परसत एक उपमा मन आई।
मनौ भुजंग गगन तें उतरत अधमुख रह्यो झुलाई ॥
रतन जटित पहुँची कर राजत अँगुरी मुँदरी भारी।
'सूर' मनौं फनि सिर मनि सोभत फन फन की छवि न्यारी ॥

१७—राग नट

राजत रोमराजी रेख।
नील घन मनु धूम धारा रही सुक्षम सेष ॥
निरखि सुंदर हृदय पर भृगुलात परम सुलेष।
मनहु स्यामिन अभ्र अंतर संभुभूषन भेष ॥
मुक्तमाल नक्षत्रगन सम अर्ध चद्र विसेष।
सजल उज्वल जलद मलयज प्रबल बलित अलेप ॥
केकि-कच सुरचाप की छवि दमन तड़ित सुवेष।
'सूर' प्रभु अवलोकि आतुर तजे नैन निमेष ॥

मनिवर—कौस्तुममणि। सितावर—खूब सफेद। नीके कर—अच्छी तरह से। बानी—सरस्वती नदी। कूल—निकट। (१६) अधमुख—(अधोमुख) नीचे को मुँह करके। भारी—बड़े मोल की। फनि—(फणी) सर्प। (१७) सेष—(शेष) बाकी। सुलेप—अच्छी तरह लिखी हुई। अभ्र—बादल। अंतर—भीतर। संभुभूषन—चंद्रमा। मलयज—चंदन। केकि-चक—मोरपंख। (नोट)—आगे वाला पद ठीक इसी का अनुवाद है।

१८—राग कल्याण

रोमावली रेख अति राजत।
सुच्छम सेष धूप की धारा नव घन ऊपर भ्राजत॥
भृगुपद रेख स्याम उर सजनी कहा कहौं ज्यों छाजत।
मनहु मेघ भीतर ससि की दुति कोटि काम तनु लाजत॥
मुक्तामाल नंदनंदन उर अर्द्ध सुधाधर काँति।
तनु श्रीखण्ड मेघ उज्ज्वल अति देखि महाबल भाँति॥
बरही मुकुट इन्द्रधनु मानहु तड़ित दसन छवि लाजत।
एकटक रही बिलोकि 'सूर' प्रभु तनु की है कह हाजत॥

१९—राग नट नारायण

कटितट पीत बसन सुदेस।
मनहुँ नवघन दामिनी तजि रही सहज सुभेस॥
कनक मनि मेखला राजत सुभग स्यामल अंग।
मनहु हंस रसाल पंगति नारि बालक संग॥
सुभग कटि काछनी राजति जलज-केसरि खंड।
'सूर' प्रभु अँग निरखि माधुरि मदन तनु परयो दंड॥

२०—राग धनाश्री

ब्रज जुवती हरि चरन मनावैं।
जे पद कमल महा मुनि दुर्लभ ते सपनेहु नहिं पावैं॥

---

(१८) सुधाधर—चंद्रमा। श्रीखण्ड—चंदन। बरही—मयूर। (मोर पंख)। तनु की है कह हाजत—शरीर की आवश्यकता क्या है, अर्थात् शरीर की सुधि भूल गई। (१९) मेखला—किंकिणी। रसाल—सुन्दर। जलज-केसरि खंड—जैसे नील कमल की छतरी की हर ओर कमल केशर होती है वैसे ही कृष्ण की कमर को काछनी हर ओर से घेरे है। माधुरी—शोभा मदन तनु परयो दंड—काम के शरीर को सजा हुई, अर्थात् काम का शरीर लज्जित हुआ।

तनु त्रिभंग, जुग जानु, एक पग ठाढ़े, एक दरसायो।
अंकुस कुलिस बज्र ध्वज परगट तरुनी मन भरमायो॥
वह छबि देखि रही एकटक ही यह मन करति बिचार।
'सूरदास' मनो अरुन कमल पर सुषमा करति बिहार॥

२१—राग कान्हरो

स्याम कमल पद नख की सोभा।
जे नख चंद्र इन्द्र सिर परसे सिव बिरंचि मन लोभा॥
जे नख चंद्र सनक मुनि ध्यावत नहिं पावत भरमाहीं।
ते नख चंद्र प्रगट ब्रज जुवती निरखि निरखि हरषाहीं॥
जे नख चंद्र फनीन्द्र हृदय तें एकौ निमिष न टारत।
जे नख चंद्र महामुनि नारद पलक न कहूँ बिसारत॥
जे नख चंद्र भजत तम नासत, रमा हृदय जेहि परसत।
'सूर' स्याम नख चंद्र बिमल छबि गोपी जन जिमि दरसत॥

२२—राग बिलावल

देखि सखी हरि अंग अनूप।
जानु जुगल जुग जंघ बिराजत को बरनै यह रूप॥
लकुट लपेटि लटकि भए ठाढ़े एक चरन धर धारे।
मनहु नीलमनि खंभ काम रचि एक लपेटि सुधारे॥
कबहुँ लकुट ते जानू लै हरि अपने सहज चलावत।
'सूरदास' मानहु करभा कर बारंबार डोलावत॥

---

(२०) दरसायो—दिखाई पड़ता है। अरुन—लाल। सुषमा—शोभा। (२१) फनीद्र—शेषनाग। तम—अज्ञानांधकार। नासत—नाश होता है। (२२) लटकि—जरा झुक कर। धर—धरा, पृथ्वी। अपने सहज—मनमाने ढंग से। चलावत—हिलाते हैं, चलायमान करते हैं। करभा—हाथी का बच्चा। कर—सूँड़।

२३—राग केदारो

सखी री सुंदरता को रंग ।
छिन छिन माहँ परत छवि औरे कमल नयन के अंग ॥
परमित करि राख्यो चाहति हौ तुमहिं लागि डौले संग ।
चलत निमेष विसेष जानियत भूलि भई मति भंग ॥
स्याम सुभग के ऊपर वारों आली कोटि अनंग ।
'सूरदास' कछु कहत न आवै गिरा भई गति पंग ॥

२४—राग बिहागरो

नटवर वेष काछे स्याम ।
पद कमल नख इंदु सोभा ध्यान पूरन काम ॥
जानु जंघ सुघट निकाई नाहिं रंभा तूल ।
पीत पट काछनी मानहु जलज-केसरि झूल ॥
कनक छुद्रावली पंगति नाभि कटि के भीर ।
मनहुँ हंस रसाल पंगति रहे हैं ह्रद तीर ॥
झलक रोमावली सोभा ग्रीव मोतिन हार ।
मनहुँ गंगा बीच जमुना चली मिलि कै धार ॥
बाहुदंड विशाल तट दोउ अंग चंदन रेन ।
तीर तरु बनमाल की छवि व्रज जुवति सुख देन ॥
चिबुक पर अधरन दसन दुति बिंब बीजु लजाइ ।
नासिका सुक नैन खंजन कहत कवि सरमाइ ।

---

(२३) परमित—महदूद (Confined) सीमित । अनंग—कामदेव । कहत न आवै—कहते नहीं बनता । पंग—(पंगु) लँगड़ी । (२४) रंभा—केलातरु । तूल—तुल्य । छुद्र वली—करधनी । भीर—भिड़ी हुई, बीच में । ह्रद—कुंड । बीजु—बिजली ।

सू० पं०—२०

स्रवन कुंडल कोटि रवि छवि भृकुटि काम कोदंड।
'सूर' प्रभु है नीप के तर सिर धरे स्रीखंड॥

२५—राग गौरी

नंदनँदन वृन्दावन चंद।
जदुकुल नभ, तिथि द्वितिय देवकी प्रगटे त्रिभुवन बंद॥
जठर कुहू ते बहिर वारिपति दिसि मधुपुरी सुछंद।
बसुदेव संभु सीस धरि आने गोकुल आनँदकंद॥
व्रज प्राची राका तिथि जसुमति सरद सरस ऋतु नंद।
उड़गन सकल सखा संकरषन तम दनुकुलज निकंद॥
गोपीजन तहँ धरि चकोर गति निरख मेटि पल द्वंद।
'सूर' सुदेस कला षोड़स परिपूरन परमानंद॥

२६—राग सोरठ

बड़ो निठुर बिधना यह देख्यो।
जब तें आजु नंदनंदन छवि बार बार करि पेख्यो॥
नख, अँगुरी पग, जानु जंघ, कटि, रचि कीन्हों निर्मान।
हृदय, बाहु, कर आदि अंग अँग मुख सुंदर अतिबान॥
अधर, दसन, रसना, रसबानी, स्रवन, नैन अरु भाल।
'सूर' रोम प्रति लोचन देता देखत बनत गोपाल॥

नीप—कदम्बवृक्ष। तर—तले। सीखंड—(शिखंड) मोरपंख, मोरपंख का मुकुट। (२५) बंद—(वन्द्य) वंदनीय। कुहू—अमावस की रात। वारिपतिदिसि—पश्चिम दिशा। प्राची—पूर्वदिशा। राका—पूर्णिमा। संकरषन—बलदेवजी। दनुकुलज—दानवसमूह। निकंद—नाशक। निरख—देखती हैं। पलद्वन्द—दोनों पलकें। सुदेस—सुंदर। नोट—बड़ा ही सुन्दर सांगरूपक है। (२६) निठुर—निर्दय। बिधना—ब्रह्मा। पेख्यो—देखा। अतिबान—अत्यंत।

२७—राग धनाश्री

द्वै लोचन तुम्हरे द्वै मेरे।
तुम प्रति अंग बिलोकन कीन्हों मैं भइ मगन एक अँग हेरे॥
अपने अपने भाग्य सखी री तुम तन्मय मैं कहूँ न नेरे।
जो जो बुनिये सो पुनि लुनिये और नहीं त्रिभुवन भटभेरे॥
स्याम रूप अवगाह सिंधु तें पार होत चढ़ि डोंगन के रे।
'सूरदास' तैसे ये लोचन कृपा जहाज बिना को पैरे॥

२८—राग सारंग

बिधातहिं चूक परी मैं जानी।
आजु गोबिंदहिं देखि देखि हौं इहै समुझि पछितानी॥
रचि पचि सोचि सँवारि सकल अँग चतुर चतुराई ठानी।
दीठि न दई रोम रोमनि प्रति इतनिहिं कला नसानी॥
कहा करौं अति सुख दुइ नैना उमँगि चलति भरि पानी।
'सूर' सुमेर समाइ कहाँ धौं बुधि बासनी पुरानी॥

---

(२७) बुनिये—बोइये। भटभेरा—धक्का। अवगाह—अथाह। सिंधु ते—समुद्र से अधिक। के—कौन। पैरे—पार करे (२८) बसनी—बाँस की तीलियों से बनी टोकरी, दौरी।

चौथा रत्न

(मुरली-माधुरी)

१—राग गौरी

ब्रजहिं चलौ अब आई साँझ।
सुरभी सबै लेहु आगे करि रैनि होय पुनि बन ही माँझ॥
भली कही यह बात कन्हाई अतिहि सघन आरन्य उजारि।
गैयाँ हाँकि चलाईं ब्रज को ग्वाल बाल सब लिये पुकारि॥
निकसि गये बन ते सब बाहिर अति आनंद भये सब ग्वाल।
'सूरदास' प्रभु मुरलि बजावत ब्रज आवत नटवर गोपाल॥

२—राग गौरी

देखि सखी बन तें जु बने ब्रज आवत हैं नँद-नंदन।
सिखी सीस, मुख मुरलि बजावत बन्यो तिलक उर चंदन॥
कुटिल अलक, मुख चंचल लोचन निरखत अति आनंदन।
कमल मध्य मनो द्वै खग खंजन बँधे जाय उड़ि फंदन॥
अरुन अधर छवि दसन बिराजति जब गावत कल मंदन।
मुकुता मनो लालमनि पुट में जरे भुरकि बर बंदन॥
गोपवेष गोकुल गो चारत हैं प्रभु असुर निकंदन।
'सूरदास' प्रभु सुजस बखानत नेति नेति श्रुति छंदन॥

---

(१) सुरभी- गाय। आरन्य—जंगल। (२) सिखी—मोरपंख। कल मंदन—मंद कला से, धीमे स्वर से। पुट—संपुट, डिबिया। भुरकि—छिड़क कर। बंदन—सिंदूर। श्रुति—वेद।

३—राग गौरी

मेरे नैन निरखि सुख पावत ।
संध्या समय गोप गोधन सँग बनतें बने ब्रज आवत ॥
बलि बलि जाउँ मुखारविंद की मंद मंद सुर गावत ।
नटवर रूप अनूप छबीलो सब ही के मन भावत ॥
गुंजा उर बनमाल मुकुट सिर बेनु रसाल बजावत ।
कोटि किरनिमनिमुख परकासत उड़पति कोटि लजावत ॥
चन्दन खौरि काछनी की छबि सबके मनहिं चोरावत ।
'सूर' स्याम नागर नारिन को बासर विरह नसावत ॥

४—राग बिहागरो

अंगन की सुधि भूल गई ।
स्याम अधर मृदु सुनत मुरलिका चकित नारि भई ॥
जो जैसे सो तैसेहि रहि गई सुख दुख कह्यो न जाई ।
लिखी चित्र की-सी सब ह्वै गईं एकटक पल बिसराई ।
काहू सुधि काहू सुधि नाहीं सहज मुरलिका तान ।
भवन रवन की सुधि न रही तनु सुनत सबद वह कान ॥
सखियन तें मुरली अति प्यारी वे बैरिनि यह सौति ।
'सूर' परसपर कहत गोपिका यह उपजी उदभौति ॥

५—राग नट

स्याम कर मुरली अतिहिं बिराजत ।
परसत अधर सुधारस प्रगटति मधुर मधुर सुर बाजत ॥
लटकत मुकुट भौंह छबि मटकत नैन सैन अति छाजत ।
ग्रीव नवाइ अटकि बंसी पर कोटि मदन छबि लाजत ॥

---

(३) गोधन—गायों का समूह । किरनिमनि—सूर्य । उड़पति—चंद्रमा । (४) रवन—(रमण) पति । उदभौति—नई बात, अनहोनी । (५) छाजत—शोभा देती है ।

लोल कपोल झलक कुंडल की यह उपमा कछु लागत।
मानहुँ मकर सुधासर क्रीड़त आप आप अनुरागत॥
वृन्दावन विहरत नँदनन्दन ग्वाल सखा सँग सोहत।
'सूरदास' प्रभु की छवि निरखत सुर नर मुनि सब मोहत॥

६—राग सारंग

बंसी बन कान्ह बजावत।
आइ सुनो स्रवननि मधुरे सुर राग रागिनी ल्यावत॥
सुर, श्रुति, ताल, बँधान अमित अति, सप्त अतीत अनागत आवत।
जनु जुग कर बर बेंष साधि मथि बदन पयोधि अमृत उपजावत॥
मनो मोहनी भेष धरे हरि मुरली मोहन मुख मधु प्यावत।
सुर नर मुनि बस किये राग रस अधर सुधारस मदन जगावत॥
महा मनोहर नाद 'सूर' थिर चर मोहे मिलि मरम न पावत।
मानहु मूक मिठाई के गुन कहि न सकत मुख, सीस डुलावत॥

७—राग केदारो

बंसी बनराज आज आई रन जीति।
मेटति है अपने बल सबहिन की रीति॥

लोल—चंचल (यह 'झलक' का विशेषण है, कपोल का नहीं)। झलक—चमक। आप आप—परस्पर। (६) राग लाना—राग निकालना। श्रुति—संगीत में किसी सुर का एक अंश (संगीत में २२ श्रुतियाँ होती हैं; किसी राग का आरंभ और अंत श्रुतियों से ही होता है)। ताल—नाचने गाने में उसके काल और क्रिया का परिमाण जिसे हाथ मार कर सूचित करते हैं। बँधान—संगीत में ताल की समता को बँधान कहते हैं। सप्त अतीत—सातो सुरों से परे, जो सातो सुरों में न आ सके। अनागत—बिना बोलाये, लाने की कोशिश न करनेपर भी। जुग—देव और दैत्यरूपी दोनों हाथ। मरम—भेद। सीस डोलना—आनंद निमग्नता सूचित करने का इशारा करना। (७) बनराज—बन का राज्य।

बिडरे गजजूथ सील, सैन लाज भाजी।
घूँघट पट कवच कहाँ, छूटे मान ताजी॥
किनहूँ पति गेह तजे किनहूँ तन प्रान।
किनहूँ सुख सरन पायो सुनत सुधुनि कान॥
कोऊ पद परसि गये अपने अपने देस।
कोऊ मारि रंक भये हुते जो नरेस॥
देत मदन मारुत मिलि दसौं दिसि दोहाई।
'सूर' स्याम श्रीगोपाल वंसी वस माई॥

८—राग सारंग

जब तें वंसी स्रवन परी।
तब ही ते मन और भयो सखि मो तन सुधि बिसरी॥
हौं अपने अभिमान रूप जौवन क गर्व भरी।
नेक न कह्यौ कियो सुनि सजनी बादिहि आपु ढरी॥
बिन देखे अब स्याम मनोहर जुग भरि जात घरी।
'सूरदास' सुनु आरजपथ तें कछू न चाँड़ सरी॥

९—राग केदारो

मुरली धुनि श्रवन सुने रह्यौ नाहिं परै।
ऐसी को चतुर नारि धीरज मन धरै॥
खग मृग तरु सुर नर मुनि सिव समाधि टरै।
अपनी गति तजै पौन सरितौ ना ढरै

ताजा—घोड़े। मारि—अत्यंत। हुते—थे।

नोट—इस पद में बहुत बढ़िया रूपक है जो बड़े गहरे विचार लिखा गया है। इस रूपक से सूरदासजी की काव्य मर्मज्ञता प्रगट होती है। इसमें [illegible] को एक विजयी के रूप में दिखलाया है।

(८) ढरी—आसक्त हुई। आरजपथ—कुलमर्यादा की चाल। चाँड़ सरना—काम निकलना (मिलाओ) तोरे धनुष चाँड़ नहिं सरई (तुलसी)।

सरितौ न ढरै—नदी भी नहीं बहती।

मोहन के मन को को अपने बस करै।
'सूरदास' सप्त सुरन सिंधु सुधा भरै॥

१०—राग कान्हरो

मुरली अति गर्व काहु बदति नाहिं आजु।
हरि को मुख कमल देखि पाये सुख-राजु॥
बैठति कर पीठ, ढीठ अधर छत्र छाहीं।
चमर चिकुर राजत तहँ सुभग सभा माहीं॥
जमुना के जलहिं नाहिं जलधि जान देति।
सुरपुर तें सुरबिमान भुवि बुलाइ लेति॥
थावर चर जंगम जड़ करति जित अजीती।
वेदन बिधि मेटि चलति आपने ही रीती॥
बंसी बस सकल 'सूर' सुर नर मुनि नागा।
श्रीपति हू श्री बिसारि एही अनुरागा॥

११—राग गौरी

मुरली मोहे कुंवर कन्हाई।
अँचवति अधर सुधा बस कीन्हें अब हम कहा करें कहि माई॥
सरबसु हरो धरो, कबहूँ अवसरहुँ न देति अघाई।
बाजति गाजति चढ़ी दुहुँ कर अपने सब्द न सुनति पराई।
जो जन अनल दह्यो कुल अपनो, तसों कैसे होत भलाई॥
अब कहि 'सूर' कौन बिधि कीजै बन की ब्याधि माँझ घर आई॥

सप्तसुर—षडज, ऋषभ, गंधार, मध्यम, पंचम, धैवत और निषाद। (इन्हीं को संक्षेप में स, रि, ग, म, प, ध, नि, कहते हैं) (१०) काहु बदति नाहिं—किसी को कुछ समझती ही नहीं। कर पीठ—हाथ रूपी सिंहासन। चिकुर—बाल लटुरियाँ। भुवि—पृथ्वी। जित—जीते हुए, हार माने हुए। अजीती—न जीते जाने योग्य। (नोट) १—बड़ा सुन्दर रूपक है। २—सुख-राज का अति सुन्दर रूपक है। (११) अँचवति—आचमन करती है, पीती है। कहि—(कहो) युक्ति बतलाओ। विधि—युक्ति, तदबीर

१२—राग मलार

मुरली तऊ गोपालहिं भावति।
सुन री सखी जदपि नँदनंदहिं नाना भाँति नचावति॥
राखति एक पाय ठाढ़ो करि अति अधिकार जनावति।
कोमल अंग आपु आज्ञागुरु कटि टेढ़ी ह्वै जावति॥
अति आधीन सुजान कनौड़े गिरधर नारि नवावति।
आपुन पौढ़ि अधर सज्या पर कर पल्लव सन पद पलुटावति॥
भृकुटी कुटिल फरक नासा पुट हम पर कोपि कुपावति।
'सूर' प्रसन्न जानि एकौ छिन अधर सु सीस डोलावति॥

१३—राग मलार

जब मोहन मुरली अधर धरी।
गृह व्यवहार थके आरजपथ तजत न संक करी॥
पदरिपु पट अटक्यो आतुर ज्यों उलटि पलटि उबरी।
सिवसुत वाहन आय पुकारो मन चित्त बुद्धि हरी॥
दुरि गये कीर, कपोत, मधुप, पिक, सारँग सुधि बिसरी।
उडुपति, विद्रुम, बिम्ब खिसान्यो दामिनि अधिक डरी॥
निरखे स्याम पतंगसुता तट आनँद उमँग भरी॥
'सूरदास' प्रभु प्रीति परस्पर प्रेम प्रवाह परी॥

---

(१२) कनौड़े—(कनावड़े) दबैल, एहसानमंद। नारि—गर्दन। पलुटावति—दबवाती है। कुपावति—रोष कराती है। अधर—निराधार। (नोट)—इस पद में बड़ा मार्मिक भाव प्रगट किया गया है।
(१३) आरजपथ—(आर्यपथ) भलेमानसों की चाल। पदरिपु—काँटा। उबरी—निकल पाई, छूटी। सिवसुत वाहन—मोर। सारँग—पपीहा। (नोट)—तीसरी तुक में रूपकातिशयोक्ति अलंकार समझना चाहिये। पतंगसुता—जमुना। उडुपति—चंद्रमा। विद्रुम—मूँगा। (यहाँ विद्रुम का उपमेय हाथ की उँगलियाँ समझना होगा)। बिम्ब—बिम्बाफल (ओंठ)

१४—राग केदारो

मुरली अधर सजि बलबीर ।
नाद सुनि वनिता बिमोही डर बिसारे चीर ॥
नैन मूँदि समाधि धरि खग रहे ज्यों मुनि धीर ।
डोल नहिं द्रुम लता, थिथकी मंद गध समीर ॥
धेनु तृन तजि, रहे ठाढ़े बच्छ तजि मुख छीर ।
'सूर' मुरली नाद सुनि थकि रहत जमुना नीर ॥

१५—राग मलार

सखी री मुरली लीजै चोरि ।
जिन गोपाल कीन्हे अपने बस, प्रीति सबन की तोरि ॥
छिन इक घोरि फेरि सुसतावै धरत न कबहूँ छोरि ।
कबहूँ कर कबहूँ अधरन पर कहुँ कटि खोसत जोरि ॥
ना जानों कछु मेलि मोहनी राखी अंग अगोरि ।
'सूरदास' प्रभु को मन सजनी बँध्यो राग की डोरि ॥

१६—राग मलार

स्याम तुम्हारी मदन मुरलिका नेक सी ने जग मोह्यो ।
जे सब जीव जंतु जल थल के नाद स्वाद तिन्ह पोह्यो ॥
जे तीरथ तप करे अरनसुत पन गहि पीठि न दीन्ही ।
ता तीरथ तप के फल लै कै स्याम सोहागिनि कीन्ही ॥
अँगुरी धरि गोवर्धन राख्यो कोमल पानि अधार ।
अब हरि लटकि रहत है टेढ़े तनक मुरलि के भार ॥

---

(१४) नाद—मुरली का शब्द । खग—पक्षी । थिथकी—स्थगित हो गई । (१५) घोरि—शब्द करके, बजाकर । सुसतावैं—विश्राम करते हैं । जोरि—बड़ी सावधानी से । अँगोरि रखना—अगी बनाकर रखना । (१६) पोह्यो—छेद दिया । अरनसुत—(अरण्योद्भव) बाँस । पनगहि......कीन्ही—प्रतिज्ञा से हटा नहीं ।

निदरि हमैं अधरन रस पीवत पठै दुतिका माई।
'सूर' स्याम कुंजन ते प्रगटी बँसुरी सौति भइ आई॥

१७—राग जैतश्री

जबही बन मुरली स्रवन परी।
चकित भई गोप कन्या सब धाम काम बिसरी॥
कुल मरजाद बेद की आज्ञा नेकहु नहीं डरीं।
स्याम सिंधु सरिता ललनागन जल की ढरनि ढरीं॥
सुत पति नेह भवन जन सका लज्जा नहीं करी।
'सूरदास' प्रभु मन हरि लीन्हों नागर नवल हरी॥

१८—राग सोरठ

मुरली मधुर बजाई स्याम।
मन हरि लियो भवन नहिं भावै व्याकुल ब्रज की बाम॥
भोजन भूषन की सुधि नाही तनु की नहीं सँभार।
गृह गुरु लाज सूत सो तोरी डरी नहीं व्यवहार॥
करत सिंगार बिबस भई सुन्दरि अंगनि गई भुलाई।
'सूर' स्याम बन बेनु बजावत चित हित रास रमाई॥

१९—राग बिहागरो

मुरली सुनत उपजी बाइ।
स्याम सों अति भाव बाढ़ो चली सब अकुलाइ॥
गुरु जनन सों भेद काहू कह्यो नाहिं उघारि।
अध रैनि चली घरन ते जूथ जूथन नारि॥
नंदनंदन नगनि बोली सरद निसि के हेत।
नारि मंडित बन को चली वै 'सूर' भई अचेत॥

---

(१७) जल की ढरनि ढरीं—अबाध्य रूप से चलीं। (१८) अंगनि गई भुलाई—अपने अंगों को भूल गई, अर्थात् जो वस्तु जिस अंग में सिंगारना चाहिये था उसमें न सिंगार कर अन्य अंग में सिंगारी। (१९) बाइ उपजी—सनक सवार हुई। भाव—प्रेम। उघारी—खोल कर।

२०—राग विहागरो

सुनहु हरि मुरली मधुर बजाई ।
मोहे सुर नर नाग निरंतर ब्रजबनिता मिलि धाई ॥
जमुना नीर प्रवाह थकित भयो पवन रहो मुरझाई ।
खग मृग मीन अधीन भये सब अपनी गति बिसराई ॥
द्रुम बेली अनुराग पुलक तनु, ससि थक्यो, निसि न घटाई ।
'सूर' स्याम वृन्दावन विहरत चलहु सखी सुधि पाई ॥

२१—राग सारंग

अधर-रस मुरली लूटन लागी ।
जा रस को षट रितु तन गार्‌यो सो रस पिवत सभागी ॥
कहाँ रही कहँ तें कहँ आई कौन याहि बोलाई ।
चकित कहा भई ब्रजवासिनि यह तो भली न आई ॥
सावधान क्यों होत नहीं तुम उपजी बुरी बलाई ।
'सूरदास' प्रभु हम पर याको कान्हीं सौति बजाई ॥

२२—राग केदारो

आवत ही याके ये ढंग ।
मनमोहन सब भये तुरत ही ह्वै गये अंग त्रिभंग ॥
मैं जानी यह टोना जानति करिहै नाना रंग ।
देखो चरित भजैं हरि कैसे या मुरली के संग ॥
बातन मैं कहु ध्वनि उपजावति सुर तें तान तरंग ।
'सूर' सेंदूर सदन में पैठा बड़ो भुजंग ॥

---

(२०) निरतर—सब । द्रुम—पेड़ । ससि थक्यो—चंद्रमा की चाल बंद हो गई । (२१) बजाई—डंके की चोट । (२२) करिहै नाना रंग—अनेक प्रकार की घटनाएँ घटित करेगी । भजैं—भक्ति करते हैं । कहुध्वनि—कहर करने वाली ध्वनि । सेंदूरसदन—(सं० शार्दूलसदन) सिंह की माँद ।

जाहि जो भजै सो ताहि रातै।
कोउ कछु कहै सब निरस बातै॥
ता बिना ताहि कछु नाहिं भावै।
और जो जोरि कोटिक दिखावै॥
प्रीत की कथा प्रेमहि जानै।
और करि कोटि बातें बखानै॥
ज्यों सलिल सिंधु बिनु कहुँन जाई।
'सूर' वैसी दसा इनहु पाई॥

२६—राग केदारो

मुरली ध्वनि करी बल-बीर।
सरद निसि को इंदु पूरन देखि जमुना-तीर॥
सुनत सो ध्वनि भई व्याकुल सकल घोष कुमारि।
अंग अभरन उलटि साजे रही कछु न सँभारि॥
गईं सोरह सहस हरि पै छाँड़ि सुत-पति-नेह।
एक राखी रोक पति, सो गई तजि निज देह॥
दियो तेहिं हरि धाम अपनो चितै लोचन कोर।
'सूर' प्रभु गोविंद यों जग मोह बंधन तोर॥

२७—रागगुंडमलार

सुनत बन बनुध्वनि चलीं नारी।
लोक लज्जा निदरि भवन तजि सुन्दरी
मिलीं बन जायके बनबिहारी॥
दरस के लहत मन हरस सबको भयो
परस की साध अति करति भारी।

जोरि—एकत्र करके। (२६) बलबीर—बलदेवजी के भाई (कृष्ण)। घोष कुमारि—गोपी। अभरन—गहने। (२७) हरस—हर्ष। परस—स्पर्श, मिलन, आलिंगन। साध—प्रबल इच्छा।

छूटे मन धन कर्म, तज्यो सुत पति धर्म,
मेटि भव भर्म सहि लाज भारी ।
भई जे ह भाव सो मिलीं हरि नारि ज्यों
भेद मेदा नहीं पुरुष नारी ।
'सूर' प्रभु स्याम व्रजधाम आतुर काम
मिली धन भाग गिरिराजधारी ।

२८—राग कल्याण

जब हरि मुरली नाद प्रकास्यो ।
जंगम जड़, थावर चर कीन्हें पाहन जलज विकास्यो ॥
स्वर्ग पताल दसों दिसि पूरन ध्वनि आच्छादित कीन्हौं ।
निसि हरि कल्प समान बढ़ाई गोपिन को सुख दीन्हौं ॥
मैमत भये जीव जल थल के तन की सुधि न सँभार ।
'सूर' स्याम मुख बैन मधुर सुनि उलटे सब व्यवहार ॥

२९—राग केदारा

मुरली सुनत अचल चले ।
थके चर, जल झरत पाहन, विफल वृच्छ फले ॥
पय स्रवत गोधनान थन तें, प्रेम पुलकित गात ।
झुरे द्रुम अंकुरित पल्लव, विटप चंचल पात ॥
सुनत खग मृग मौन साध्यो चित्र की अनुहारि ।
धरनि उमँगि न माति धर में, जती जोग बिसारि ॥
ग्वाल घर घर सहज सोवत उहै सहज सुभाइ ।
'सूर' प्रभु रस-रास के हित सुखद रैनि बढ़ाइ ॥

भवभर्म—संसार का धोखा । गिरराज-धारी—(गिरिधर) कृष्ण । (२८) पाहन जलज विकास्यो—पत्थर पर कमल फूला, अनहोनी बातें हो गईं । जंगम—चर । थावर—अचर । मैमत—(मदमत्त) बेसुध । (२९) झुरे—सूखे । न माति—नहीं समाती । धर—तन, अंग ।

३०—राग पूर्वी

मुरली गति बिपरीति कराई।
तिहूँ भुवन भरि नाद समान्यो राधारमन बजाई॥
बछरा थन नाहीं मुख परसत, चरत नहीं तृन धेनु।
जमुना उलटी धार चली बहि, पवन थकित सुनि बेनु॥
बिह्वल भये नहीं सुधि काहू, सुर गंध्रब नर नारि।
'सूरदास' सब चकित जहाँ तहँ ब्रज जुवतिन सुख कारि॥

३१—केदारो

रास रस मुरली ही ते जान्यो।
स्याम अधर पर बैठि नाद कियो मारग चंद्र हिरान्यो॥
धरनि जीव जल थल के मोहे नभमंडल सुर थाके।
तृन द्रुम सलिल पवन गति भूले स्रवन शब्द पर्‌यो जाके॥
बच्यो नहीं पाताल, रसातल कितिक उदय लौं भान।
नारद सारद सिव यह भाषत कछु तन रह्यो न सयान॥
यह अपार रस रास उपायो सुन्यो न देख्यो नैन।
नारायन धुनि सुनि ललचाने स्याम अधर सुनि बैन॥
कहत रमा सों सुनि री प्यारी विहरत हैं बन स्याम।
'सूर' कहाँ हमको वैसो सुख जो विलसति ब्रज बाम॥

३२—राग केदारो

जीती जीती है रन बंसी।
मधुकर सूत, बदत बंदी पिक, मागध मदन प्रसंसी॥
मथ्यो मान बल दर्प महीपति जुवति जूथ गहि आने।
ध्वनि को दंड ब्रह्मंड भेद करि सुर सन्मुख सर ताने॥
ब्रह्मादिक सिव सनक सनंदन बोलत जय जय बाने।
राधापति सरबसु अपनो दै पुनि ता हाथ बिकाने॥

---

(३०) विपरीत—उलटी। गंध्रब—गन्धर्व (राजपूताना प्राकृत)
(३१) उपायो—उत्पन्न किया।

रवि को रथ लै दियो सोम को षटदस कला समेत ।
रच्यो यज्ञ रस रास राजसू वृन्दा बिपिन निकेत ॥
दान मान परधान प्रेम रस बढ़्यो माधुरी हेत ।
अधिकारी गोपाल तहाँ हैं 'सूर' सबनि सुख देत ॥

---

(३२) राजसू—राजसूय यज्ञ । परधान—प्रधान ।

नोट—इस पद में वंशी को रणविजयी वीर मानकर राजसूय यज्ञ का रूपक बाँधा गया है ।

पाँचवाँ रत्न

(भ्रमर-गीत)

१—राग सोरठ

कहौ कहाँ ते आये हौ।

जानति हौं अनुमान मनो तुम जादवनाथ पठाए हौ॥
सोई बरन, बसन पुनि वैसेइ, तन भूषन सजि ल्याए हौ।
सरबसु लै तब संग सिधारे अब कापर पहिराए हौ॥
सुनहु मधुप ! एकै मन सबको सो तो वहाँ लै छाए हौ।
मधुबन की कामिनी मनोहर तहँहिं जाहु जहँ भाए हौ॥
अब यह कौन सयानप ब्रज पर का कारन उठि धाए हौ।
'सूर' जहाँ लगि स्यामगात हैं जानि भले करि पाए हौ॥

२—राग नट

ऊधो को उपदेस सुनौ किन कान दै ?
सुंदर स्याम सुजान पठायो मान दै॥ ध्रुव॥

१—कापर पहिराए हौ—किसको ले जाने के लिये राजा का हुक्म लाए हो। जहँ भाए हौ—जहाँ तुम्हें लोग पसंद करते हैं। सयानप—बुद्धिमानी। भले करि जानि पाए हौ—अच्छी तरह जान लिया है।

कोउ आयो उत तायँ जिते नंदसुवन सिधारे।
बहैं बेन धुनि होय मनो आए नँद प्यारे॥
धाईं सब गलगाजि कै ऊधो देखे जाय।
लै आईं ब्रजराज पै, हो, आनँद उर न समाय॥
अरघ, आरती, तिलक, दूब दधि माथे दीन्हो।
कंचन कलस भराय आनि परिक्रमा कीन्हो॥
गोप भीर आँगन भई बैठे जादव-जात।
जल-झारी आगे धरी, हो, बूझति हरि कुसलात॥
कुसल छेम बसुदेव कुसल देवी कुबजाऊ।
कुसल छेम अक्रूर कुसल नीके बलदाऊ॥
पूछि कुसल गोपाल की रहीं सकल गहि पाय।
प्रेम मगन ऊधो भए, हो, देखत ब्रज को भाय॥
मन मन ऊधो कहै यह न बूझिय गोपालहिं।
ब्रज को हेत बिसारि जोग सिखवत ब्रजबालहिं॥
पाती बाँचि न आवई रहे नयन जल पूरि॥
देखि प्रेम गोपिन को, हो, ज्ञान गरब गयो दूरि।
तब इत उत बहराय नीर नयनन में सोख्यो।
ठानी कथा प्रबोध बोलि सब गुरु समोख्यो॥
जो ब्रत मुनिवर ध्यावहीं पै पावहिं नहिं पार।
सो ब्रत सीखो गोपिका, हो, छाँड़ि विषय बिस्तार॥
सुनि ऊधो के बचन रहीं नीचे करि तारे।
मनो सुधा सों सींचि आनि विष ज्वाला जारे॥

२—उत तायँ—उत तें (वहाँ से)। गलगाजिकै—आनंदित होकर ब्रजराज—नंद। पै—पास। जादव-जात—उद्धवजी। भाय—भावना, प्रेम। न बूझिय—न चाहिये। हेत—प्रेम। गुरु समोख्यो—गुरुवत समझने लगे। तारे—नेत्र।

हम अबला कह जानहीं जोग जुगुति को रीति।
नँदनंदन व्रत छांड़िकै, हो, को लिखि पूजै भीति?
अविगत, अगह, अपार, आदि अगवत है सोई।
आदि निरंजन नाम ताहि रंजै सब कोई॥
नैन नासिका अग्र है तहाँ ब्रह्म को बास।
अविनासी बिनसै नहीं, हो, सहज ज्योति परकास॥
घर लागै अवधूरि, कहे मन कहाँ बँधावै।
अपनो घर परिहरे कहो को घरहिं बतावै?
मूरख जादवजात हैं हमहि सिखावत जोग।
हमको भूली कहत हैं, हो, हम भूली किधौं लोग?
गोपिहुँ तें भयो अंध, तोहिं दुहुँ लोचन ऐसे।
ज्ञान-नैन जो अंध ताहि सूझै धौं कैसे?
बूझै निगम बोलाइ कै कहै वेद समुझाय।
आदि अंत जाके नहीं, हो, कौन पिता को माय?
चरन नहीं, भुज नहीं, कहौ, ऊखल किन बाँधो?
नैन नहीं, मुख नहीं चोरि दधि कौने खाँधो?
कौन खिलायो गोद में किन कहे तोतरे बैन?
ऊधो ताको न्याव है, हो, जाहि न सूझै नैन॥

को लिखि पूजै भीति—जड़ चित्र की पूजा कौन करे। अविगत—जो जाना न जाय। अवगत—विदित, जाना हुआ। निरंजन...कोई—नाम तो निरंजन है पर सब कोई उसे प्रसन्न करने की कोशिश करते हैं। घर लागै अवधूरि—घूम फिर कर अपने ही ठिकाने पर आता है। कहे मन कहा बँधावै—तुम्हारे कहने से क्या हमारा मन निर्गुण उपासना में लगेगा? घर—ठौर, ठिकाना। गोपिहुँ तें अंध—गोपियों से भी अधिक अज्ञानी। कौने खाँधो—किसने खाया था (सं० खादन से)।

हम बूझति सतभाव न्याय तुम्हरे मुख साँचो।
प्रेम, नेम रसकथा कहौ कंचन की काँचो॥
जो कोउ पावै सीस दै ताको कीजै नेम।
मधुप हमारी सौं कहौ, हो, जोग भलो की प्रेम॥
प्रेम प्रेम सों होय प्रेम सों पारहि जैए।
प्रेम बँध्यो संसार प्रेम परमारथ पैए॥
एक निहचै प्रेम को जीवन-मुक्ति रसाल।
साँचो निहचै प्रेम को हो, जो मिलिहै नँदलाल॥
सुनि गोपिन को प्रेम नेम ऊधो को भूल्यो।
गावत गुन गोपाल फिरत कुंजनि में फूल्यो॥
छन गोपिन के पग धरैं धन्य तिहारो नेम।
धाय धाय द्रुम भेंटहीं ऊधो छाके प्रेम॥
धनि गोपी, धनि गोप, धन्य सुरभी वनचारी।
धन्य, धन्य! सो भूमि जहाँ विहरे बनवारी॥
उपदेसन आयो हुतो मोहिं भयो उपदेस।
ऊधो जदुपति पै गए, हो, किये गोप को भेस॥
भूल्यो जदुपति नाम, कहत गोपाल गोसाईं।
एक बार ब्रज जाहु देहु गोपिन दिखराईं॥
गोकुल को सुख छाड़ि के कहाँ बसे हो आय।
कृपावन्त हरि जानिकै, हो ऊधो पकरे पाय॥
देखत ब्रज को प्रेम नेम कछु नाहिन भावै।
उमड़्यो नयननि नीर बात कछु कहत न आवै॥
'सूर' स्याम भूतल गिरे रहे नयन जल छाय।
पोंछि पीत पट सों कह्यो, हो, आए जोग सिखाय॥

सौं—शपथ। परमारथ—मोक्ष। निहचै—निश्चय। जदुपति—श्रीकृष्ण। कछु कहत न आवै—कुछ कहते नहीं बनती।

३—राग सारंग

तू अलि कासों कहत बनाय ?
बिन समझे हम फिरि बूझति हैं, एक बार कहौ गाय ॥
किन वे गवन कियो सकटनि चढ़ि सुफलक-सुत के संग ?
किन वे रजक लुटाइ विविध पट पहिरे अपने अंग ?
किन हति चाप निदरि गज मार्‌यो किन वे मल्ल मथि जाने ?
उग्रसेन वसुदेव देवकी किन वे निगड़ हठि भाने ॥
तू काकी है करत प्रशंसा, कौने घोस पठायो ?
किन मातुल वधि लयो जगत जस, कौन मधुपुरी छायो ?
माथे मोर मुकुट वनगुंजा मुख मुरली धुनि बाजै ?
'सूरदास' जसोदानन्दन गोकुल कहँ न बिराजै ?

४—राग केदारो

गोकुल सबै गोपाल उपासी ।
जोग अंग साधन जे ऊधो ते सब बसत ईसपुर कासी ॥
जद्यपि हरि हम तजि अनाथ करि तदपि रहति चरननि रस रासी ।
अपनी सीतलताहि न छाँड़त जद्यपि है ससि राहु-गरासी ॥
का अपराध जोग लिखि पठवत प्रेम भजन तजि करत उदासी ।
'सूरदास' ऐसी कों बिरहिनि माँगति मुक्ति तजे धनरासी ॥

५—राग धनाश्री

जीवन मुँहचाही को नीको ।
दरस परस दिन रात करत हैं कान्ह पियारे पी को ॥

---

(३) सकट—गाड़ी । सुफलकसुत—अक्रूर । रजक—धोबी । निगड़—बेड़ियाँ । भाने—तोड़ी । घोष—ग्वालों का गाँव । मातुल—मामा (कंस) । (५) मुंहचाही—प्रेमपात्र का मुँह देखते हुए ।

१६—राग धनाश्री

अँखियाँ हरि दरसन की भूखी।
कैसे रहैं रूप रस राँची ये बतियाँ सुनि रूखी॥
अवधि गनत, इक टक मग जोवत तब एती नहिं झूखी।
अब इन जोग सँदेसन ऊधो अति अकुलानी दूखी॥
बारक वह मुख फेरि दिखाओ दुहि पय पिवत पतूखी॥
'सूर' सिकत हठि नाव चलाओ ये सरिता हैं सूखी॥

१७—राग सारंग

जाय कौन बूझी कुसलात।
जाके ज्ञान न होय सो मानै कही तिहारी बात॥
कारो नाम, रूप पुनि कारो, कारे अंग सखा सब गात।
जो पै भले होत कहुँ कारे तौ कत बदलि सुता लै जात॥
हमको जोग, भोग कुबजा को काके हिये समात।
'सूरदास' सेए सो पति कै, पाले जिन्ह ते हौ पछितात॥

१८—मलार

अब तक सुरति होत है राजन।
दिन दस प्रीति करी स्वारथ हित रहत आपने काजन।
सबै अयानि भईं सुनि मुरली ठगी कपट की छाजन॥
अब मन भयो सिंधु के खग ज्यों फिरि फिरि सरत जहाजन।
वह नातो टूटो ता दिन तें सुफलकसुत सँग भाजन॥
गोपीनाथ कहाय 'सूर' प्रभु कत मारत हौ लाजन॥

---

(१६) राँची—अनुरक्त। झूँखना—झंखना, दुख से पछताना और कुढ़ना। दूखी—दुखी। पतूखी—छोटा दोना। सिकत—सिकता, बालू। (१७) काके हिये समात—किसको ठीक जंचेगा। (१८) अयानि—अज्ञानि। छाजन—बनावट। सरत—जाते हैं। (मिलाओ) जैसे काग जहाज को सूझत और न ठौर—(तुलसी) सुफलकसुत—अक्रूर।

१९—राग धनाश्री

अपने सगुन गोपाले, माई ! यह विधि काहे देत ?
ऊधो की ये निरगुन बातें मीठी कैसे लेत ॥
धर्म अधर्म कामना सुनावत सुख औ मुक्ति समेत ।
काकी भूख गई मन लाडू सो देखहु चित चेत ॥
'सूर' स्याम तजि को भुस फटकै मधुप तिहारे हेत ।

२०—राग सारंग

हमको हरि की कथा सुनाव ।
अपनी ज्ञान कथा हो ऊधो मथुरा ही लै गाव ॥
नागरि नारि भले बूझौंगी अपने वचन सुभाव ।
पालागों, इन बातनि, रे अलि ! उनही जाय रिझाव ॥
सुनि प्रिय सखा स्यामसुंदर के जो पै जिय सति भाव ।
हरि मुख अति आरत इन नयननि बारक बहुरि दिखाव ॥
जो कोउ कोटि जतन करे मधुकर बिरहनि और सुहाव ।
'सूरदास' मीन को जल बिन नाहिंन और उपाव ॥

२१—राग सारंग

हमारे हरि हारिल की लकरी ।
मन बच क्रम नँदनंदन सों उर यह दृढ़ करि पकरी ॥
जागत, सोवत, सपने, सौंतुख कान्ह कान्ह जकरी ।
सुनतहि जोग लगत ऐसो अलि ज्यों करुई ककरी ॥

---

(१९) मन लाडू—मन के लड्डू खाने से । भुस फटकना—व्यर्थ काम करना । (२१) हारिल की लकरी (सं० हारीत) पक्षी सदैव अपने पंजे में एक लकड़ी पकड़े रहता है, उसी तरह कृष्ण को पकड़ रखा है । सौंतुख—प्रत्यक्ष अवस्था में । जक—रटन ।

सोई व्याधि हमैं ले आये देखी सुनी न करी।
यह तौ 'सूर' तिन्हैं लै दीजे जिनके मन चकरी॥

२२—राग सारंग

फिरि फिरि कहा सिखावत मौन ?
दुसह बचन अलि यों लागत उर ज्यों जारे परे लौन॥
सिंगी, भसम, त्वचामृग, मुद्रा, अरु अवरोधन पौन।
हम अबला अहीर सठ मधुकर! घर बन जानै कौन॥
यह मत लै तिनहीं उपदेसो जिन्हैं आजु सब सोहत।
'सूर' आज लौं सुनी न देखी पोत सूतरी पोहत॥

२३—राग धनाश्री

रहि रे मधुकर! मधु मतवारे।
कहा करौं निरगुन लैके हौं, जीवहु कान्ह हमारे॥
लोटत नीच पराग पंक में पचत न आपु सम्हारे।
बारमबार सरक मदिरा की अपरस कहा उघारे॥
तुम जानत हमहू वैसी हैं जैसे कुसुम तिहारे।
घरी पहर सब को बिलमावत जेते आवत कारे॥
सुंदर स्याम कमलदल लोचन जसुमति नंददुलारे।
'सूर' स्याम को सर्वसु अर्प्यो अब कापै हम लेहि उधारे॥

जिनके मन चकरी—जिनके मन चकरी की भाँति चंचल हैं। (२२) त्वचामृग—मृगछाला। पौन अवरोधन—प्राणायाम। पोत—काँच की बनी सरसों या राई के बराबर गुरियाँ। (२३) सरक—नशा। अपरस—(आपरस) अपना भेद। उघारना—उद्घाटन करना। सरक......उघारे मद्यप की तरह मद्य के नशा में अपना भेद कह डालने से क्या लाभ है। कापै हम लेहि उधारे...उधार के तौर पर किससे माँगें।

२४—राग बिलावल

काहे को रोकत मारग सूधो ?
सुनहु मधुप निरगुन कंटक तें राजपंथ क्यों रूँधो ॥
कै तुम सिखै पठाये कुब्जा कै कही स्यामघनजू धों।
वेद पुरान सुमृति सब ढूँढ़ौं जुवतिन जोग कहूँ धों ॥
ताको कहा परेखो कीजै जानत छाँछ न दूधो।
'सूर' मूर अक्रूर गये लै ब्याज निबेरत ऊधो ॥

२५—राग सारंग

निर्गुन कौन देश के बासी ?
मधुकर ! हँसि समुझाय सौंह दै बूझति साँच न हाँसी ॥
को है जनक, जननि को कहियत, कौन नारि, को दासी।
कैसो बरन भेस है कैसो केहि रस में अभिलासी ॥
पावैगो पुनि कियो आपनो जो रे ! कहैगो गाँसी।
सुनत मौन ह्वै रह्यो ठग्यो सो 'सूर' सबै मति नासी ॥

२६—राग केदारो

नाहिन रह्यो मन में ठौर।
नंदनंदन अछत कैसे आनिये उर और ?
चलत चितवत, दिवस जागत सपन सोवति राति।
हृदय तें वह स्याम मूरति छन न इत उत जाति ॥
कहत कथा अनेक ऊधो लोक लाभ दिखाय।
कहा करौं तन प्रेम पूरन घट न सिंधु समाय ?
स्यामगात, सरोज आनन, ललित अति मृदुहास।
'सूर' ऐसे रूप कारन मरत लोचन प्यास ॥

---

(२४) परेखो कीजै—बुरा मानें। मूर—मूलधन। निबेरत—चुकाते हैं। (२५) गाँसी—गाँस की बात, चुभने वाली बात। (२६) अछत—[illegible]मान होते हुए।

मुरली अधर विकट भौंहैं करि ठाढ़े होत त्रिभंग।
मुकुतमाल उर नील सिखर तें धँसि धरनी ज्यों गंग॥
और भेस को कहै बरनि सब अँग अँग केसरि खौर।
देखत बनै, कहत रसना सो 'सूर' बिलोकत और॥

३०—राग नट

नयनन नन्दनन्दन ध्यान।
तहाँ लै उपदेस दीजै जहाँ निरगुन ज्ञान॥
चन्द्र कोटि प्रकास मुख, अवतंस कोटिक भान।
कोटि मन्मथ वारि छबि पर, निरखि दीजत दान॥
भृकुटि कोटि कुदण्ड रुचि अवलोकनी सधान।
कोटि वारिज नयन बंक कटाच्छ कोटिक बान॥
कम्बु ग्रीवा रतनहार उदार उर मनि जान।
भुज अजानु उदार अति करपद्रुम सुधानिधान॥
स्याम तन पटपीत की छबि करै कौन बखान।
मनहु निर्तति नील घन में तड़ित अति दुति मान॥
रास रसिक गोपाल मिलि मधु अधर करतीं पान।
'सूर' ऐसे रूप बिनु कोउ कहा इच्छुक आन॥

३१—राग सारंग

प्रीति करि दीन्हीं गरे छुरी।
जैसे बधिक चुगाय कपट कन पाछे करत बुरी॥

---

(२९) कहत रसना...और—जीभ जो वर्णन करती है सो तो सूर है, अंध है (उसने देखा नहीं) देखने वाला तो कोई दूसरा ही है अर्थात् नेत्रों ने देखा है सो वे कह नहीं सकते। (मिलाओ) गिरा अनैन नैन बिनु बानी—(तुलसी) (३०) अवतंस—सिरोभूषण (मुकुट)। संधान—संधान करना। अजान—आजानुविलंबित। बिनु—छोड़ कर (सिवाय)। (३१) कन—दाने।

कीन्हीं कृपा जोग लिखि पठयो, निरखि पत्र री! ताको।
'सूरजदास' प्रेम कह जानै लोभी नवनीता को॥

३४—राग सारंग

बिनु गोपाल बैरिन भईं कुंजैं।
तब ये लता लगति अति सीतल अब भईं विषम ज्वाल की पुंजैं॥
वृथा बहति जमुना, खग बोलत, वृथा कमल फूलैं अलि गुंजैं।
पवन, पानि, घनसार, सजीवनि, दधिसुत किरन भानु भईं भुंजैं॥
ये ऊधो कहियो माधव सों बिरह करद कर मारत लुंजैं।
'सूरदास' प्रभु को मग जोवत अँखियाँ भईं बरन ज्यों गुंजैं॥

३५—राग मलार

सँदेसनि मधुकर कूप भरे।
जे कोइ पथिक गए हैं ह्याँते फिर नहिं अवन करे॥
कै वै स्याम सिखाय समोधे कै वै बीच मरे।
अपने नहिं पठवत नँदनन्दन हमरेउ फेरि धरे॥
मसि खूँटी, कागर जल भीजे, सर दौ लागि जरे।
पाती लिखैं कहो क्योंकरि जो पलक कपाट अरे॥

३६—राग नट

मधुबनियाँ लोगनि को पतिआय।
मुख औरे अंतरगत औरै पतियाँ लिखि पठवत हैं बनाय॥

---

(३४) दधिसुत—चद्रमा। भईं—होकर। भुंज—भूँजे डालती हैं। करद—छूरी। करद कर—हाथ में छूरी लिये हुए। लुंजैं—लुले लंगड़े व्यक्ति। बरन—रंग। (३५) समोधे—समाधान कर दिया। मसि खूंटी—स्याही चुक गई। कागर—कागज़। सर—सरकंडा (क़लम)। दौं—दावानल। पलक कपाट अरे—नेत्र मुंदे हुये हैं।

ज्यों कोइलसुत काग जिआवत भाव भगति भोजनहिं खवाय।
कुहकुहाय आये बसन्त ऋतु अन्त मिलै कुल अपने जाय॥
जैसे मधुकर पुहुप बास लै फेरि न बूझै बातहु आय।
'सूर' जहाँ लौं स्यामगात हैं तिनसों क्यों कीजिये लगाय॥

३७—राग केदारो

उर में माखन चोर गड़े।
अब कैसहुँ निकसत नहिं ऊधो तिरछे ह्वै जु अड़े॥
सदपि अहीर जसोदानन्दन तदपि न जात छड़े।
वहाँ बने जदुबंस महाकुल हमहिं न लगत बड़े॥
को बसुदेव देवकी वै को, ना जानैं औ बूझैं।
'सूर' स्यामसुन्दर बिनु देखे और न कोऊ सूझैं॥

३८—राग गौरी

उपमा एक न नैन गही।
कविजन कहत कहत चलि आये सुधि करि करि काहू न कही॥
कहे चकोर, मुख बिधु बिनु जीवत, भँवर न तहँ उड़ि जात।
हरिमुख कमल कोस बिछुरे तें ठाले क्यों ठहरात॥
खंजन मनरंजन जन जो पै कबहुँ नाहिं सतरात।
पंख पसारि न उड़त, मंद ह्वै समर समीप बिकात॥
आये बधन ब्याध ह्वै ऊधो, जौ मृग क्यों न पलाय।
देखत भागि बसैं घन बन में जहँ कोउ संग न जाय॥
ब्रजलोचन बिनु लोचन कैसे? प्रति दिन अति दुख बाढ़त।
'सूरदास' मीनता कछू इक जल भरि संग न छाँड़त॥

---

(३६) भाव भगति—प्रेमयुक्त। लगाय—(लगाव) प्रेम सम्बन्ध। (३८) ठाले—बेकार (कृष्ण के अभाव में) सतराना—कुढ़ना, चिढ़ाना। समर—कामदेव। ब्रजलोचन—ब्रज भर के आँखों के तारे (कृष्ण)। मीनता—मछली का गुण।

३६—राग सारंग

दूर करहु बीना कर धरिबो।
मोहे मृग नाहीं रथ हाँक्यो नाहिन होव चन्द को ढरिबो॥
बीती जाहि पै सोई जानै कठिन है प्रेम पास को परिबो।
जब तें बिछुरे कमल नयन सखि, रहत न नयन नीर को गरिबो॥
सीतल चंद अगिनि सम लागत कहिये धरो कौन बिधि धरिबो।
'सूरदास' प्रभु तुम्हरे दरस बिनु सब झूठो जतननि को करिबो॥

४०—राग जैतश्री

अति मलीन वृषभानुकुमारी।
हरि स्रमजल अंतर तनु भीजे ता लालच न धुआवति सारी॥
अधमुख रहति उरध नहिं चितवति ज्यों गथ हारे थकित जुआरी।
छूटे चिहुर, वदन कुम्हिलाने, ज्यों नलिनी हिमकर का मारी
हरि सँदेस सुनि सहज मृतक भई, इक बिरहिन दूजे अलि जारी
'सूरस्याम' बिनु यों जीवति हैं ब्रजवनिता सब स्यामदुलारी॥

४१—राग सोरठ

ऊधो जाके माथे भाग।
कुबिजा को पटरानी कीन्हीं, हमहीं देत वैराग॥
तलफत फिरत सकल ब्रजबनिता चेटी चपरि सोहाग।
बन्यो बनायो संग सखी री! वै रे हंस वै काग॥
लौंड़ी के घर डौंड़ी बाजी स्याम रंगे अनुराग।
हाँसी कमलनयन सँग खेलति बारहमासी फाग॥
जोग को बेलि लगावन आये काटि प्रेम को बाग।
'सूरदास' प्रभु ऊँख छाँड़ि के चतुर चिचोरत आग।

---

(३६) रहत न—रुकता नहीं। गरिबो—निचुड़ना। धरो धरिबो—धीरज धरना। (४०) स्रमजल—पसीना। चिहुर—(चिकुर) बाल। नलिनी—कमलिनी। (४१) चपरि—शीघ्रता से। आग—(अर्क, आक) अकौवा, मँदार।

४२—राग सारंग

ऊधो अब यह समझ भई।
नँदनंदन के अंग अंग प्रति उपमा न्याय दई॥
कुन्तल कुटिल भँवर, भरि भाँवरि मालति भुरै लई।
तजत न गहरु कियो कपटी जब जानी निरस गई॥
आनन इंदु बरन, सम्पुट तजि करखें ते न नई।
निरमोही नहिं नेह, कुमुदिनी अन्तहिं हेम हई॥
तन घनश्याम सेइ निसिवासर रटि रसना छिजई॥
'सूर' विवेकहीन चातक मुख बूँदौ तो न सई॥

४३—राग सोरठ

ऊधो ब्रज की दसा विचारो।
ता पीछे, हे सिद्ध! आपनी जोग कथा बिसतारो॥
जेहि कारन पठये नदनंदन सो सोचहु मन माहीं।
केतक बीच बिरह परमारथ, जानत हौ किधौं नाहीं॥
तुम निज दास जो सखा स्याम के सन्तत निकट रहत हौ।
जल बूड़त अवलम्ब फेन को फिरि फिरि कहा गहत हौ॥
वह अति ललित मनोहर आनन कैसे मनहिं बिसारौं।
जोग जुगुति औ मुकुति बिबिध बिधि वा मरली पर वारौं॥
जेहि उर बसे स्यामसुन्दर घन क्यों निरगुन करि आवै।
'सूरस्याम' सो भजन बहावै जाहि दूसरी भावै॥

---

(४२) गहरु कियो—देर लगाई। सम्पुट तजि—प्रफुल्लित होकर। करखें ते न नई—आकर्षण की अवहेलना न की (प्रफुल्लित होकर प्रेम किया। हेम हई—पाले से मार दी। घनस्याम—बादल, कृष्ण। छिजई—खिया डाली। सई—(सरी) गई, पड़ी, (४३) निजु—निश्चय। सो भजन बहावै जाहि दूसरो भावै—वह तो भजन को नष्ट करता है जो अनन्य भक्त नहीं है। बहावै—नष्ट करता है।

४४—राग सारंग

ऊधो यह हित लागे का है ?
निसि दिन नयन तपत दरसन को तुम जो कहत हिय माहैं ॥
नींद न परति चहूँ दिसि चितवति, बिरह अनल के दाहैं ।
उर तें निकसि करत क्यों न सीतल जो पै कान्ह यहाँ हैं ॥
पालागों ऐसे हि रहन दे अवधि आस जल थाहै ।
जनि बोरहि निरगुन समुद्र में, फिरि न पायहो चाहै ॥
जाको मन जाहीं तें राच्यो तासों बनै निबाहैं ।
'सूर' कहा लै करै पपीहा ये ते सर सरिता हैं ॥

४५—राग सारंग

ऊधो व्रज में पैंठ करी ।
यह निरगुन निर्मूल गाँठरी अब किन करहु खरी ॥
नफा जानि कै ह्याँ लै आए सबै वस्तु अँकरी ।
यह सौदा तुम ह्वाँ लै बेंचो जहाँ बड़ी नगरी ॥
हम ग्वालिन, गोरस दधि बेंचौ लेहिं अबै सबरी ।
'सूर' यहाँ कोउ गाहक नाहीं देखियत गरे परी ॥

४६—राग सारंग

गुप्त मते की बात कहो जनि कहुँ काहू के आगे ।
कै हम जानैं कै तुम ऊधो इतनी पावें माँगे ॥
नेक बेर खेलत वृन्दावन कंटक चुभि गयो पाँय ।
कंटक सों कंटक लै काढ्यो अपने हाथ सुभाय ॥

---

(४४) यह हित लागे का है—इस प्रेम से क्या लाभ । माहैं—(मध्ये) बीच में । दाह—जलन । अवधि......थाहै—अवधि की आशा रूपी उथले जल में । चाहै—ढूँढने पर भी । (४५) पैंठ—बाज़ार, व्यापार । खरी किन करहु—बेंच कर दाम क्यों नहीं खरे करते । अँकरी—बहुमूल्य । सबरी—सब । गरे परी—जबरई का सौदा लेना ही पड़ेगा ।

एक दिवस विहरत वन भीतर मैं जो सुनाई भूख।
पाके फल वे देखि मनोहर चढ़े कृपा करि रूख॥
ऐसी प्रीति हमारी उनकी बसते गोकुल वास।
'सूरदास' प्रभु सब बिसराई मधुवन कियो निवास॥

४७—राग बिलावल

ऊधो तुम अति चतुर सुजान।
जे पहिले रँग रँगी स्याम रँग तिन्ह न चढ़ै रंग आन॥
दुइ लोचन जो बिरद किये श्रुति गावत एक समान।
भेद चकोर कियो ताहू में बिधु प्रीतम रिपु भान॥
बिरहिनि बिरह भजै पा लागों तुम हौ पूरन ज्ञान।
दादुर जल बिनु जियै पवन भखि, मीन तजै हठि प्रान॥
बारिज बदन, नयन मेरे। षटपद कब करिहैं मधुपान।
'सूरदास' गोपीन-प्रतिज्ञा छुवत न जोग बिरान॥

४८—राग सारंग

ऊधो हम अजान मति भोरी।
जानति हैं ते जोग की बातें नागरि नवल किसोरी॥
कंचन को मृग कौने देख्यो, कौने बांध्यो डोरी।
बहुधौं मधुप! बारि मथि माखन कौने भरी कमोरी॥
बिनहि भीत चित्र किन काढ़्यो किन नभ बाँध्यो झोरी।
कहो कौन पै कढ़त कनूकी जिन हठि भुसी पछोरी॥
यह व्यौहार तिहारो बलि बलि हम अबला मति थोरी।
निरखहिं 'सूर' स्याम मुखचंदहिं अँखियाँ लगनि चकोरी॥

---

(४७) दुई लोचन—ईश्वर के दो नेत्र। बिधु—चन्द्रमा। भान—सूर्य।
(४८) कमोरी—मटकी। कनूकी—कनकी, चावल के टूटे दाने।

४६—राग जैतश्री

ऊधो जो तुम हमहिं सुनायो।
सो हम निपट कठिनई हठिकै या मन को समुझायो॥
जुगुति जतन बहु हमहुँ ताहि गहि सुपथ पंथ लौं लायो।
भटकि फिर्यो बोहित के खग ज्यों पुनि फिरि हरि पै आयो॥
हमको सबै अहित लागति है तुम अति हितहिं बतायो।
सर सरिता जल होम किये ते, कहा अगिनि सचु पायो॥
अब वैसो उपाय उपदेसो जिहि जिय जात जियायो।
एक बार जो मिलहिं 'सूर' प्रभु कीजै अपनो भायो॥

५०—राग रामकली

ऊधो जाहु तुम्हें हम जाने।
स्याम तुम्हें ह्याँ नाहिं पठाये तुम हौ बीच भुलाने॥
ब्रजबासिन सों जोग कहत हौ बातहु कहत न जाने।
बड़ लागै न विवेक तुम्हारो ऐसे नये अयाने॥
हमसों कही लई सो सहि कै जिय गुनि लेहु अपाने।
कहँ अबला कहँ दसा दिगम्बर सँमुख करो पहिचाने॥
साँच कहो तुमको अपनी सौं बूझति बात निदाने।
'सूर' स्याम जब तुम्हें पठाये तब नेकहु मुसुकाने॥

५१—राग धनाश्री

ऊधो मन नहिं हाथ हमारे।
रथ चढ़ाय हरि संग गये लै मथुरा जबै सिधारे॥
नातरु कहा जोग हम छाड़हिं अति रुचि कै तुम ल्याए।
हम तो झँखति स्याम की करनी मन लै जोग पठाए॥

---

(४९) ताहि—मन का। सचु—सुख, संतोष। (५०) अपाने—अपने। निदाने—अंत की (बात) (५१) झंखति—झींखती हैं, कुढ़ती हैं।

अजहूँ मन अपनो हम पावैं तुमते होय तो होय।
'सूर' सपथ हमैं कोरि तिहारी कहो करैंगी सोय॥

५२—राग रामकली

ऊधो कहा कथत विपरीति।
जुवतिन जोग सिखावन आये यह तौ उलटी रीति॥
जोतत धेनु दुहत पय वृष को करन लगे जो अनीति।
चक्रवाक ससि को क्यों जानै? रबि चकोर कहँ प्रीति॥
पाहन तरै, काठ जो बूड़ै, तो हम मानैं नीति।
'सूर' स्याम प्रति अंग माधुरी रही गोपिका जीति॥

५३—राग रामकली

ऊधो जुवतिन ओर निहारो।
तब यह जोग मोट हम आगे हिये समुझि बिसतारो॥
जे कच स्याम आपने कर करि नितहिं सुगन्ध रचाये।
तिनको तुम जो विभूति घोरिकै जटा लगावन आये॥
जेहि मुख मृगमद मलयज उबटति छन छन धोवति माँजत।
तेहि मुख कहत खेह लपटावन सो कैसे हमैं छाजत॥
लोचन आँजि स्याम ससि दरसति तबहीं ये तृप्तात।
'सूर' तिन्हैं तुम रबि दरसावत वह सुनि सुनि करुवात॥

५४—राग सारंग

मधुकर हम न होहिं वे बेली।
जिनको तुम तजि भजत प्रीति बिनु करत कुसुम रस केली॥
बारे ते बलबीर बढ़ाई पोसी प्यायी पानी।
बिन पिय परस प्रात उठि फूलत होत सदा हित हानी॥

(५२) पय—दूध। वृष—बैल। (५३) खेह—राख। छाजति—शोभा देती है। तृप्तात—तृप्त होते हैं। करुवात—दुखी होते हैं। (५४) बलबीर—कृष्ण।

ये वल्ली बिहरत वृन्दावन अरुझीं स्याम तमालहिं ।
प्रेम पुष्प रस बास हमारे बिलसत मधुर गोपालहिं ॥
जोग समीर धीर नहि डोलत रूप डार ढिग लागीं ।
'सूर' पराग न तजत हिये तें कमल नयन अनुरागीं ॥

५५—राग मलार

मधुकर तुम हौ स्याम सखाई ।
पालागों यह दोष बकसियो सम्मुख करत ढिठाई ॥
कौनें रंक सम्पदा बिलसी सोवत सपने पाई ।
किन सोने की उड़त चिरैया डोरी बाँधि खिलाई ?
धाम धुआँ के कहाँ कौन के बैठो कहाँ अथाई ।
किन अकास तें तोरि तरैयाँ आनि धरि घर माई ॥
ओरन की माला गुहि कौने अपने करन बनाई ?
बिन जल चलत नाव किन देखी उतरि पार को जाई ॥
कौन कमलनैनी पति छोड़े जाय समाधि लगाई ।
'सूरदास' तू फिरि फिरि गावत यामें कौन बड़ाई ॥

५६—राग धनाश्री

मधुकर मन तो एकै आहि ।
सो तो लै हरि संग सिधारे जोग सिखावत काहि ॥
रे सठ, कुटिल बचन, रस लम्पट अबलन तन धौं चाहि ।
अब काहे को देत लौन हौ बिरह अनल तन दाहि ॥
परमारथ उपचार करत हौ बिरह व्यथा नहि जाहि ।
जाको राजदोष कफ व्यापै दही खवावत ताहि ॥
सुंदर स्याम सलोनी मूरति पूरि रही हिय माँहि ।
'सूर' ताहि तजि निर्गुन सिंधुहि कौन सकै अवगाहि ॥

बल्ली—बेलियाँ । अरुझीं—लिपटीं । (५५) अथाई—मजलिस । ओरा—ओला, बिनौरी । (५६) धौं—तो ।

५७—राग सारंग

तिहारी प्रीति किधौं तरवारि।
दृष्टि धार करि मारि साँवरे घायल सब ब्रजनारि॥
रही सुखेत ठौर वृन्दाबन रनहु न मानति हारि।
बिलपति रही सँभारत छन छन बदन सुधा-कर-वारि॥
सुन्दर स्याम मनोहर मूरति कहिहौं छबिहि निहारि।
रंचक सेष रही 'सूरज' प्रभु अब जनि डारो मारि॥

५८—राग मलार

मधुकर ये मन बिगरि परे।
समुझत नाहि ज्ञान गीता को हरि मुसुकानि अरे॥
बालमुकुन्द रूप रस राचे ताते बक्र खरे।
होय न सुधी स्वान पूँछि ज्यों कोटिक जतन करे॥
हरिपद नलिन बिसारत नाहीं सीतलता सँचरे।
योग गभीर है अन्ध कूप तेहि देखत दूर डरे॥
हरि अनुराग सुहाग भाग भरे अमिय तें गरल गरे।
'सूरदास' बरु ऐसेहिं रहिहैं कान्ह बियोग भरे॥

५९—राग सोरठ

मधुकर कौन गाँव की रीति।
ब्रजजुवतिन को जोग कथा तुम कहत सबै बिपरीति॥
जासिर फूल फुलेल मेलि कै हरि कर ग्रन्थैं मारी।
ता सिर भस्म मसान को सेवन, जटा करन आधारी॥

---

(५८) अरे—अड़े हैं। राँचे—अनुरक्त हैं। ताते बक्र खरे—इसो से बहुत टेढ़े हो गये हैं। अमिय तें गरल गरे—अमृत छोड़ कर विष में गलें। (५९) फुलेल—सुगंधित तैल। ग्रन्थैं मारी—गाँठें लगाईं। करन आधारी—हाथों में अधारी लेना।

रतन जटित ताटंक बिराजत अरु कमलन की जोति।
तिन स्रवनन पहिरावत मुद्रा तोहिं दया नहिं होति॥
बेसरि नाक, कंठ मनि माला, मुख घनसार अवास।
तिन मुख सिंगी कह्यौ बजावन भोजन आक पलास॥
जा तन को मृगमद घिसि चन्दन सूछम पट पहिराए।
ता तन को मृग अजिन पुरातन दै ब्रजनाथ पठाए॥
वे अबिनासी ज्ञान घटैगो यहि बिधि जोग सिखाए।
करैं भोग भरपूर 'सूर' तहुँ जोग करन ब्रज आए॥

६०—राग सोरठ

स्याम बिनोदी रे मधुबनियाँ।
अब हरि गोकुल काहे को आवहिं चाहत नव जोबनियाँ॥
वे दिन माधव भलि बिसरि गए गोद खिलाये कनियाँ।
गुहि गुहि देते नन्द जसोदा, तनक काँच की मनियाँ॥
दिना चारि तें पहिरन सीखे पट पीताम्बर तनियाँ।
'सूरदास' प्रभु तजी कामरी अब हरि भए चिकनियाँ॥

६१—राग सोरठ

अब या तनहिं राखि का कीजै।
सुनु री सखी! स्यामसुन्दर बिन बाँटि बिषम बिष पीजै॥
कै गिरिए गिरि चढ़िकै सजनी, स्वकर सीस सिव दीजै।
कै दहिये दारुन दावानल जाय जमुन धँसि लीजै॥
दुसह बियोग बिरह माधव के कौन दिनहिं दिन छीजै।
'सूरदास' प्रीतम बिन राधे सोचि सोचि मन खीजै॥

---

(६०) बिनोदी—मज़ाकी। तनियाँ—कुर्ता। चिकनियाँ—शौक़ीन, शरीर को चिकनानेवाले वा चिकन के कपड़े पहनने वाले। (६१) बाँटि—पीसकर। छीजै—कृश हो।

६२—राग केदारो

कहो तो सुख आपनो सुनाऊँ।
ब्रज जुवतिन कहि कथा जोग की क्यों न इतो दुख पाऊँ॥
हौं यक बात कहत निरगुन की वाही में अटकाऊँ।
वे उमड़ी वारिधि तरंग ज्यों जाकी थाह न पाऊँ॥
कौन कौन को उत्तर दीजै ताते भज्यों अगाऊँ।
वे मेरे सिर पाटी पारहिं कंथा काहि ओढ़ाऊँ॥
एक आँधरो हिय की फूटी दौरै पहिरि खराऊँ।
'सूर' सकल ब्रज षटदरसी, हौं बारहखरी पढ़ाऊँ॥

६३—राग केदारो

तबते इन सबहिन सचु पायो।
जबते हरि सन्देस तिहारो सुनत तवाँरो आयो॥
फूले ब्याल दुरे ते प्रगटे पवन पेट भरि खायो।
फूले मिरगा चौंकि चखन ते हुते जो बन बिसरायो॥
ऊँचे बैठि बिहंग सभा बिच कोकिल मंगल गायो।
निकसि कन्दरा ते केहरि हू माथे पूँछ हिलायो॥
गहवर तें गजराज निकसि कै अँग अँग गर्व जनायो।
'सूर' बहुरिहौ कह राधा, कै करिहौ वैरिन भायो॥

६४—राग धनाश्री

ऊधो मोहिं ब्रज बिसरत नाहीं।
हंससुता की सुन्दरि कगरी अरु कुंजन की छाहीं

---

(६२) भज्यों—भागा। अगाऊँ—पहले ही। षटदरसी—छहो शास्त्रों के ज्ञाता। बारहखरी—ककहरा। (६३) सचु—सुख, संतोष। तवाँरो—तँवार, मूर्छा। (नोट) इस पद में रूपकातिशयोक्ति अलंकार व्यंग्य है।
(६४) हंससुता—सूर्यकन्या (यमुना)। कगरी—किनारा।

वे सुरभी, वे बच्छ, दोहनी, खरिक दुहावन जाहीं।
ग्वाल बाल सब करत कोलाहल नाचत गहि गहि बाहीं॥
यह मथुरा कंचन की नगरी मनि मुकताहल जाहीं।
जबहिं सुरति आवत वा सुख की जिय उमगत तनु नाहीं॥
अनगन भाँति करी बहु लीला जसुदानन्द निबाहीं।
'सूरदास' प्रभु रहे मौन ह्वै, यह कहि कहि पछिताहीं॥

६५—राग नट

सुनि गोपी हरि को संदेस।
करि समाधि अन्तरगत चितवो प्रभु को यह उपदेस॥
वे अबिगत, अबिनासी, पूरन, घट घट रहे समाय।
तिहि निहचय कै ध्यावहु ऐसे सुचित कमल मन लाय॥
यह उपाय करि बिरह तजोगी मिलै ब्रह्म तब आय।
तत्वज्ञान बिन मुक्ति न होई निगम सुनावत गाय॥
सुनत सँदेस दुसह माधव के गोपीजन बिलखानी।
'सूर' बिरह की कौन चलावे नयन ढरत अति पानी॥

६६—राग सारंग

ताहि भजहु किन सबै सयानी।
खोजत जाहि महामुनि ज्ञानी॥
जाके रूप रेख कछु नाहीं।
नयन मूँदि चितवहु चित माहीं॥
हृदय कमल में जोति बिराजै।
अनहद नाद निरंतर बाजै॥
इड़ा पिंगला सुखमन नारी।
सून्य महल में बसैं मुरारी॥

मात पिता नहिं दारा भाई।
जल थल घट घट रहे समाई॥
यहि प्रकार भव दुस्तर तरिहौ।
जोग पंथ क्रम क्रम अनुसरिहौ॥
वह अच्युत अविगत अविनासी।
त्रिगुन रहित वपु धरे न दासी॥
हे गोपी! सुनु बात हमारी।
है वह सून्य सुनहु ब्रजनारी॥
नहिं दासी ठकुराइन कोई।
जहँ देखहु तहँ ब्रह्महि सोई॥
आपुहिं औरहिं ब्रह्महिं जानै।
ब्रह्म बिना दूसर नहि मानै॥
बार बार ये बचन निवारो।
भगति विरोधी ज्ञान तुम्हारो॥
होत कहा उपदेसे तेरे।
नयन सुबस नाहीं अलि मेरे॥
हरिपथ जोवत निमिष न लागे।
कृस्न वियोगी निसि दिन जागे॥
नँदनदन के देखे जीवैं।
रुचि वह रूप, पवन नहिं पीवैं॥
जब हरि आवैं तब सुख पावैं।
मोहन मूरति निरखि सिरावैं॥
दुसह बचन अलि! हमहिं न भावैं।
जोग कथा ओढ़ैं कि दसावैं।

---

(६६) ओढ़ैं कि दसावैं—क्या करें, किस काम में लावैं। (लोकोक्ति)।

६७—राग मलार

ऊधो यहि ब्रज बिरह बढ़्यो।
घर, बाहिर, सरिता, बन, उपबन, बल्ली, द्रुमन चढ़्यो॥
बासर रैन सधूम भयानक दिसि दिसि तिमिर मढ़्यो।
द्वन्द करत अति प्रबल होत पुर पय सो अनल डढ़्यो॥
जरि किन होत भसम छन महियाँ हा हरि मंत्र पढ़्यो।
'सूरदास' प्रभु नँदनंदन बिनु नाहिन जात कढ़्यो॥

६८—राग केदारो

ऊधो ब्रज रिपु बहुरि जिये।
जो हमरे कारन नँदनन्दन हति हति दूरि किये।
निसि कै वेष बकी सी आवति अति डर करति सकम्प हिये॥
तिहि पै तें तन प्रान हमारे रवि ही छिनक छिनाय लिये।
बनि वृकरूप अघासुर सम गृह कितहूँ तौ न बितै सकिए॥
कोटिक काली सम कालिन्दी, दोषन सलिल न जायँ पिये।
अरु ऊँचे उच्छ्वास तृनाव्रत तिहि सुख सकल उड़ाय दिए॥
केसी सकल करम केसव बिन 'सूर' सरन काकी तकिए॥

६९—राग सारंग

ऊधो भली करी गोपाल।
आपुन तौ आवत नाहीं ह्याँ वहाँ रहे यहि काल॥
चन्दन चन्द हुतो तब सीतल कोकिल शब्द रसाल।
अब समीर पावक सम लागत सब ब्रज उलटी चाल॥
हार, चीर, कंचुकि कंटक भए तरनि तिलक भए भाल।
सेज सिन्धु, गृह तिमिर कन्दरा, सर्प सुमन मनि माल॥

---

(६७) पय सो अनल डढ्यो—आग से गरमाए हुए दूध की तरह। नाहिन जात कढ्यो—घर से बाहर निकलने को जी नहीं चाहता।

हम तो न्याय सहैं एतो दुख बनवासी जो गुवाल ।
'सूरदास' स्वामी सुख सागर भोगी भ्रमर भुआल ॥

७०—राग सोरठा

ऊधो यह हरि कहा कर्‌यो ।
राजकाज चित दयो साँवरे गोकुल क्यों बिसर्‌यो ?
जौ लों घोस रहे तौ लों हम सन्तत सेवा कीनी ।
बारक कबहुँ उलूखल बाँधे सोई मानि जिय लीनी ॥
जो तुम कोटि करो ब्रजनायक बहुतै राज कुमारि ।
तौ ये नन्द पिता कहँ मिलिहैं अरु जसुमति महतारि ॥
कहँ गोधन कहँ गोप वृन्द सब कहँ गोरस को खैबो ।
'सूरदास' अब सोई करो जिहि होय कान्ह को ऐबो ॥

७१—राग आसावरी

ऊधो ऐसो काम न कीजै ।
एक रंग कारे तुम दोऊ धोय सेत क्यों कीजै ?
फेरि फेरि कै दुख अवगाहैं हम सब करी अचेत ।
कत पटपर गोता मारत हौ लिये मूड़ के खेत ॥
तरपर कोटि कीट कुल जनमे कहा भलाई आने ?
फोरति बाँस गाँठि दाँतन सों बार बार ललचाने ॥
छाँड़ि कमल सों हेतु आपनों लू कत अनतहिं जाय ?
लंपट ढीठ बहुत अपराधी कैसे मन पतियाय ?
यहै जु बात कहति हो तुमसों फिरि मति कबहूँ आवहु ।
एक बार समझावहु 'सूरज' अपना ज्ञान सिखावहु ॥

---

(६६) न्याय—उचित ही है। (७०) महतारि—माता। ऐबो—आन
(७१)। पटपर—ऊसर। मूड़—बालू। तरपर—लगातार, एक के बाद दूसर।

७२—राग सारंग

ऊधो यहै विचार गहो ।
कै तन गये भलो मानैं कै हरि ब्रज आय रहौ ॥
कानन देह, विरहदव लागा इन्द्रिय जीव जरौ ।
बुझै स्याम घन प्रेम कमल मुख मुरली बूँद परौ ॥
चरन-सरोवर मनस मीन ह्वै रहै एक रस-रीति ।
तुम निरगुन बारू महँ डारौ, 'सूर' कौन यह नीति ?

७३—राग धनाश्री

ऊधो मन नाहीं दस बीस ।
एक हुतो सो गयो स्याम सँग को आराधे ईस ?
भईं अति सिथिल सबैं माधव बिनु यथा देह बिनु सीस ।
स्वासा अटिक रहे आसा लगि जीवहिं कोटि बरीस ॥
तुम तौ सखा स्याम सुन्दर के सकल जोग के ईस ।
, सूरजदास ' रसिक की बतियाँ पुरवौ मन जगदीश ॥

७४—राग धनाश्री

ऊधो जाय बहुरि सुनि आवहु कहा कह्यो है नन्दकुमार ।
यह होय उपदेस स्याम को कहत लगावन छार ॥
निर्गुन ज्योति कहाँ उन पाई सिखवत बारंबार ।
काल्हिहि करत हुते हमरे अँग अपने हाथ सिंगार ॥
व्याकुल भईं गोपालहिं बिछुरे गयो गुन ज्ञान सँभार ।
ताते ज्यों भावै त्यों बकत हौ नाहीं दोष तुम्हार ॥
बिरह सहन को हम सिरजी हैं, पाहन हृदय हमार ।
'सूरदास ' अन्तरगत मोहन जीवन प्रान अधार ॥

७५—राग बिलावल

ऊधो ! कह मत दीन्हों हमहिं गोपाल ।
आवहु री सखि ! सब मिलि सीचैं ज्यों पावैं नँदलाल ॥

घर बाहर ते बोलि लेहु सब जाव एक ब्रजबाल ।
कमलासन बैठहु री माई ! मूँदहु नयन बिसाल ॥
पटपद कही सोऊ करि देखी हाथ कछू नहिं आई ।
सुन्दर स्याम कमल-दल-लोचन नेकु न देत दिखाई ॥
फिरि भईं मगन बिरह सागर में काहुहि सुधि न रही ।
पूरन प्रेम देखि गोपिन को मधुकर मौन गही ॥
'कहु' धुनि सुनि स्रवननि चातक की प्रान पलटि तन आये ।
'सूर' सु अबकै टेरि पपीहै बिरहिन मृतक जिवाये ॥

७६—राग कल्यारा

ऊधो भली करी अब आए ।
विधि कुलाल कीने काँचे घट ते तुम आनि पकाए ॥
रंग दियो हो कान्ह साँवरो अँग अंग चित्र बनाये ।
गलन न पाए नयन नीर तें अवधि अटा जो छाए ॥
ब्रज करि अवाँ जोग करि ईंधन सुरति अगिन सुलगाए ।
सोक उस्वाँस बिरह तन प्रजुलित दरसन आस फिराये ॥
भए सँपूरन भरे प्रेमजल छुवन न काहू पाए ।
राज काज ते गए 'सूर' सुनि नँदनंदन करि लाए ॥

७७—राग मारू

ऊधो कहु मधुबन की रीति ।
राजा है ब्रजनाथ तिहारे कहा चलावत नीति ॥
निसि लौं करत दाह दिन कर ज्यों हुतो सदा ससि सीत ।
पुरवा पवन कह्यो नहिं मानत गए सहज बपु जीत ॥
कुबजा काज कंस को मार्‌यो भई निरंतर प्रीति ।
'सूर' विरह ब्रज भलो न लागत जहाँ ब्याहु तहँ गीत ॥

---

(७७) निरंतर—अंतर रहित, गाढ़ी ।

७८—राग सारंग

ऊधो अब नहिं स्याम हमारे।
मधुवन बसत बदलि से गे वे, माधव मधुप तिहारे।
इतनिहि दूरी भए कछु औरे जोहि जोहि मगु हारे।
कपटी कुटिल काक कोकिल ज्यों अंत भए उड़ी न्यारे॥
रस लै भँवर जाय स्वारथ हित प्रीतम चितहि बिसारे।
'सूरदास' उनसों का कहिये जे तनहूँ मन कारे॥

७९—राग आसावरी

ऊधो तुमहुँ सुनो इक बात।
तुम करत सिखावन सो हमैं नाहि नेकु सुहात॥
ससि दरसन बिनु मलिन कुमोदिनि ज्यों रवि बिनु जलजात।
त्यों हम कमलनयन बिनु देखे तलफि तलफि मुरझात॥
घँसि चन्दन घनसार सजे तन ते क्यों भसम भरात।
रहे स्रवन मुरली सुर सों रत सिंगी सुनत डरात॥
अबलनि आनि जोग उपदेसत नाहिंन नेकु लजात।
जिन पायो हरि परस सुधारस ते कैसे कटु खात॥
अवधि आस गनि गनि जीवती हैं अब नहिं प्रान खटात।
'सूर' स्याम हमें निपट बिसारी ज्यों तरु जीरन पात॥

८०—राग धनाश्री

को गोपाल कहाँ को बासी कासों है पहिचानि?
तुम सों सँदेसो कौन पठाए कहत कौन सों आनि?
अपनी चाँड़ आनि उड़ि बैठ्यो भँवर भलो रस जानि।
कै वह बेली बढ़ौ, कै सूखौ तिनकी कह हित हानि॥

---

(७९) खटात—रह सकते हैं। जीरन पात—पके पत्ते। (८०) चाँड़—लालसा, इच्छा।

प्रथम बेनु बन हरत हरिन मन राग रागिनी ठानि।
जैसे बधिक बिसासि बिबस करि बधत बिषम सर तानि॥
पय प्यावत पूतना हनी, छुपि बालि हन्यो, बलि दानि।
सूपनखा ताड़का निपाती 'सूर' स्याम यह बानि॥

८१—राग सारंग

मधुकर सखा प्रवीन सयाने।
जानत तीन लोक की बातैं अबलन काज अजाने॥
जे कच कनक कचोरि भरि भरि मेलत तेल फुलेल।
तिन केसन को भसम बतावत, टेसू कैसो खेल॥
जिन केसन कबरी गहि सुन्दर अपने हाथ बनाई।
तिनको जटा धरन को ऊधो कैसे कै कहि आई?
जिन स्रवनन ताटंक खुभी अरु करनफूल खुटिलाऊ।
तीन स्रवनन कसमीरी मुद्रा लटकन चीर झलाऊ॥
भाल तिलक, काजर चख, नासा नकबेसरि नथफूली।
ते सब तजि हमरे मेलन को उज्वल भसमी खूली॥
कंठ सुमाल हार मनि मुकता हीरा रतन अपार।
ताहि कंठ बाँधिबे के हित सिंगी जोग सिंगार॥
जिहि मुख गीत सुभासित गावत करत परसपर हाँस।
ता मुख मौन गहैं क्यों जीवैं घुटैं ऊरध स्वाँस॥
कंचुकि छोरि उबटि घसि चन्दन सारी सारस चंद।
अब कंथा एकै अति गूदर क्यों पहिरैं मतिमंद॥
ऊधो, उठो सबै पालागे देखो ज्ञान तुम्हारो॥
'सूरदास' मुख बहुरि देखिहैं जीवै कान्ह हमारो॥

बिसासि—विश्वास दिलाकर। (८१) कनक कचोरी—सोने की कटोरी टेसू के खेल—स्वाँग।

८२—राग बिलावल

मधुकर यह कारे की रीति।
मन दै हरत परायो सर्वसु करै कपट की प्रीति॥
ज्यौ षटपद अंबुज के दल में बसत निसा रति मानि।
दिनकर उये अनत उड़ि बैठत फिर न करत पहिचानि॥
भवन भुजंग परारे पाल्यो ज्यों जननी जनि तात।
कुल करतूति जाति नहिं कबहूँ सहज सो डसि भजि जात॥
कोकि काग कुरंग स्याम की छन छन सुरति करावत।
'सूरदास' प्रभु को मुख लखिबो निसि दिन ही मुहिं भावत॥

८३—राग सारंग

लखियत कालिंदी अति कारी।
कहियो पथिक जाय हरि सों ज्यों भई बिरह-जुर-जारी॥
मनु पलिका पै परि धरनि धँसि तरँग तलफ तनु भारी।
तट बारू उपचार चूर मनो स्वेद प्रवाह पनारी॥
बिगलित कच कुस कास पुलिन मनो पंकज कज्जल सारी।
भ्रमर मनो मति भ्रमति चहूँ दिसि फिरती है अंग दुखारी॥
निसि दिन चकई ब्याज बकत मुख किन-मानस अनुहारी।
'सूरदास' प्रभु जो जमुना गति सो गति भई हमारी॥

८४—राग नट

तुम्हारे बिरह, ब्रजनाथ अहो प्रिय! नयनन नदी बढ़ी॥
लीने जात निमेष कूल दोउ एते मान चढ़ी॥

---

(८२) परारे—पराये, अन्य का। तात—पुत्र, सँपेला। (८३) जुर—(ज्वर) बोखार। पलिका—पलंग। चूर—चूर्ण। पनारी—सोती। पंकज—(यहाँ पर) नीले कमल। ब्याज—बहाने। किन-मानस—किन्नर। (८४) लीने—लगी। एतेमान—इतनी।

गोलक नव नौका न सकत चलि स्यों सरकनि बढ़ि बोरति ।
ऊरध स्वाँस समीर, तरंगा तेज तिलक तरु तोरति ॥
कज्जल कीच कुचील किये तट अन्तर अधर कपोल ।
रहे पथिक जो जहाँ सो तहाँ थकि हस्त चरण मुख बोल ॥
नाहिंन और उपाय रमा पति बिन दरसन छन जीजै ।
अस्रु सलिल बूड़त सब गोकुल 'सूर' सुकर गहि लीजै ॥

८५—राग मलार

जाहि री सखी ? सीख सुनि मेरी ।
जहँ अबहीं नँदलाल बसत हैं बारक तहाँ आउ दै फेरी ॥
तू कोकिला कुलीन स्याम तन जानति बिथा बिरहिनी केरी ।
उपवन बैठि बोलि मृदुबानी वचन बिसाहि मोरी करु चेरी ॥
प्रानन के पलटे पाइय असि सेंति बिसाह सुजस की ढेरी ।
नाहिंन और कोऊ उपकारी सब विधि सारी बसुधा हेरी ॥
कहियो प्रगट पुकार द्वार ह्वै अबलनि आहि अनँग अरि घेरी ।
व्रज लै आउ 'सूर' के प्रभु को गावहिं कोकिल कीरति तेरी ॥

८६—राग मलार

कोउ माई ! बरजै चन्दहि ।
करत है कोप बहुत हम ऊपर कुमुदिनि करत अनंदहि ॥
कहाँ कुहू, कहँ रवि अरु तमचुर, कहाँ बालहक कारे ।
चलत न चपल, रहत रथ थकि करि बिरहिनि के तन जारे ॥

गोलक—गटा । स्यो—सहित । सरकनि—मस्तूल, पाल । तिलक—चंदन के चिन्ह जो वैष्णव लोग शरीर पर बनाते हैं । तट अंतर—किनारे से दूर के स्थान । (८५) पलटे—बदले में । सेंति—बिना मोल का । लै आउ—ले आओ । (८६) कुहू—अमावस । बालहक—बादल ।

निंदति सैल उदधि पन्नग को सापति कमठ कठोरहिं।
देति असीस जरा देवी को राहु केतु कर जोरहिं॥
ज्यों जलहीन मीन-तन तलफत त्योंहि तपत ब्रजबालहिं।
'सूरदास' प्रभु वेगि मिलावहु मोहन मदन गोपालहिं॥

८७—राग केदारो

जो पै कोई मधुबन लै जाय।
पतिया लिखी स्याम सुन्दर को कर कंकन देऊँ ताय॥
अब वह प्रीति कहाँ गई माधव! मिलते वेनु बजाय।
नयन-नीर सब सेज्या भीजै दु:ख सों रैन बिहाय॥
सून भवन मोहिं खरो डरावै यह ऋतु मन न सुहाय॥
'सूरदास' यह समौ गए तैं पुनि कह लैहैं आय॥

८८—राग केदारो

आजु घनस्याम को अनुहारि।
उनै आए साँवरे सखि लेहि रूप निहारि॥
इंद्रधनुष मनो पीत वसन छवि दामिनि दसन विचारि।
जनु बगपाँति माल मोतिनी को चितवत चित लें हारि॥
गरजत गगन गिरा गोबिन्द की सुनत नयन भरे वारि।
'सूरदास' गुन सुमिरि स्याम के बिकल भई ब्रजनारि॥

८९—राग सारंग

यहि डर बहुरि न गोकुल आए।
सुन री सखी! हमारी करनी समुझि मधुपुरी छाए॥

निंदति शैल......कठोरहि—मंदराचल, समुद्र, शेष और कच्छप की निंदा करती है जिन्होंने मथ कर चन्द्रमा को निकाला। जरा देवी—चन्द्रमा को क्षय करती है। राहु केतु—चन्द्रमा को निगलते हैं। (८७) ताय—उसको। (८८) अनुहारि—सूरत शकल के। उनै आये—जल भरे हुए पृथ्वी के निकट आ गये हैं।

सुनिहै कथा कौन निर्गुन की रचि पचि बात बनावत।
सगुन-सुमेरु प्रगट देखियत तुम तृन की ओट दुरावत॥
हम जानत परपंच स्याम के बातन ही बहरात।
देखी सुनी न अबलौं कबहूँ जल मथे माखन आवत॥
जोगी जोग अपार सिंधु में ढूँढ़ेहूँ नहिं पावत।
ह्यां हरि प्रगट प्रेम जसुमति के ऊखल आप बँधावत॥
चुपि करि रहौ ज्ञान ढकि राखौ, कत हौ बिरह बढ़ावत।
नंदकुमार कमल दल लोचन कहि को जाहि न भावत॥
काहे को बिपरीति बात कहि सबके प्रान गँवावत।
सोहै सो कि 'सूर' अबलनि जेहि निगम नेति कहि गावत॥

९७—राग सारंग

ऐसो माई! एक कोद को हेत।
जैसे बसन कुसुम-रंग मिलिकैं नेक चटक पुनि सेत॥
जैसे करनि किसान बापुरो नौ नौ बाहैं देत।
एतेहू पै नीर निठुर भयो उमँगि आय सब लेत॥
सब गोपी भाखैं ऊधो सों सुनियो बात सचेत।
'सूरदास' प्रभु जन ते बिछुरे ज्यों कृत राई रेत॥

९८—राग धानश्री

ऊधो मन माने की बात।
दाख छुहारा छाँड़ि अमृतफल बिष कीरा बिष खात॥
जौ चकोर को दै कपूर कोउ तजि अँगार न अघात।
मधुप करत घर कोरि काठ में बँधत कमल के पात॥

---

(९६) परपंच—छल, बहाने। (९७) कोद—तरफ। जैसे करनि—जिस कठिनाई से। बाहै—जोत (किसानों की बोली)।

ज्यों पतंग हित जानि आपनो दीपक सों लपटात ।
'सूरदास' जाको मन जासों सोई ताहि सुहात ॥

(९९)

कहत किन परदेसी की बात ।
मंदिर अरध अवधि हरि बदि गए हरि अहार चलि जात ॥
ससिरिपु बरष, भानुरिपु जुग सम, हररिपु किये फिरै घात ।
मघ-पंचम लै गए स्यामघन तातें जिय अकुलात ॥
नखत, वेद, ग्रह जोरि अरध करि को बरजै हमें खात ।
'सूरदास' प्रभु तुमहि मिलन को कर मींड़त पछितात ॥

(१००)

ऊधो तबतें अब अति नीको ।
लागत हमें स्याम सुंदर बिन तनक नहिं ब्रज फीको ॥
बायस सब्द अजा की मिलवनि कीन्हो आज अनूप ।
सब दिन राखत नीकन आगे सुन्दर स्याम सरूप ॥

---

(९९) मंदिर अरध—(पखला) पाख, पन्द्रह दिन का समय । बदि गए—कह गए । हरि अहार—(सिंह का भोजन) मास महीना । ससिरिपु—दिन । भानुरिपु—रात्रि । हररिपु—काम । मघ पंचम—मघा नक्षत्र से पाँचवाँ नक्षत्र (चीत) अर्थात् चित्त । नखत—२७ । वेद—४ । ग्रह—९, अर्थात् ४० के आधे हुए २०—बिस (बिष) । नखत...... खात—हमें बिष खाने से कौन मना कर सकता है अर्थात् बिष खाकर कृष्ण पर प्राण देंगी । (१००) इस पद में अनुज्ञालंकार का उदाहरण कहा गया है । "होय अनुज्ञा दोष में जो गुण लीजै मानि" बायससब्द —कौवे का शब्द (का) अजा—अजा शब्द (में) । मिलवनि—दोनों का जोड़ अर्थात् 'कामें' कामने) । नीकन (पर्याय से) अच्छन—आँखें, नेत्र ।

१०४—राग गौरी

कहाँ लौं कहिये ब्रज की बात ।
सुनहु स्याम तुम बिन उन लोगन जैसे दिवस बिहात ॥
गोपी ग्वाल गाय गोसुत सब मलिन बदन कृसगात ।
परम दीन जनु सिसिर हेमहत अंबुज गन बिनु पात ॥
जो कोउ आवत देखि दूर तें सब पूछति कुसलात ।
चलन न देति प्रेम आतुर उर कर चरनन लपटात ॥
पिक चातक बन बसन न पावैं वायस बलिहिं न खात ।
'सूरज' स्याम सँदेसन के डर पथिक न वा मग जात ॥

१०५—राग सोरठा

माधव जू ! मैं उत अति सचु पायो ।
अपनो जानि सँदेस ब्याज करि ब्रजजन मिलन पठायो ॥
छमा करौ तो करौं बीनती जो उन लखि हौं आयो ।
श्रीमुख ज्ञान-पंथ जो उचर्‌यौ तिन पै कछु न सोहायो ॥
सकल निगम-सिद्धान्त जनम स्रम स्यामा सहज सुनायो ।
नहिं स्रुति सेष महेष प्रजापति जो रस गोपिन गायो ॥
कटुक कथा लागी मोहि अपनी वा रस सिन्धु समायो ।
उत तुम देखे और भाँति मैं सकल तृषाहि बुझायो ॥
तुम्हारी अकथ कथा तुम जानो हम जन नाहिं बसायो ।
'सूरदास' सुन्दर पद निरखत नयनन नीर बहायो ॥

(इति)

---

(१०५) स्याम—राधिका । नाहिन बसायो—कुछ वश नहीं है ।

मुद्रक—मुंशी रमजान अली शाह, नेशनल प्रेस प्रयाग ।